सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल

(THEORETICAL ECONOMIC GEOGRAPHY)

राजस्थान विश्व विद्यालय की एम० ए०
कक्षाओं हेतु



लेखक :
हरकचन्द जैन
स्नातकोत्तर भूगोल विभाग
माणिक्यलाल वर्मा राजकीय महाविद्यालय
भीलवाड़ा (राज०)



1984



कमलेश प्रकाशन, भीलवाड़ा (राज.)

प्रथम संस्करण : , सितम्बर 1984

प्रकाशक एवं वितरक :
कमलेश प्रकाशन,
1-D-18, शास्त्री नगर, हाउसिंग बोर्ड
भीलवाड़ा-311001

मूल्य—Rs. 58-00 U. S. $ 12.00

मुद्रक—प्रिया प्रिन्टर्स, नागोरी गार्डन, भीलवाड़ा।

आमुख

पिछले कुछ वर्षों से आर्थिक भूगोल की विशिष्ट शाखाओं का विकास तीव्र गति से हुआ है। अतः आर्थिक भूगोल को अब केवल सामान्य अध्ययन का विषय मानना अपर्याप्त व सन्देहास्पद भी लगने लगा है। आज विशिष्टीकरण के कारण सामान्यीकरण की सार्थकता कम प्रतीत होने लगी है तथा उच्च स्तरीय अध्ययनों में विशिष्टीकरण अधिक आवश्यक एवं उपयोगी माना जा रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि विशिष्टीकरण की चमत्कारिता के उपरान्त भी सामान्यीकरण की उपादेयता कम नहीं हुई है। इसके विपरीत इस प्रकार के अध्ययन सर्वदा ही अधिक लाभदायक एवं वांछनीय रहेंगे। इन बातों को ध्यान में रखते हुए लेखक ने सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल की रचना की है जो समयानुकूल है।

आर्थिक गतिविधियों का संचालन सामाजिक संगठन व समाज में सत्ता के स्वरूप व वितरण को प्रभावित करता है एवं साथ ही ये गतिविधियां सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में संचालित होती हैं। प्रस्तुत अध्ययन में सरलीकृत आर्थिक-भूदृश्य के विचार के आधार पर इन्हें समझने का प्रयास किया गया है। यह विचार समाज और अर्थ-तंत्र के मध्य के जटिल सम्बन्धों से उत्पन्न आर्थिक सत्ता के प्रारूप तथा महत्व को समझने में सहायता प्रदान करता है जो वर्तमान में उप-लब्ध आर्थिक भूगोल की हिन्दी भाषा में लिखित अन्य पुस्तकों में विस्तृत एवं पूर्ण रूप से प्रस्तुत नहीं किया गया है।

आर्थिक भूगोल का सम्बन्ध अर्थ-शास्त्र व भूगोल दोनों से ही है। यह मानव के आर्थिक निर्णयों से उत्पन्न विविध आर्थिक-भूदृश्यों की स्थिति, सम्बद्धता, विकासक्रम, समस्याओं व समाधान से सम्बन्धित है। परम्परागत रूप में इस विषय के परिणाम मुख्यतः आगमनात्मक निरीक्षणों के आधार पर निर्मित किये जाते रहे हैं। पिछले तीन दशकों से ही निगमनात्मक उपागम व सिद्धान्तों पर निर्भरता बढ़ गई है जिसे अब अधिकांश भूगोल वेत्ता अपना रहे हैं। इस दृष्टि से भी आर्थिक भूगोल के सैद्धान्तिक पक्ष पर हिन्दी भाषा-भाषी पाठकों के लिये लेखक द्वारा किया गया यह प्रयास श्लाघनीय है।

प्रस्तुत अध्ययन से आर्थिक गतिविधियों को यथोचित परिप्रेक्ष्य में समझने व मानव-कल्याण हेतु व्यवस्थित करने का नया दृष्टिकोण विकसित होगा यद्यपि इसमें वर्णित विचारों से समान सहमति हो, यह आवश्यक नहीं है। इससे पुस्तक की उपयोगिता कम न होकर बढ़ने की संभावना अधिक होगी क्योंकि इससे नये विचारों को उत्प्रेरित करने का आधार मिलेगा।

प्रस्तुत प्रयास न केवल हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालय स्तरीय आर्थिक भूगोल के विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक का प्रयोजन सिद्ध करेगा अपितु उन सभी सामान्य पाठकों के लिये भी लाभप्रद होगा जिन्हें अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी समस्याओं में रूचि है।

अन्त में मैं इस पुस्तक के लेखक को उसके सामयिक एवं चिर प्रतीक्षित प्रयास पर हार्दिक बधाई देता हूं एवं सफलता की कामना करता हूं।

अमरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य

(अमरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य)
सेवा निवृत्त अध्यक्ष,
भूगोल विभाग
सुखाड़िया विश्व विद्यालय
उदयपुर (राज.)

लेखन की आवश्यकता :

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रथम बार हिन्दी को राष्ट्र भाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने का गौरव प्राप्त हुआ है लेकिन हिन्दी ग्रन्थों के कोषागार में उच्च शिक्षा की दृष्टि से वैज्ञानिक विषयों पर मानक ग्रन्थों का अभाव है। सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल (Theoretical Economic Geography) पर हिन्दी में एक भी कृति उपलब्ध न होने के कारण लेखक को हिन्दी प्रेमी पाठकों के लिये यह ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई है।

मानव की सभी प्रकार की गतिविधियों में आर्थिक गतिविधियां एवं उनकी स्थिति अधिक महत्वपूर्ण एवं व्यापक प्रभाव वाली है, जिनका अध्ययन आर्थिक भूगोल की विषय वस्तु है। आधुनिक युग में विज्ञान की सभी शाखाओं का तेजी से विकास व विशिष्टीकरण होता जा रहा है लेकिन आर्थिक-भूगोल वेत्ता अध्ययन के लिये वर्णनात्मक, प्रादेशिक या वस्तुनिष्ठ उपागम अपनाते रहे हैं इन उपागमों के आधार पर सैद्धान्तिक सामान्यीकरण पर पहुंचना कठिन था। पिछले तीन दशकों से ही सैद्धान्तिक निगमन उपागम पर अधिक जोर दिया जाने लगा है। प्रस्तुत पुस्तक का प्रयास भी, आर्थिक गतिविधियों के अध्ययन अध्यापन को सैद्धान्तिक निगमन पद्धति से हिन्दी भाषा-भाषी राज्यों में, सुविधाजनक व सरल बनाने हेतु, इसी शृंखला की एक कड़ी है।

पुस्तक में अध्ययन का मुख्य आधार तर्क संगत विवेचन प्रस्तुत करना है क्योंकि आर्थिक भूगोल एक जटिल व्यावहारिक विज्ञान है। विभिन्न समस्याओं को समझने एवं हल करने के लिये तर्क संगत नवीन आधारों का सहारा आवश्यक सा हो गया है। इस पुस्तक में भी आर्थिक भूगोल के वैज्ञानिक पक्ष को अधिक स्पष्ट करते हुए मॉडल, सांख्यिकी आधार व अन्य गणितीय विधियों का सहारा लिया गया है। जिससे विचारों को अधिक सरलता व स्पष्टता मिल सके तथा अध्येता भी नवीन ज्ञान का लाभ सहज ही उठा सके।

प्रथम अध्याय में परिभाषाओं के अतिरिक्त आर्थिक भूगोल की विभिन्न शाखाएें व अर्थ शास्त्र से अन्तर को स्पष्ट किया गया है। दूसरे अध्याय में विभिन्न उपागमों में से ऐतिहासिक आगमन उपागम व सैद्धान्तिक निगमन उपागम की विस्तृत व्याख्या की गई है जो एक दूसरे से अलग न होकर एक दूसरे के पूरक हैं इसके साथ ही आधार भूत सैद्धान्तिक भूगोल के नियमों का वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल की विभिन्न संकल्पनाओं को स्पष्ट किया गया है। चतुर्थ अध्याय में सरलीकृत आर्थिक

भू-दृश्य की कल्पना की गई है व अन्य सभी चरों (variables) को स्थिर मानकर केवल एक ही चर–दूरी–के आधार पर अर्थ व्यवस्था के स्थानीयकरण के प्रारूप को उभारा गया है। अग्रिम अध्यायों में सरलीकृत मॉडल से वास्तविक दशाओं की ओर आने के प्रयासों में क्रमश: भौतिक संसाधनो के प्रकार व उनका वितरण वैभिन्य, परिवहन व उत्पादन लागत का प्रभाव, मांग, उत्पादन का पैमाना, समूहीकरण एवं मानवीय-निर्णयों से अर्थ व्यवस्था के स्थानीयकरण पर पड़ने वाले प्रभावों को स्पष्ट किया गया है। नवम् अध्याय में आर्थिक विकास, उससे उत्पन्न समस्याएँ व उनके समाधान की विवेचना की गई है। अन्तिम अध्याय में आर्थिक विकास और पारिस्थितिक संतुलन की अलग से विवेचना की गई है जो आर्थिक विकास से उत्पन्न एक ज्वलन्त समसामयिक समस्या है साथ ही समस्या के समाधान की ओर भी प्रयास करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है।

आर्थिक गतिविधियों की लाभप्रद स्थितियों के निर्णयों की विवेचना से लेकर अन्तिम दो अध्यायों में इनकी उपयोगिता व गुणात्मकता से सम्बंधित प्रश्नों की ओर ध्यान आकर्षित करना अधिक आवश्यक हो गया है। वर्तमान में आर्थिक समस्याओं के समाधान और मानव कल्याण में लगे हुए विद्वानों के प्रयास में, सभी प्रकार की मांग पूरी न करते हुए भी, अगर इस पुस्तक का किंचित मात्र उपयोग होता है तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

पुस्तक में अन्य विद्वानों के विचारों का यथा स्थान उल्लेख किया गया है। बीच की कई कड़ियां छूटी हुई हैं इसके लिये प्रत्येक अध्याय के अन्त में सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची दी गई है। इस लेखन में मुझे अनेक लेखकों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष तथा स्थानीय महाविद्यालय के भूगोल विभाग का मार्ग दर्शन एवं सहयोग मिला है उन सभी के प्रति मै आभारी हूं। प्रो. ए. एन. भट्टाचार्य एवं अन्य गुरुजन वृन्द का जितना भी आभार प्रदर्शित करूं, वह कम है! मेरी धर्मपत्नि व बच्चों के सहयोग की भी प्रशंसा करता हूं जिन्होंने मुझे बराबर प्रेरित किया। प्रिया प्रिन्टर्स, कमलेश प्रकाशन व प्रकाशकों के सौजन्य से प्राप्त कतिपय आरेखों की स्वीकृतियों के प्रति भी आभारी हूं जिनके सहयोग से ही यह कार्य सम्पन्न हो पाया है। अध्येताओं से सभी प्रकार के सुझाव सादर आमन्त्रित हैं, जो इस पुस्तक को श्रेष्ठ कृति बनाने में सहायक सिद्ध हो।

—हरकचन्द जैन

अनुक्रमणिका

-✲-

———

आर्थिक भूगोल

[ECONOMIC GEOGRAPHY]

जब से मानव ने होश सम्भाला, उसने अपने आपको आस पास में फैली अजनवी वस्तुओं एवं अजनवी क्षेत्रों में पाया होगा इन क्षेत्रों में घटित होनेवाली घटनाओं को घटते देखा होगा व अनुभव किया होगा, जिज्ञासावश उनके बारे में सोचना प्रारम्भ किया होगा। शताब्दियों से मनुष्य ने विभिन्न घटनाओं व वस्तुओं की स्थिति एवं व्यवस्था को समझने के प्रयत्न किये हैं। उसके द्वारा किये गये प्रयत्न व अध्ययन ही व्यवस्थित रूप से भूगोल का विषय बनें। धीरे २ मानव की जिज्ञासा का स्तर ऊँचा होता गया, उसका अध्ययन का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। यह स्थानीय या क्षेत्रीय स्तर से विस्तृत होकर ब्रह्माण्ड स्तरीय होगया है। आज का मानव विश्व की विभिन्न घटनाओं में रुचि रखने लगा है अतः उसके लिए आज विश्व का सामान्य भौगोलिक ज्ञान आवश्यक होगया है।

आधुनिक युग में भूगोल विभिन्न प्रकार के स्पष्टीकरणों के विकास से सम्बन्धित है। इसके लिए उसके पास निरीक्षण, मापन, वर्गीकरण एवं विश्लेषण की प्रभावक विधियां उपलब्ध हैं। आज किसी भी स्तर पर उत्पन्न विषमताओं व समस्याओं को समझने के लिये व्यवस्थित प्रयास किये जाते हैं। भूगोल में क्षेत्रीय समस्याओं एवं विषमताओं के निराकरण और क्षेत्रीय विकास के विभिन्न प्रयत्न किये जाते है।

पृथ्वी तल पर विविध प्रकार की घटनाऐं घटती रहती है, उनका भूगोल में शुद्धता से अध्ययन करने का प्रयास किया जाता है। ये घटनायें दो प्रकार की है।

(1) प्राकृतिक रूप में सम्पादित होने वाली यथा - भूकम्प, ज्वालामुखी उद्गार, नदी, वायु, समुद्र व हिम के कार्य, सूर्यताप, ज्वारीय तरंग आदि के कार्य।

(2) मानव द्वारा प्रकृति के सहयोग से सम्पादित होने वाली घटनाऐं यथा-नगर व ग्रामों का निर्माण, फसलें उगाना, उद्योग स्थापित करना, सिंचाई के साधनों का विकास आदि।

प्रथम श्रेणी की घटनाओं का अध्ययन भौतिक भूगोल की विषयवस्तु है, जबकि, द्वितीय श्रेणी की घटनाओं का अध्ययन मानव भूगोल की। मानव के कार्यकलाप इतनी विविधता लिये हुए हैं एवं उनका स्वरूप इतना व्यापक है कि उन्हें अकेले मानव-भूगोल में सीमित करना व अध्ययन करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है अतः आज मानवीय पक्ष से सम्बन्धित पृथक 2 विज्ञान विकसित होगये हैं। आर्थिक भूगोल भी मानव भूगोल की ही एक शाखा है जिसका

उद्देश्य मानव की आर्थिक गतिविधियों से उत्पन्न भू-दृश्यों की व्याख्या करना है। यहां यह भी स्मरणीय है कि आर्थिक घटनाओं को पृथक करना काल्पनिक एवं परम्परागत है फिर भी आर्थिक गतिविधियों का अध्ययन करने व समझने के लिये ऐसा करना आवश्यक है। आर्थिक भूगोल में किसी क्षेत्र का संकीर्ण विभाजन भी किया जा सकता है जो किसी आर्थिक व्यवहार से सम्बन्धित हो सकता है यथा-कृषि, बैंकिंग, उद्योग, उपभोग या उत्पादन आदि। लेकिन भूगोल या आर्थिक भूगोल का आधारभूत उद्देश्य सदैव विभिन्न आर्थिक गतिविधियों की स्थिति को स्पष्ट करना एवं व्याख्या करना है।

मानवीय गतिविधियां क्षण प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। अत. आर्थिक गतिविधियां भी परिवर्तनशील है इसलिए आर्थिक भूगोल भी एक गतिशील विषय है। समय के सापेक्ष विभिन्न विद्वानों ने इसकी पृथक् 2 परिभाषाएँ की हैं। सर्व प्रथम आर्थिक भूगोल का उद्भव वाणिज्य-भूगोल के रूप में हुआ। सन् 1862 में एन्ड्री (Andree) की पुस्तक 'Geographies des Welthandels' प्रकाशित हुई जिसने वाणिज्य–भूगोल का श्रीगणेश किया। 1882 में जर्मन विद्वान गोट्ज (Gotz) ने आर्थिक भूगोल को वाणिज्य भूगोल से भिन्न अर्थ में व्यवहृत किया। गोट्ज के अनुसार—

"आर्थिक भूगोल में विश्व के विभिन्न भागों की उन विशेषताओं का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है जिनका वस्तुओं के उत्पादन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।"

"Economic geography makes a scientific investigation of nature of world areas in their direct influence on the production of goods."

यह परिभाषा तत्कालीन नियतिवादी विचारधारा के अनुकूल थी। उस समय मनुष्य के कार्यों को प्राकृतिक वातावरण द्वारा निर्धारित माना जाता था। इससे पूर्व वाणिज्य-भूगोल में व्यापारिक आंकडों पर ही ध्यान दिया जाता था लेकिन उक्त परिभाषा के अनुसार आर्थिक भूगोल का उद्देश्य विभिन्न भागों की विशेषताओं का अध्ययन होगया। इसी क्रम में जी जी. चिशोल्म (1889) का वाणिज्य भूगोल, एम आई. न्यूबिगिन्स[1] (1928) का वाणिज्य भूगोल व आर. ब्राउन (1930) का आर्थिक भूगोल प्रकाशित हुआ। चिशोल्म के अनुसार– "यह (आर्थिक भूगोल) उन सभी भौगोलिक दशाओं को सम्मिलित करता है जो वस्तुओं के उत्पादन परिवहन एवं विनिमय से सम्बन्धित है। इसका मुख्य उपयोग विकास के भावी स्वरूप के सम्बन्ध में उपयुक्त अनुमान निर्माण है, जहां तक कि वे भौगोलिक दशाओं से नियंत्रित होते हैं।"

"It embraces all geographical conditions affecting the production, transportation and exchange of commodities. Its chief use is to enable us to form some reasonable estimate of the future course of development so far as that is governed by geographical conditions" Chisholm, G. G. [1889] Hand book of commercial geography (1956) by stamp & Gilmor, London.

ब्राउन के विचार भी इसी बात का अनुमोदन करते हैं, जो इस प्रकार है "आर्थिक भूगोल विषय (भूगोल) का वह पहलू है जो मानव की आर्थिक क्रियाओं पर जैविक एवं अजैविक वातावरण के प्रभाव का विवेचन करता है।"

"Economic Geography is that aspect of subject which deals with the influence of the environment, inorganic and organic, on the economic activities of man"

प्रथम विश्व युद्ध तक आर्थिक भूगोल की इसी प्रकार व्याख्या की जाती रही लेकिन इसके बाद नियति वाद की आलोचना एवं संभववाद का विकास शुरू हुआ। प्राकृतिक वातावरण के साथ मानव प्रभाव की महत्ता भी स्वीकार की जाने लगी। इस दृष्टि से आर. ओ. बुकेनन[2] (1935) ने पुरातन मार्ग से हटकर व्यवस्थित आर्थिक भूगोल का सूत्रपात किया। संक्षेप मे यह स्वीकार किया जाने लगा कि भौगोलिक मूल्य ही निरपेक्ष (absolute) नहीं है, बल्कि आर्थिक वातावरण के सापेक्ष है, जिसमें कि वे स्थित है। इसी क्रम में आर्थिक भूगोल में एक सुनिश्चित अध्ययनों का क्रम उभरा। इसमें कार्टर एवं डॉग[3] (1939), थॉमन, कांकलिन एवं यीट्स[4] (1968), अलक्जेंडर[5] (1963) आदि हैं, लेकिन इनमें केवल वर्णनात्मक सामग्री ही उपलब्ध थी।

रिचार्ड हार्टशोर्न[6] (1939) ने भूगोल को क्षेत्रीय विषमता का अध्ययन करने वाले विषय के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। जिसके फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध के बाद में इसी विचार का अनुमोदन करते हुये आर. ई. मर्फी ने आर्थिक भूगोल की परिभाषा इस प्रकार दी—

"आर्थिक भूगोल मनुष्य के जीविकोपार्जन की विधियों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर मिलने वाली समानता व असमानता का अध्ययन करता है।"

"Economic geography has to do with similiarities and differences from place to place in the ways people make a living"

ऐसी ही अभिव्यक्ति सी. एफ. जोन्स[7] ने की लेकिन कुछ आलोचको ने

क्षेत्रीय विषमता पर अधिक बल देने का आरोप लगाया। अतः हार्टशोर्न ने कुछ संशोधन करके इसे विषमतायुक्त स्वरूप का यथार्थ एवं वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला विषय बताया। इसके प्रभाव से आर्थिक कार्यों की प्रादेशिक भिन्नता के विचार का समावेश हुआ। अलेक्जेण्डर ने इसी मान्यता के आधार पर इसकी परिभाषा इस प्रकार की—

"आर्थिक भूगोल भू-पृष्ठ पर सम्पति के उत्पादन, विनिमय एवं उपभोग से सम्बन्धित मानव-कार्य कलापों की क्षेत्रीय विषमताओं का अध्ययन है।"

"Economic geography is the study of areal variation on the earth's surface in man's activities related to producing, exchanging and consuming wealth"

तत्पश्चात् मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं का अधिक द्रुतगति से वैज्ञानिक विश्लेषण प्रारम्भ हुआ तथा मानव - व्यवहार को समझने के प्रयत्न किये जाने लगे, साथ ही तन्त्रीय उपागम (System approach) का विकास हुआ। आर्थिक-भूगोल में भी यह स्वीकार किया जाने लगा कि अर्थ–तन्त्र (Economic System) में आर्थिक गतिविधियों का प्रारूप मानवीय निर्णयों का प्रतिफल है। इस प्रकार आर्थिक भूगोल को आवश्यक रूप से एक व्यावहारिक विज्ञान स्वीकार किया जाने लगा। इसी का अनुमोदन करते हुए लॉयड और डिकन (1972) ने आर्थिक भूगोल की परिभाषा इस प्रकार दी—

"अर्थ तन्त्र के स्थानिक आयाम से सम्बन्धित व्यावहारिक विज्ञान के रूप में आर्थिक भूगोल ऐसे सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों की रचना से सम्बन्धित है जो अर्थतन्त्र के परिचालन को स्पष्ट करते हैं।"

"As a behavioral science concerned with spatial dimension of economic system, economic geography is concerned with the construction of general principles and theories that explain the operation of the economic system."

नवीन परिवेश में मानव की आर्थिक गतिविधियों का ही अध्ययन महत्वपूर्ण नहीं रह गया है बल्कि मानव को कल्याणकारी योजनाओं पर अधिक जोर दिया जा रहा है अतः समय के साथ आर्थिक - भूगोल में संशोधन के प्रयास किये गये हैं। वर्तमान परिस्थितियों में इसी आधार पर डी. एम. स्मिथ ने आर्थिक भूगोल की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"आर्थिक भूगोल, आर्थिक प्रक्रियाओं की स्थानिक अभिव्यक्ति का अध्ययन है जो वैकल्पिक स्थानों में वैकल्पिक उद्देश्यों हेतु संसाधनों का आवंटन करता है।"

'Economic geography deals with the spatial expression of the economic mechanisms which allocate, resources among alternative ends in alternative places.'

इस प्रकार आर्थिक भूगोल के अध्ययन की दृष्टि से विभिन्न उपागमों को स्वीकार किया गया। चिशोल्म की 1889 में प्रकाशित वाणिज्य - भूगोल में तथ्यात्मक उपागम (Factor approach), वस्तुपरक उपागम (commodity approach), व प्रादेशिक उपागम (Regional approach) को अपनाया गया। इसके वाद के वर्षों में लेखकों ने प्रादेशिक उपागम व वस्तुनिष्ठ उपागम को ही अधिक अपनाया व दोनों का मिश्रित उपयोग डेल्टाई-चावल अर्थव्यवस्था, व्यापारिक अनाज उत्पादक प्रदेश, गेहूँ-गन्ना उत्पादक गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र जैसे अध्ययनों में किया लेकिन सामान्य तथ्यात्मक उपागम (Factor approach) की ओर ध्यान नहीं दिया गया। आज किसी वस्तु विशेष या किसी प्रदेश विशेष का अध्ययन आवश्यक नहीं रह गया है बल्कि सामान्य सिद्धान्तों (General Theories) का निर्माण महत्वपूर्ण होता जा रहा है, जिनके द्वारा आर्थिक गतिविधियों का वितरण, माल, विचारों एवं मानव-प्रवाह आदि के बारे में अध्ययन कर सकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में आर्थिक भूगोल के इसी उपागम को अपनाया गया है, साथ ही इसे वर्तमान की आवश्यकतानुसार मानव-कल्याणकारी परिस्थितियों के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। लेखक के विचार से वर्तमान के सन्दर्भ में आर्थिक - भूगोल की निम्न परिभाषा दी जा सकती है :—

'आर्थिक - भूगोल मानव द्वारा लिये गये मानवतावादी आर्थिक निर्णयों के स्थानिक प्रारूपों (प्रतिरूपों) से सम्बन्धित है।"

"Economic Geography deals with the spatial pattern of huministic economic decisions taken by man."

अर्थात् आर्थिक भूगोल ऐसे आर्थिक निर्णयों के क्षेत्रीय प्रतिरूपों का अध्ययन करता है जो मानव द्वारा मानव जाति के कल्याण के निमित्त लिये जाते हैं। इस दृष्टि से केवल आर्थिक गतिविधियों का अध्ययन ही महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि आज की आवश्यकता ऐसे आर्थिक निर्णय लेने और उन्हें मूर्तरूप देने की है जिससे सम्पूर्ण मानव जाति का हित साधन हो सके। आज पारस्परिक सम्पर्क बढ़ता जारहा है, विश्व संकुचित होता जा रहा है। अतः किसी एक क्षेत्र या देश के स्वार्थ दूसरे क्षेत्र या देश विशेषको प्रभावित करते हैं। इसलिये वर्तमान की आवश्यकता किसी क्षेत्र या देश तक सीमित नहीं हैं बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिये कार्य करने की है। अतः आर्थिक भूगोल का उद्देश्य

कल्याणकारी समाज की स्थापना का होना चाहिये।

उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ आर्थिक भूगोल के कार्य क्षेत्र या विषय वस्तु को स्पष्ट करती है। निष्कर्ष स्वरूप आर्थिक भूगोल हमें निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करती है।

(i) 'किस प्रकार' की आर्थिक गतिविधि हो रही है ?
(ii) आर्थिक गतिविधि 'कहाँ' हो रही है ?
(iii) आर्थिक गतिविधि 'कब से' हो रही है ?
(iv) आर्थिक गतिविधि 'क्यों' हो रही है ?
(v) आर्थिक गतिविधि 'कैसे' हो रही है ?

इस दृष्टि से प्रत्येक शब्द 'कहां', 'कब', 'कैसे', 'क्यों' और 'किस प्रकार' भिन्न 2 प्रकार की समस्याएँ सामने रखता है। 'कहां' शब्द मूलतः भौगोलिक आधार प्रदान करता है जिसके आधार पर समस्या से संबंधित क्षेत्र को उद्देश्य के अनुसार विभाजित किया जाता है। 'कबसे' शब्द समस्या के ऐतिहासिक पक्ष को स्पष्ट करता है। 'कैसे' शब्द से आर्थिक गतिविधि की प्रक्रिया (process) को समझने में सहायता मिलती है। 'क्यों' शब्द क्षेत्र विशेष की जनसंख्या के निर्णयों को स्पष्ट करता है जबकि शब्द 'किस प्रकार', गतिविधि की गुणात्मकता को प्रदर्शित करता है, अर्थात वह अच्छी है या बुरी।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से आर्थिक भूगोल का विषय क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है इसलिए इसके विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने के लिये कई शाखायें विकसित हो गई है जो विभिन्न आर्थिक गतिविधियों और उनसे सम्बन्धित समस्याओं का अधिक विस्तृत एवं गहन अध्ययन प्रस्तुत करती है। आर्थिक-भूगोल की शाखायें निम्नांकित है।

(1) कृषि-भूगोल
(2) औद्योगिक-भूगोल
(3) वाणिज्य-भूगोल
(4) विपणन-भूगोल
(5) संसाधन-भूगोल
(6) परिवहन-भूगोल
(7) पर्यटन-भूगोल
(8) अन्य शाखायें यथा– आय भूगोल, आयात-निर्यातभूगोल, उपभोग भूगोल, तृतीयक सेवा सम्बन्धी भूगोल आदि।

(1) कृषि-भूगोल (AGRICULTURAL GEOGRAPHY)

कृषि–भूगोल में कृषि से सम्बन्धित विभिन्न क्रियाओं का अध्ययन किया

जाता है। कृषि भूमि की स्थिति, भूमि-उपयोग, कृषि-उपजों की उत्पति आदि को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है, इसमें मिट्टी की उर्वरा शक्ति, सूर्याभिताप, फसलों को बोने व काटने का समय, श्रम, पूंजी व सरकारी निर्णयों का प्रभाव आदि का अध्ययन किया जाता है, आर्थिक-भूगोल की इस शाखा का विकास संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, कनाड़ा आदि देशों में अधिक हुआ है। भारत में भी इसका विकास हो रहा है। इस दृष्टि से अलीगढ मुस्लिम विश्व विद्यालय ने भूमि उपयोग पर बहुत कार्य किया है। कलकत्ता, वाराणसी और मद्रास के भूगोल विभाग भी इस प्रकार के अध्ययन कर रहे हैं। अन्य में फसल विशेष का अध्ययन, प्रादेशिक कृषि, सिंचाई, कृषि से सम्बंधित समस्यायें व नियोजन, खाद्यान्न पूर्ति व जनसंख्या आदि पर भी अध्ययन किए जा रहे हैं। इनके अतिरिक्त कृषि-भूगोल में कृषि की उत्पति व विस्तार, विभिन्न प्रकार की कृषि की पद्धतियां, कृषि-विकास, कृषि-प्रादेशिकरण आदि का अध्ययन किया जाता है।

(2) औद्योगिक-भूगोल (INDUSTRIAL GEOGRAPHY)

औद्योगिक भूगोल में उद्योग से सम्बन्धित विभिन्न क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है यह विभिन्न उद्योगों से सम्बन्धि कच्चे माल, विशेषकर खनिज व शक्ति के साधनों के वितरण व उपयोग से सम्बंधित बातों का अध्ययन करता है। उद्योगों की स्थिति निर्धारण, लघु स्तर के उद्योग, वृहद्ध पैमाने के उद्योग, औद्योगिक विकास, औद्योगिक क्षेत्र, औद्योगिक केन्द्रों का अध्ययन, उद्योग विशेष का अध्ययन, बने हुये औद्योगिक माल के विक्रय से सम्बन्धित बातों का अध्ययन किया जाता है। इसके द्वारा किसी क्षेत्र या देश विशेष के औद्योगिक संसाधनों के सर्वोत्तम उपयोग एवं अन्य सम्बन्धित समस्याओं के बारे में अध्ययन किया जाता है। इनके अतिरिक्त औद्योगिक माल की उत्पादन लागत, प्राप्त मूल्य, औद्योगिक प्रदेश, नवीन तकनीकी विकास का उद्योगों व उनकी स्थिति पर प्रभाव, कच्चे माल में आनुपातिक कमी का प्रभाव आदि से सम्बन्धित बातों का अध्ययन भी औद्योगिक भूगोल की विषय-वस्तु है।

(3) वाणिज्य-भूगोल (COMMERCIAL GEOGRAPHY)

वाणिज्य-भूगोल मानव द्वारा की जाने वाली सभी विनिमय की क्रियाओं का अध्ययन है। इसके अतिरिक्त परिवहन, परिवहन केन्द्रों की उत्पति, व्यापारिक केन्द्र, उनके विकास के अध्ययन से भी सम्बन्धित है। इन सभी क्रियाओं पर भौगोलिक वातावरण के पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन भी इसमें किया जाता है। वास्तव में आर्थिक भूगोल की इस शाखा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, बल्कि यह परिवहन-भूगोल, विपणन-भूगोल, आय एवं व्यय भूगोल का सम्मिलित स्वरुप प्रदान करता है।

(4) विपणन-भूगोल (MARKETING GEOGRAPHY)

आर्थिक-भूगोल की यह शाखा पूर्णतः बाजार या मण्डी या दुकानों आदि से सम्बन्धित है, इसमें क्रेताओं या विक्रेताओं के क्षेत्र का अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दों में फुटकर या थोक बिक्री के संस्थानों की स्थिति, उनकी बिक्री, सुविधायें, बाजार का क्षेत्र आदि का अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त बाजारों का पदानुक्रम, ग्राहकों का व्यवहार, बाजार का आकार, सामयिक बाजार दैनिक बाजार, स्थाई बाजार, मेलों माल के खरीद के क्षेत्र, माल की खरीद की मात्रा, उपलब्ध सहायक सुविधाये आदि कई बातों का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। विपणन-भूगोल अभी अपने विकास की प्रारम्भिक दशा में है। अन्य में परम्परागत बाजार एवं आधुनिक बाजारों का विकास, सुपर बाजार व उनका प्रभाव क्षेत्र, शहरों में बाजार की स्थिति, बाजार के आकार का अध्ययन एवं प्रादेशिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय बाजार का अध्ययन किया जाता है।

(5) संसाधन भूगोल (RESOURCE GEOGRAPHY)

आर्थिक भूगोल की यह शाखा विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक एवं जैविक संसाधनों की उपलब्धि, वितरण एव उपयोग से सम्बन्धित है। साथ ही विभिन्न प्रकार के संसाधनों को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों का अध्ययन भी किया जाता है। किसी अर्थ व्यवस्था या देश के विकास में संसाधनों का महत्व, संसाधनों का संरक्षण, संसाधनों का श्रेष्ठतम उपयोग, संसाधान प्रदेश आदि का अध्ययन किया जाता है। जबकि संसाधनों में मानव संसाधन सबसे महत्वपूर्ण है और वही अन्य संसाधनों का उपयोग एवं उपभोग कर्त्ता हैं। अतः मानव संसाधन उसका वितरण, विकास आदि का अध्ययन भी इसके अन्तर्गत किया जाता है।

परिवहन-भूगोल (TRANSPORT GEOGRAPHY)

परिवहन-भूगोल में यातायात के मार्गों का विकास, यातायात पर आधारित अन्यान्य क्रिया, मार्गों का उपयोग, यातायात की तकनीक में विकास से यातायात मार्गों पर प्रभाव, गति में वृद्धि का प्रभाव, परिवहन-लागत, आदि का अध्ययन किया जाता है। इनके अतिरिक्त इन पर भौगोलिक दशाओं के प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। साथ ही बन्दरगाह व उनके पृष्ठ-प्रदेश, वायु यातायात, जल व स्थल यातायात, शहरी क्षेत्र में परिवहन की समस्याएँ, यातायात के विकास का प्रादेशिक विकास पर प्रभाव, दूरी क्षय नियम, गुरुत्व मॉडल, व अन्य सिद्धान्तों का अध्ययन भी किया जाता है।

पर्यटन एवं मनोरंजन भूगोल(TOURISM AND RECREATION GEOG.)

आर्थिक भूगोल की यह शाखा नई है। मनोरंजन भूगोल में घर के बाहर सभी प्रकार की मनोरंजन की गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है इसकी एक शाखा पर्यटन-भूगोल का अधिक विकास हुआ है। मनोरंजन भूगोल में सिनेमा, सर्कस, क्लब, खेल के क्षेत्र, पर्यटन केन्द्रों आदि का अध्ययन किया जाता है। साथ ही इनके विकास पर भौगोलिक व अन्य दशाओं के प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। इनके अतिरिक्त पर्यटन व मनोरंजन से सम्बन्धित उपलब्ध सुविधाऐं व समस्याओं का अध्ययन, इनके विकास का क्षेत्र के विकास पर प्रभाव पर्यटक के व्यवहार का अध्ययन, आदि पर्यटन व मनोरंजन भूगोल की विषय-वस्तु है।

अन्य शाखाऐं :—

आर्थिक भूगोल की कुछ अन्य शाखाऐं भी विकसित हो रही हैं जैसे– आय भूगोल, उपभोग - भूगोल, आयात - निर्यात भूगोल, तृतीयक सेवाओं से सम्बन्धित भूगोल आदि का धीरे-2 विकास हो रहा है। इनके फलस्वरूप आर्थिक भूगोल का विषय क्षेत्र अधिक व्यापक व समुन्नत होता जा रहा है। उक्त अध्ययन से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्थिक भूगोल का विषय-क्षेत्र मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है व बहुत अधिक व्यापकता लिये हुये हैं। चूंकि इनमें से प्रत्येक शाखा की विषय-वस्तु एक दूसरे से वास्तव में भिन्न है तथा उनको प्रभावित करने वाले कारक, तत्व तथा अन्तर्सम्बन्ध भी पृथक-पृथक हैं, अतः प्रत्येक की विश्लेषण प्रणाली भी अलग-अलग है। इसी कारण कुछ विद्वान आर्थिक भूगोल को एक संगठित शोध का विषय स्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन आर्थिक भूगोल की विभिन्न शाखाऐं स्वतंत्र होते हुये भी एक दूसरे से सम्बन्धित है। इसलिये आर्थिक भूगोल के स्वतंत्र अस्तित्व पर संदेह नहीं किया जा सकता है।

आर्थिक भूगोल एवं अर्थ-शास्त्र

आर्थिक भूगोल एवं अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु पर दृष्टिपात करें तो दोनों में अत्याधिक समानता दृष्टिगोचर होती है और दोनों का क्रम विकास भी मिलता जुलता है। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि अर्थ शास्त्र एवं आर्थिक भूगोल में अन्तर क्या है ? वास्तव में दोनों में अन्तर विषय वस्तु का नहीं प्रत्युत अध्ययन के दृष्टिकोण एवं उद्देश्य का है।

अर्थ शास्त्र में उत्पादन एवं वितरण की प्रक्रिया तथा व्यवस्था का अध्ययन किया जाता है। आर्थिक भूगोल में मनुष्य की आर्थिक गतिविधियों तथा उन पर

पड़ने वाले प्राकृतिक परिस्थितियों के प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। कुछ भूगोल वेत्ताओं के अनुसार आर्थिक भूगोल, आर्थिक गतिविधियों की स्थिति एवं उनके स्थानिक प्रारुपों का अध्ययन है। केन्द्रीय-स्थान साध्य (Central place theory) यह दर्शाती है कि किस प्रकार आर्थिक मान्यताओं के आधार पर भौगोलिक सिद्धान्त विकसित किये जा सकते हैं। इस साध्य में प्रारम्भिक मांग का विश्लेषण का उपयोग माल के प्रभाव क्षेत्र के रूप में आधार भूत स्थानिक संकल्पना को परिभाषित करने में किया गया है। इसी प्रकार अर्थ शास्त्र के 'सीमान्त'(Margin) विचार को संशोधित एवं परिवर्द्धित करके उद्योगों के स्थानीयकरण के सिद्धान्त का आधार बनाया गया है जबकि वॉन थूइनेन के कार्य का उपयोग बसाव तथा भूमि उपयोग के विश्लेषण में किया गया है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि आर्थिक भूगोल के सिद्धान्त मुख्यत: अर्थ शास्त्र या अन्य सामाजिक शास्त्रो में विकसित हुये हैं या अच्छी तरह विकसित किये जा सकते हैं जैसा कि वॉन थूइनेन[8] ने कृषि भूमि उपयोग, अल्फ्रेड वेबर[9] ने उद्योगों की स्थिति व क्रिस्टलर[10] ने केन्द्रीय-स्थान साध्य विकसित किये। लेकिन यदि हम स्थिति सम्बन्धी सिद्धान्तों का विकास अर्थ शास्त्र, समाज शास्त्र या अन्य शास्त्रों पर छोड़ दें तो भी हम आर्थिक गतिविधियों की स्थिति को अच्छी तरह नहीं समझ सकते क्योंकि आर्थिक घटनाओं की स्थिति एवं प्रारुप का अध्ययन ही महत्वपूर्ण नहीं बल्कि आर्थिक घटनाओं से सम्बन्धित सभी सम्बन्धों की प्रवृत्ति को समझना भी महत्वपूर्ण है। यद्यपि इन सम्बन्धों को किसी नियम के तंत्र में एकत्रित करना असंभव है, फिर भी उन्हें समझने के लिये किसी व्यवस्था में एकत्रित करने की आवश्यकता है जो आर्थिक भूगोल में ही संभव है।

अर्थ-शास्त्र किसी वस्तु की उन व्यवस्थापरक एवं प्रक्रियात्मक विशेषताओं का अध्ययन करता है जिनसे न्यूनतम लागत से अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकता है। आर्थिक भूगोल उन सभी तत्वों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है जिनसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भिन्नताऐं मिलती हैं तथा इसके फलस्वरुप विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न आर्थिक प्रतिरुप स्थापित एवं विकसित होते हैं।

औद्योगिकरण की तीव्र प्रगति के बाद कृषि व वाणिज्य जन्य आर्थिक तत्रों में आमूल चूल परिवर्तन हुये हैं जिससे आर्थिक-सामाजिक जटिलता बढ़ गई है। इनके निराकरण के लिये उक्त दोनों शास्त्र प्रयत्नशील हैं जहां एक ओर अर्थशास्त्र के विश्लेषण में स्थानीय विशेषताओं एवं स्थानीयकरण सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होने लगा है, वहीं आर्थिक भूगोल में प्रक्रियात्मक पक्ष पर पर्याप्त ध्यान दिया जाने लगा है व सार्वभौम सिद्धान्तों के निरुपण की ओर प्रवृत्ति बढ़ी है। अत: दोनों के विषय वस्तु गत भेदों का अन्तर कम होता गया। अब अन्तर केवल

अध्ययन के उद्देश्य व दृष्टिकोण का है, यह भी अब कम होता जा रहा है। अर्थ शास्त्र का परम उद्देश्य सीमित साधनों का समुचित आवंटन करके अधिकतम उपयोगिता प्रदान करना है। आर्थिक भूगोल का परम उद्देश्य भी अर्थ-तंत्र के क्षेत्रीय संगठन जनित प्रादेशिक आर्थिक भू-दृश्यों की व्याख्या करने के साथ-साथ मानव कल्याणार्थ आवंटन एवं उपयोग से सम्बन्धित होता जा रहा है।

आर्थिक भूगोल का उद्देश्य-हम यह जानते है किआर्थिक भूगोल, मानव भूगोल की ही एक विशिष्ट शाखा है जिसमें मानव द्वारा लिये गये आर्थिक-निर्णयों से उत्पन्न विभिन्न आर्थिक गतिविधियों के भू-दृश्यों का अध्ययन किया जाता है। समय के सन्दर्भ में जिस प्रकार मानव भूगोल का उद्देश्य मानव वातावरण के सम्बन्धों के विश्लेषण से प्रारम्भ हुआ और 1960 के आस पास कई जागरुक विद्वानों ने प्रदूषण एवं शोषण के खतरनाक परिणामों को ध्यान में रखते हुये अधिक व्यापक सन्दर्भ में इसका उद्देश्य मानव-कल्याणार्थ निहित किया है। स्मिथ*(1974) के अनुसार "मानव भूगोल को कौन, कहां, क्या और किस प्रकार पाता है?" के अध्ययन से परिभाषित किया जा सकता है। इस प्रकार मानव भूगोल स्थानिक सन्दर्भ में कल्याणकारी उद्देश्य से सम्बन्धित है। वैसे ही आर्थिक भूगोल का मूल उद्देश्य भी देश-काल के सन्दर्भ में बदलकर मानव कल्याण से सम्बन्धित हो गया है। आज आर्थिक भूगोल का उद्देश्य मानव की आर्थिक खुशहाली से अधिक सम्बन्धित है। सभ्यता-संस्कृति व वैज्ञानिक विकास के साथ ही साथ आज विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक समस्याओं और जटिलताओं का जाल फैलता जा रहा है आर्थिक-भूगोल इनके समाधान में लगा हुआ है क्योंकि इनका समाधान सरलता से उपलब्ध नहीं है। जैसे किसी क्षेत्र में किसी भी प्रकार के उत्पादन का महत्व, उस क्षेत्र के आकार, जल-वायु, उसकी सापेक्षिक स्थिति, वहां के मनुष्यों की आय आदि के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है जो उपलब्ध आंकड़ों में किसी सूत्र के उपयोग पर होगा लेकिन इस प्रकार का सरल स्पष्टीकरण अधिक लाभप्रद नहीं होता है क्यों कि इसमें कई प्रकार की शक्तियों का सम्मिलित प्रभाव होता है। अत: हमारा प्रयास उन शक्तियों को खोजना, पहचानना एवं उनका महत्व निश्चित करना

'Human Geograpoy naybe defined as the study of "who gets what where, and how." This is what the welfare theme means in a spatial context.' Smith, D. M. (1974,) who gets what where and how : A welfare focus for human geography. Geography 59, 289-97 Quoted in Human Geography: a welfare approach, (1977) Arnold Heinemann,.London, pP 7.

है जो भिन्न 2 दशाओं में पृथक 2 ढंग से व्यवहार करती है। इससे भविष्य के दिशा निर्देश प्राप्त कर उन समस्याओं से बचा जा सकता है।

पिछली अर्द्ध शताब्दी में ही जनसंख्या में तीव्र वृद्धि हुई है अतः विभिन्न संसाधनों का उपयोग भी तेज गति से बढा है। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न संसाधनों एवं उत्पादन के तत्वों का अधिकतम क्षमता से अधिक लाभ के लिए उपयोग किया जाना न केवल आवश्यक, बल्कि मानव अस्तित्व की दृष्टि से भी अनिवार्य हो गया है अन्यथा हमें आने वाले वर्षों में भूखों मरना पड़ सकता है। जनसंख्या की इस वृद्धि के लिये 20 वीं शताब्दी ही उत्तरदायी नहीं है बल्कि 19 वीं शताब्दी से ही, इससे पूर्व में हो रहे धीमे विकास में अचानक परिवर्तन आने से हुआ। इसके दो कारण थे--

(1) औद्योगिक क्रांति के प्रभाव के कारण उत्पादन प्रक्रिया का पुनर्गठन हुआ। नगरों की ओर जनसंख्या का स्थानान्तरण, यातायात के साधनों का जाल विकसित हुआ और दूरस्थ क्षेत्रों के लिये बाजारों का निर्माण हुआ।

(2) नई भूमि की उपलब्धि-अभूतपूर्व रूप से जनसंख्या के बसने व उत्पादन के लिये नई दुनियां, आस्ट्रेलिया आदि के रूप में उपलब्ध हुई।

जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारण मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति की समस्या भी बढ़ती जा रही है। इसके लिये जहां एक ओर आर्थिक विकास पर अधिक जोर दिया जा रहा है, वहीं साथ ही साथ आर्थिक विषमता भी बढ़ती जा रही है। हम यह जानते है कि मनुष्य एक समान नहीं है। वंशानुक्रम से उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता में भिन्नता पाई जाती है लेकिन मनुष्य का किसी परिवार या समुदाय विशेष में, किसी स्थान विशेष पर जन्म लेना भी उसके अवसरों को प्रभावित करता है। यही असमानता हमारा ध्यान आकर्षित करती है। अतः आज की दशाओं में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इस प्रकार की असमानताओं को समानता में बदलने के लिये किस प्रकार आर्थिक गतिविधियों को पुनर्गठित किया जाय?

यहां यह बात भी स्मरणीय है कि हमारी भी कुछ सीमाएं हैं जिनके कारण हम सभी मरुस्थलों को उपजाऊ नहीं बना सकते, न ही सूखे व अतिवृष्टि की दशाओं पर पूर्ण काबू पा सकते हैं और न ही उन स्थानों पर खनिज उत्पन्न कर सके हैं जहां प्रकृति में वे नहीं है। इस कारण वहां के व्यक्ति भौतिक संसाधनों की दृष्टि से निर्धन हैं लेकिन उन्हें हम विश्व के धनी क्षेत्रों की अधिकांश सम्पदा का पुनःवितरण करके साथ ले सकते हैं। हक्सले* के शब्दों में आज "हमारे

The serious problem of our time are mainly those concerenta

समय की गम्भीर समस्याएँ वे हैं जो आर्थिक असफलता और हमारी वितरण व्यवस्था की अपर्याप्तता से सम्बन्धित हैं जो कि वृद्धि के इस काल में भी जनसंख्या के कुछ भाग को गम्भीर रूप से अलाभप्रद दशा में छोड़े हुए हैं।"

आज किसी भी समाज में जहां पर्याप्त रूप से असमानता फैली हुई हैं, वहां कुछ विशिष्ठ व्यक्तियों का वर्ग होता हैं जो कभी न्यायपूर्ण वितरण के बारे में बात नहीं करता है अतः आर्थिक - भूगोल का उद्देश्य न्यायपूर्ण वितरण के साथ साथ उसके (मानव) कल्याणार्थ होना चाहिये। आर्थिक-भूगोल में आर्थिक गतिविधियों की स्थिति सम्बन्धी निर्णय बहुत महत्वपूर्ण हैं जिनसे मानव की न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ प्राप्त करने की प्रवृत्ति की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है लेकिन आज के सन्दर्भ में आर्थिक भूगोल का उद्देश्य विभिन्न स्थानों की सापेक्षिक स्थिति, एक ही स्थान पर विभिन्न चरों का सहयोग एवं किसी स्थान विशेष पर किसी गतिविधि के केन्द्रीयकरण को आंकना ही नहीं बल्कि मानव कल्याण के सही परिप्रेक्ष्य में उनके आंवटन से सम्बधित होना आवश्यक है। इसके लिये आर्थिक विकास के साथ में आर्थिक समानता व पारिस्थैतिक संतुलन भी बनाऐं रखना आवश्यक है। इसके लिये अध्ययन का आधार निम्नांकित बिन्दुओं पर आधारित होना आवश्यक है—

(i) *समस्याओं को पहचानना एवं इस प्रकार व्यवस्थित करना कि उनका* समाधान निकाला जा सके।

(ii) कोई परिकल्पना विकसित करना ताकि उन समस्याओं का समाधान हो सके।

(iii) इन सिद्धान्तों [परिकल्पनाओं] की उपयोगिता की जांच समस्या के समाधान के लिये करना।

(iv) अन्य सिद्धान्तों से उस सिद्धान्त का सम्बन्ध स्थापित करना।

इसमें प्रथम व तृतीय के लिये मूल्यांकन की तकनीक का ज्ञान होना आवश्यक है जबकि द्वितीय व चतुर्थ दशा के लिये मानव – गतिविधियों की स्थिति को प्रभावित करनेवाली शक्तियों का विस्तृत ज्ञान होना आवश्यक है। साथ ही उपयोगी शक्तियों को चयन की योग्यता एवं उनके महत्व का मूल्यां-

---

with economic failure, and with the inadequacy of our distribution system which even in periods of growth, leaves some sections of the population seriously disadvantaged'.

-- Eversley, D. (1975, p. 55) Regional devalution and Environmental planning. E. Craven, editor, Regional Devalution and social policy, MaCmillan, London.

कन व प्रमाणित करने की योग्यता भी आवश्यक है। इस दृष्टि से प्राकृतिक, आर्थिक सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि कई तत्वों का ज्ञान होनाचाहिये।

इसी ज्ञान के आधार पर हम सामान्यीकरण प्रस्तुत कर सकते हैं, जिन्हें सिद्धान्त कहते हैं। अतः आर्थिक भूगोल में सिद्धान्तों का प्रारूप तैयार करते हैं जिनके द्वारा हम आर्थिक समस्याओं का समाधान खोज सकते हैं और मानव कल्याण के प्रयत्नों को अधिक सफल बनाया जा सकता है।

REFERENCES

(1.) NEWBIGIN, M. I. (1928)Commercial geography, Lon.

(2.) BUCHANAN, R. O.(1935)The pastoral industries of New zealand: a study in economic geography. Institute of British Geography, publication No. 2.

(3.) CARTER, W. H. and DODGE, R. E. (1939) Economic geography, New York.

(4.) THOMAN, R. S., CONKLIN, E. C. and YEATES, M. H. (1968) The geography of economic activity. 2nd edition, New York.

(5.) ALEXANDER, J. W. (1963) Economic geography. Englewood cliffs, New Jearsey.

(6.) HARTSHORNE, R.(1939)The Nature of Geography. McNally, Lancaster.

[7.] JOHNS, C. F. [1959] Economic Geography, NewYork.

[8.] VON THUNEN, J. H. [1826] Der isolierte Staat in Beziehung auf landwirtschaft und nationalokonomie. Hamburg : Reprint 2 nd ed., Stuttgart : Gustav Fischer Verlag, 1966. English translation : Von Thunen's Isolated State, Edited by P. Hall. Translated by C. M. Wartenberg. London. Pergamon press, 1966.

(9.) WEBER, A. (1909) Uber den standort der industrien. Translated by C. J. FRIEDRICH(1929) as Alfred Weber's theory of the location of industries. Chicago.

(10.) CHRISTALLER, W. (1933.1966) Die centralen Orte in suddeutschland. Translated by C. W. BASKIN [1966] as Central pleces in southern Germany. Englewood Cliffs, N. J.

२

आर्थिक भूगोल के उपागम

(APPROACHES TO ECONOMIC GEOG.)

कोई समय था जब आर्थिक भूगोल को वाणिज्य-भूगोल के रूप में ही पहचाना जाता था लेकिन पिछले कुछ वर्षों में ही आर्थिक-भूगोल का इतना अधिक विकास हुआ कि आज यह एक स्वतन्त्र विषय के रूप में ही नहीं उभरा है बल्कि इसकी कई स्वतन्त्रशाखायें भी विकसित हो गई है, जैसे विपणन-भूगोल कृषि-भूगोल, औद्योगिक-भूगोल, परिवहन-भूगोल आदि। आज आर्थिक-भूगोल के मूल रूप की अपेक्षा इसकी शाखाओं का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो गया है।

आर्थिक-भूगोल अपने विकास की प्रारम्भिक दशा में भी कोई विशिष्ठ अध्ययन का विधि तन्त्र विकसित नहीं कर पाया। प्रारम्भ में कई प्रकार के अध्ययन के उपागम अपनाये जातेरहे। चिशोलम[1] का वाणिज्य-भूगोल जो 1889 में प्रकाशित हुआ उसमें तीन प्रकार के उपागमों को अपनाया गया।

(१) **तथ्यात्मक उपागम**-इसमें वस्तुओं के उत्पादन,वितरण व विनिमय अर्थात् उत्पादन, वितरण व विनिमय से सम्बन्धित सामान्य तथ्यों का वर्णन किया गया।

(२) **वस्तुनिष्ठ उपागम**-इसमें अलग 2 वस्तु के आधार पर अध्ययन किया गया।

(३) **प्रादेशिक उपागम**-इसके अनुसार अलग 2 राष्ट्रों में उत्पादन व व्यापार का अध्ययन किया गया।

आने वाले वर्षो में अधिकांश लेखकों द्वारा प्रादेशिक व वस्तुनिष्ठ उपागम का मिश्रित स्वरूप अपनाया गया लेकिन प्रथम विधि को अब तक उपेक्षित रखा गया जिसका आधार इसके भौगोलिक होने में संदेह के कारण था लेकिन अन्तिम दशा में यह अपने आप ही स्वीकृत रूप में न आकर स्थानिक-विश्लेषण से संबधित सिद्धांतों के सामान्य विकास के अंग के रूप में आया। आज का यह नवीन उपागम अलग 2 प्रदेशों या अलग 2 वस्तुओं से संबधित न होकर, सामान्य सिद्धांत बनाने का है जिसमें विभिन्न तथ्यों को अलग 2 नहीं मानकर बल्कि उनको तथ्य मानकर अध्ययन किया जाता है। इन तथ्यों से सम्बन्धित सामान्यीकरण (GENERALIZATION) या तो मौखिक रूप से या सांख्यिकी के रूप में आते है जिसके आधार पर वास्तविक जगत की विभिन्न आर्थिक गति विधियों के वितरण एवं संचार के बारे में कहा जा सकता है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि आर्थिक भूगोल एक विज्ञान है इसी के नाते इसके अपने नियम है। आर्थिक भूगोल की विभिन्न समस्याओं एवं विषय

वस्तु का अध्ययन करने के कई उपागम है जिसमें प्रादेशिक उपागम, वस्तुनिष्ठ उपागम, ऐतिहासिक आगमन उपागम व सैद्धांतिक निगमन उपागभ महत्वपूर्ण माने जातेहैं अतः हम यहां इन दोनोंही अंतिम उपागमों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

आगमन उपागम (INSTITUTIONAL APPROACH)

इस उपागम को संस्थागत या अनुभवाश्रित या तथ्य प्रणाली या ऐतिहासिक उपागम भी कहते है। इस विधि में विशिष्ठ से सामान्य की ओर आते हैं। इसमें व्यक्तिगत निरीक्षणों एवं प्रयोगों की सहायता से सर्व व्यापी या सामान्य नियम बना लेते हैं। जैसे लोहा, चांदी, सोना, सीसा आदि पानी में डालने पर डूब जाते हैं। हम जानते है कि ये सब धातुयें है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि सभी धातुयें पानी में डालने पर डूब जाती हैं । यह नियम अनुभव के आधार पर बनाया है। इसी प्रकार मान लीजिये कि बाजार में किसी वस्तु का मूल्य गिर जाने पर काफी संख्या में ग्राहकों को उस वस्तु को खरीदते देखते हैं, तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूल्य गिर जाने पर वस्तु की मांग बढ जाती है। यह भी निरीक्षण पर आधारित है। इस प्रकार इस उपागम में हम अनेक तथ्यों को एकत्रित करते हैं और फिर उन तथ्यों के निरीक्षण, अनुभव या प्रयोगों के आधार पर एक सामान्य निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। अतः आगमन प्रणाली वास्तविकता के निकट होती है। इसलिये इसे वास्तविक प्रणाली भी कहते हैं ।

इस उपागम के अनुसार यह माना जाता है कि मानव अलग 2 है। प्रत्येक अलग इकाई की तरह कार्य करता है। आर्थिक भूगोल में आर्थिक गतिविधियों को स्थिति का स्वरूप विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिये गये निर्णयों का परिणाम है, लेकिन ये व्यक्ति विभिन्न तत्वों के प्रभाव से मुक्त नहीं है। व्यक्तियों पर कई तरह के प्रभाव पड़ते है जिसके कारण वह इस प्रकार से व्यवहार करता है कि उसका पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता है लेकिन इस उपागम के अनुसार मानव व्यवहार की कुछ प्रवृत्तियों को कुछ सीमा तक मानव समुदाय के व्यवहार से ज्ञात किया जा सकता है जैसे मूल्य गिरने पर मानव अधिक वस्तु खरीदता है लेकिन व्यक्ति विशेष का व्यवहार इतना सरल नहीं है जो जाना जा सके क्योंकि इसमें कई बातें उसके व्यवहार को प्रभावित करती है जिनमें उस व्यक्ति की आय, रुचि, आवश्यकता, आदि महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार मानव की औसत आयु, जीवन बीमा की सारिणियों से ज्ञात की जा सकती है लेकिन इन प्रवृतियों का अधिकतम उपयोग तभी किया जा सकता है जबकि इनमें अधिक व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। जैसे 2 इनकी संख्या घटती जाती है इनकी उपयोगिता भी घटती

जाती है जैसे एक व्यक्ति की आयु का अनुमान लगाने में यह विधि पूर्णतः अनुपयोगी है। एक व्यक्ति की आयु का अनुमान. उसके स्वास्थ्य, उसके पूर्वजों की आयु, उसके भोजन, उसकी रुचि आदि कई बातों की पृष्ठ भूमि में देखने पर ही लगाया जा सकता है।

इस उपागम के अनुसार मानव-व्यवहार पर कई संस्थाओं का भी प्रभाव पड़ता है। व्यवसायिक संगठन, सरकार, आर्थिक संस्थायें, सामाजिक संगठन, आदि कई तरह की संस्थायें मानव के विचारों को प्रभावित करती है और उसके व्यवहार को भी प्रभावित करती है क्योंकि मानव कई आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक संस्थाओं से जुड़ा है उसके पूर्वज भी इनसे संबन्धित रहे है अतः मानव व्यवहार इनसे प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता है। इसके कारण इसे संस्थागत उपागम भी कहते हैं। सामान्यतः हम जानते है कि विभिन्न प्रकार के उद्योगों व्यापारिक संगठनों, खेतों आदि आर्थिक गतिविधियों में निर्णय कर्त्ताओं की संख्या कम होती है फिर भी वे स्वतन्त्र रूप से निर्णय नहीं ले पाते है बल्कि परम्पराओं, राजनैतिक, आर्थिक संस्थाओं, आस पास के व्यक्तियों व समुदायों से प्रभावित होते रहते हैं अतः एक व्यक्ति विशेष के द्वारा लिया गया निर्णय स्वतन्त्र नहीं होता है उस पर प्राकृतिक व सांस्कृतिक दशाओं का प्रभाव पड़ता हैं। अतः इस उपागम के अनुसार किसी भी क्षेत्र में उपस्थित कोई भी आर्थिक गतिविधि का अध्ययन केवल वर्तमान के सन्दर्भ में करना असंगत है क्योंकि वह आर्थिक गतिविधि वर्तमान के साथ 2 भूतकाल में बदलती हुई प्राकृतिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों में लिये गये निर्णयों पर आधारित होती है। अतः विभिन्न जटिलताओं को समझने के लिये ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि को समझना आवश्यक है।

आर्थिक-भूगोल में इस उपागम के अनुसार आर्थिक गतिविधियों की स्थिति का प्रतिरूप कई व्यक्तियों द्वारा लियेगये निर्णयों का परिणाम है। अतः इनका अध्ययन मानव व्यवहार से सम्बन्धित है जो स्वयं भी कई प्राकृतिक व सांस्कृतिक कारकों से प्रभावित होता है। जिसका अध्ययन करने के बाद भावी प्रवृत्तियों का अनुमान लगाया जा सकता है। इस उपागम के अनुसार नियमों की अपेक्षा सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं तथा निश्चित भविष्यवाणी तो नहीं की जा सकती है लेकिन भावी प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया जा सकता है।

इसके निष्कर्ष मुख्यतः ध्यान पूर्वक लिये गये अकेले निर्णय पर होते हैं जिसको पहले एक व्यक्ति व्यक्त करता है तब उसका सभा, सम्मेलनों में समालोचनात्मक अध्ययन होता है। इस प्रकार इस विधि के निष्कर्ष चकित करने वाले नही होते हैं बल्कि ध्यान पूर्वक किये गये विचारों से युक्त होते

हैं। संक्षेप में यह उपागम निम्नांकित बातों पर आधारित हैं।

(1) मानव द्वारा लिये गये निर्णय (भूतकाल व वर्तमानकाल में लिये गये) प्राकृतिक व सांस्कृतिक वातावरण से सम्बन्धित होते हैं या उनसे प्रभावित होते है।

(2) सर्वव्यापी एवं विशिष्ठ, दोनों ही प्रकार की विशेषताओं के विकास में प्राकृतिक व सांस्कृतिक वातावरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान होना आवश्यक है, ताकि विकास से सम्बन्ध जोड़ा जा सके।

(3) आर्थिक गतिविधियों के भूत, वर्तमान व भविष्य के स्वरूप व स्थिति से सम्बन्धित उद्देश्यात्मक दशा की ओर आने में वास्तविक की बजाय सापेक्षिक दृष्टि से तथा नियमों के बजाय प्रवृत्तियों की दृष्टि से देखना चाहिये क्योंकि ये गतिविधियां मानव द्वारा सम्पादित होती है और मनुष्य मशीन के कल पुर्जे की तरह नहीं है कि उसको नियम के आधार पर ढाला जा सके या वह नियमानुसार चलता रहे।

(4) मानव और प्रकृति द्वारा निर्मित वातावरण समय की दृष्टि से चक्रीय है अर्थात् वातावरण में परिवर्तन एक प्रक्रिया है जो पृथ्वी पर बार 2 घटित होती रहती है अतः उसका स्थानिक प्रतिरूप नापा जा सकता है, वर्गीकृत किया जा सकता है और कभी 2 पूर्वानुमान भी लगाया जा सकता है कि अमुक घटना के बाद अमुक घटना होगी।

(5) कुछ घटनायें पूर्णतः विशिष्ठ होती है क्योकि वे किसी संस्कृति, समाज व्यक्ति या प्राकृतिक वातावरण के किसी भी अंग से मेल नहीं खाती है। ये किसी क्रमिक प्रक्रिया के रूप में न होकर अलग प्रकार की ही होती है अतः उनका घटित होना स्थानिक रूप से विशेष प्रकार का ही होता है। इसलिए न तो उन्हे आसानी से नापा जा सकता है न ही वर्गीकृत किया जा सकता है और न ही मॉडल की सहायता से आंका जा सकता है।

(6) आर्थिक भूगोल मे समय व लागत विभिन्न प्रकार के संचरणों में महत्वपूर्ण है लेकिन ये ही हमेशा नियन्त्रक तत्व नही होते हैं क्योंकि समय व लागत तत्वो का मानवीय मूल्य भिन्न 2 समय में, अलग 2 स्थान पर, विभिन्न व्यक्तियो के लिये, पृथक 2 सस्कृति के अनुसार अलग 2 होता है। एक ही प्रकार की दशाओ मे भी अलग 2 निर्णय कर्ता अलग 2 प्रकार से व्यवहार करते है।

(7) आर्थिक भूगोल ही सम्पूर्ण भूगोल की ऐसी शाखा नही है जो कि

आर्थिक गतिविधियों व कार्यों, विशेषकर मानव की खुशहाली से सम्बन्धित है। बल्कि अन्य कई शाखायें व विज्ञान भी मानव की खुशहाली के कार्य में लगे हैं।

इस प्रकार इस उपागम की निम्नांकित विशेपतायें हैं --

(1) इस उपागम द्वारा निष्कर्प उपस्थित दशाओं के ध्यान पूर्वक मूल्यांकन के आधार पर प्राप्त किये जाते हैं।

(2) इस उपागम में प्राकृतिक व सांस्कृतिक दशाओं के विशिष्ठ व सामान्य गुणों पर जोर दिया जाता है अतः इसके द्वारा प्राप्त सामान्यीकरण कमजोर होता है।

(3) मानव द्वारा लिये गये निर्णयों में धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि अन्य कई तत्वों का महत्वपूर्ण हाथ होता है।

(4) इस विधि द्वारा प्राप्त निष्कर्प अधिक विश्वसनीय होते हैं। क्योंकि वे वास्तविक तथ्यों पर आधारित होते है। अतः व्यावहारिक समस्याओं के हल के लिए उपयोगी है।

(5) इस विधि में नियमों के बजाय सामान्यीकरण विकसित करते हैं और भविष्यवाणी की जगह भावी प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया जाता है।

(6) यह चमत्कृत करने वाली विधि नहीं है।

(7) यह प्रणाली निगमन प्रणाली की सहायक है। निगमन प्रणाली के निष्कर्पो की सत्यता व वास्तविकता से जांच की जा सकती है।

(8) सांख्यिकीय विश्लेपण वैज्ञानिक होता है इसमें त्रुटि की मात्रा को कम किया जा सकता है।

दोप:— (1) आर्थिक भूगोल में मानव के व्यावहारात्मक स्वरूप का का अध्ययन किया जाता है अतः मानव पर प्रयोग करना कठिन है।

(2) इस पद्धति में सीमित निरीक्षण के आधार पर ही निष्कर्ष निकाले जाते अतः उनकी सत्यता सन्देहास्पद रहती है।

(3) यह पद्धति सर्व साधारण के लिये उपयोगी नहीं हैं। इसके लिये विशेष निपुणता व विशेपज्ञता की आवश्यकता होती है।

(4) सांख्यिकीय सूचनाओं से पूर्णतया निश्चित परिणाम नहीं निकाले जा सकते हैं। मान लीजिये हमने कुछ वर्षों के आंकड़ों से यह पाया कि जैसे ही चीनी के भाव बढ़े उसका उपयोग घट गया, लेकिन इसमें केवल यही बात नहीं है कि भाव बढने से उपयोग घटता हैं बल्कि अन्य कई कारण उपभोग को प्रभावित कर सकते हैं।

(5) कभी 2 निष्कर्ष निकालने वाला पक्षपात पूर्ण दृष्टिकोण भी अपना सकता

है। अतः इसमें पक्षपात का भय बना रहता है।

लेकिन फिर भी आजकल इस प्रणाली की लोकप्रियता बढ रही है इसका कारण पिछले कुछ वर्षों में विभिन्न प्रकार के आंकड़ों की उपलब्धि बड़े पैमाने पर होने लगी है। साथ ही सांख्यिकी का तेजी से विकास हुआ है। कम्प्यूटरों से आंकड़ों का विश्लेषण करने में सहायता मिली है। अतः इसका उपयोग बढता जा रहा है।

सैद्धान्तिक निगमन उपागम
(THEORETICAL-DEDUCTIVE APPROACH)

इस उपागम मे हम सामान्य सत्य के आधार पर विशिष्ठ सत्य की जानकारी करते हैं। इस प्रणाली में मानसिक विश्लेषण द्वारा सामान्य से विशिष्ठ की ओर आते है। अतः यह तर्क पर आधारित है। कभी 2 सामान्य सत्य स्वतः सिद्ध होते है अतः उनके आधार पर नये नियमों की खोज की जाती हैं। मनुष्य मरणशील है यह एक सामान्य सत्य है। देवेन्द्र भी एक मनुष्य है इस प्रकार तर्क द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि देवेन्द्र भी मरणशील है।

प्रारम्भ में जबकि सांख्यिकी का विकास नहीं हुआ था तब इसी उपागम का अधिक उपयोग होता था। यह उपागम कुछ मान्यताओं और कल्पनाओं के आधार पर तर्क का उपयोग कर निष्कर्ष निकालने में सहायक है। इन मान्यताओं की प्रकृति को पूरी तरह समझ लेने के बाद यह बात स्वीकार कर ली जाती है कि वे विवाद से परे है। रोबिन्स* के अनुसार "इनकी सत्यता को स्थापित करने के लिये हमें कोई नियंत्रित प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होती है। ये हमारे दैनिक अनुभव के इतने अभिन्न अंग होते है कि उन्हें व्यक्त करते ही पत्ता लग जाता है कि वे सही है।"

यह उपागम वैज्ञानिक-विधियों से मिलता जुलता है इसका अध्ययन का आधार इस प्रकार है—

(1) निरीक्षण करना (2) वर्गीकरण करना (3) स्पष्टीकरण करना (4) संभावनायें व्यक्त करना

*"We do not need controlled experiments to establish their validity. They are so much the stuff of our every day experience that they have only to be stated to be recognised as obvious.
ROBBINS,L. (1936, p. 79) An essay on the Nature and significance of Economic science.

(1) <u>निरीक्षण कार्य</u> :— यह कार्य ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अनुभव करके किया जाता है । यह अनुभव क्षेत्र में जाकर, पुस्तकालयों में उपलब्ध सामग्री जनगणना प्रतिवेदन, मानचित्र व अन्य प्रकाशित सामग्री की सहायता से प्राप्त कर सकते है जो गुणात्मक व मात्रात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है । लेकिन इसमें मात्रात्मक (आंकड़े) अधिक महत्वपूर्ण होते हैं ।

(2) <u>वर्गीकरण</u> :— वर्गीकरण का अर्थ है कि जो सूचनायें प्राप्त की गई है उन्हें विभाजित किया जाय । लेकिन उनका वर्गीकरण हमारे उद्देश्य से संबन्धित होना चाहिये वर्गीकरण साधारण भी हो सकता है और अधिक गहन भी । लेकिन यह इतना गहन एवं स्पष्ट अवश्य होना चाहिये जिससे कि हमारे उद्देश्य की पूर्ति हो सके ।

(3) <u>स्पष्टीकरण</u> :— वैज्ञानिक विधि में यही कार्य सबसे कठिन व सबसे महत्वपूर्ण होता है । प्राप्त सूचनाओं का स्पष्टीकरण तर्क संगत होना चाहिये । इसके लिए दृढ तर्क संगत आधार हो लेकिन यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि किसी प्रश्न का कोई एक ही स्पष्टीकरण नहीं होता है । स्पष्टीकरण तभी पूर्ण कहा जा सकता है जबकि स्पष्टीकरण जिस व्यक्ति को दिया जाता है वह कोई और प्रश्न न करें व संतुष्ट हो जाये । लेकिन स्पष्टीकरण अलग 2 स्तर के व्यक्तियों के लिये अलग 2 हो सकता है । जैसे बच्चे का मस्तिष्क अविकसित होता है अतः उसे किसी प्रश्न का स्पष्टीकरण साधारण शब्दों में व छोटे रूप में दिया जाता है । जबकि युवा और वृद्ध व्यक्ति के सामने स्पष्टीकरण अलग स्तर का होता है ।

आर्थिक भूगोग में स्थानीयकरण से सम्बन्धित समस्यायें आती है अतः स्थानीयकरण को स्पष्ट करने के लिये स्थानीयकरण के कारकों का उपयोग करना चाहिये जो कि स्थानिक भिन्नता वाले होते है । इसके लिये स्थानिक समानतायें जो सर्वत्र फैली होती है उनको एकत्रित करना बेकार है क्योंकि वे इस प्रकार के स्पष्टीकरण में कोई सहायता नहीं करती हैं ।

(4) संभावनायें व्यक्त करना :— संभावनायें दो प्रकार की हो सकती है

(1) हम निश्चय पूर्वक यह कह सके कि भविष्य में क्या होगा ।
(2) भविष्य में होने वाली संभावनायें व्यक्त करना ।

लेकिन हम जानते है कि क्षेत्रीय सिद्धांतों में मानव व्यवहार महत्वपूर्ण है अतः हम केवल संभावनायें ही व्यक्त कर सकते है न कि निश्चय पूर्वक

भविष्य वाणी ! विभिन्न चरों का चुनाव करने के लिये हमें आवश्यक एवं पर्याप्त दशाओं का ध्यान रखना चाहिये क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि कोई घटना आवश्यक दशायें होने पर पूरी ही घटित होगी लेकिन यह निश्चित है कि उन दशाओं के पर्याप्त न होने पर वह घटना घटित नहीं होगी या दूसरे शब्दों में यह कहा जासकता है कि पर्याप्त दशायें उपलब्ध हो तो घटना घटित होगी उदाहरण के लिए 'अ' के दाढी है इसलिए वह पुरुष है क्योंकि सभी पुरुष दाढी वाले होते है। लेकिन यह सत्य नहीं है क्योंकि कुछ औरतों के भी दाढी होती है अतः अ के लिये एक पुरुष होने के लिए दाढी का होना आवश्यक दशा है लेकिन मात्र मुंह पर बाल बढाने से ही पुरुष नहीं हो जाता, अतः दाढ़ी पर्याप्त दशा नहीं है।

इसी प्रकार वर्षा के लिये बादलों का होना आवश्यक है लेकिन बादलों के होने से ही वर्षा नहीं हो जाती है। वर्षा के लिये इन बादलों का किसी प्रकार ठंडा होना भी आवश्यक है। तभी वर्षा होगी अतः वर्षा के लिए बादलअपर्याप्त दशाहै। वर्षा बादलों के ठंडे होनेपर ही होगी। अतः बादलों का होना व उनका ठंडा होना वर्षा के लिए पर्याप्त दशायें हैं।

किसी भी सिद्धांत के तीन भाग होते हैं।

(1) परिकल्पना (2) मान्यतायें व (3) सिद्धांत के निष्कर्ष।

(1) परिकल्पना (Hypothesis) से तात्पर्य किसी घटना को स्पष्ट करने के लिये प्रारम्भिक रूप में की गई कल्पना से है जब हम किसी भौगोलिक तथ्य को वैज्ञानिक विधि से तर्क संगत स्पष्टीकरण द्वारा प्रारम्भिक अनुमान लगाते हैं, इसे परिकल्पना कहते हैं।

(2) मान्यतायें (Assumptions) ये तर्क सगत कथन होते हैं या संभावित सत्य की दशायें, जिन पर सिद्धांत निर्भर करता है जिससे परिकल्पना को वस्तविक जगत् की असंख्य जटिलताओं से हटा कर अधिक स्पष्टता से देखा जा सकता है।

(3) सिद्धांत के निष्कर्ष (Postulates) जो कि सिद्धांत के अन्तिम निष्कर्ष होते हैं लेकिन इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वैज्ञानिक परीक्षण करते समय हमारी मान्यतायें कमजोर से कमजोर व कम से कम हो जिन पर कि सिद्धांत आधारित है।

तर्क संगत कारण अनुमानित होते है अतः परिणाम भी अनुमानित

निकलते हैं जिन्हें बाद में वास्तविक जगत की घटनाओं से परखा जा सकता है। सभी वैज्ञानिक अन्वेषण कुछ सीमा तक अनुमानित परिकल्पनाओं से शुरु होते है। सिद्धांतों को समझने के लिए मॉडल्स का उपयोग किया जाता है, यह शब्दों में, गणितीय चिन्हों, रेखाचित्रों, भौतिक या ठोस रूप में हो सकते हैं, कुछ सरल होते है कुछ जटिल। अतः ये सिद्धान्त को व्यक्त करने वाले प्रतिरुप होते है मॉडल्स वास्तविक जगत से भी कुछ सम्बन्ध अवश्य रखते है, यद्यपि ये वर्तमान वास्तविक जगत से बहुत कम सम्बन्धित होते है लेकिन इन्हे इसके कारण अस्वीकार नहीं करना चाहिये।

संक्षेप में, सैद्धान्तिक उपागम बारीकी से निरीक्षण व उद्देश्यों के आधार पर वर्गीकरण करता है। यहां पर वह वैज्ञानिक विधि अपनाता है और उसका वैज्ञानिक स्पष्टीकरण देने के लिये कुछ मान्यतायें (कल्पनायें) लेता है जो कि वास्तविक जगत की वास्तविकताओं को हटाकर ली जाती है। अतः यह मुख्यतः मान्यताओं या अनुमानों पर निर्भर करता है। इसके अनुसार सम्पूर्ण संसार एक बड़ा मानव व प्रकृति का तन्त्र है जिसमें कई उप तन्त्र फैले हैं। अतः इस मानव व प्रकृति के तन्त्र की जटिलताओं को, व उसमें उत्पन्न स्थानिक प्रतिरूपों को उप तन्त्रों के सम्बन्धों और उनके विश्लेषण से समझना आवश्यक है।

विशेषतायें—संक्षेप में इस उपागम की निम्नांकित विशेषतायें हैं।

(1) वास्तविक जगत में बहुत जटिलतायें पायी जाती है। इसका अध्ययन इस उपागम के द्वारा सरलीकृत परिस्थिति में मानकर करते हैं, फिर वास्तविकता की ओर बढते हैं। अर्थात् काल्पनिक दशा से वास्तविकता की ओर आते हैं।

(2) गणित व तर्क का उपयोग होने से इससे प्राप्त निष्कर्ष सुनिश्चित होते हैं। यदि पर्याप्त सावधानी से काम लिया जाय तो निगमन उपागम अतुल्य है। मनुष्य की बुद्धि के लिए यह खोज का सबसे शक्तिशाली यंत्र है।

(3) सर्वसाधारण के लिए बहुत उपयोगी है क्योंकि अधिकांश मनुष्य किसी ऐसी प्रणाली जिसमें निरीक्षण, प्रयोग, शारिरिक श्रम की आवश्यकता हो, उसे अपनाने में कतराते हैं। इस विधि में घर पर बैठे 2 कुछ स्वयं सिद्ध निष्कर्षों व मोटे 2 अनुभवों के आधार पर निष्कर्ष निकाले जा सकते है।

(4) यह प्रणाली अनुमान लगाने व संभावनायें व्यक्त करने के लिए भी उपयुक्त है।

(5) यह प्रणाली कम खर्चीली है।

(6) इस प्रणाली में तर्क द्वारा नियम स्थापित किये जाते है अत: ये नियम निश्चित, विश्वसनीय व त्रुटि हीन होते हैं ।

(7) इसमें तर्क का आधार होने से पक्षपात का भय नहीं रहता है ।

(8) यह आगमन विधि के सहायक के रूप में भी काम आती है ।

दोष :— (1) यह वास्तविकता से परे हटकर काल्पनिक मान्यताओं पर निर्भर है। अत जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं वे तर्क संगत तो होते हैं लेकिन व्यावहारिक जगत में सत्य होंगे, इसकी कोई गारंटी नहीं है ।

(2) सामान्य सत्य की वास्तविकता को जांचना संभव नहीं होता है क्योंकि इस विधि में यह पत्ता लगाना कठिन होता है कि जिस सत्य के आधार पर हम बढ रहे हैं वह स्वयं कहां तक विश्वसनीय है ?

सैद्धान्तिक व संस्थागत उपागम में समानता :--

(1) वर्णन– किसी भी विषय को समझने के लिये या उसके विचारों को अभिव्यक्त करने के लिये वर्णन या स्पष्टीकरण आवश्यक है । यह विषय से, वस्तु से या विधि से सम्बन्धित होता है और कभी 2 तीनों से ही संबन्धित हो सकता है इसके आधार पर बाद में संबधित कार्य को आगे बढाया जा सकता है । अतः यह प्राथमिक दशा है ।

(2) मापदण्ड- साधारण वर्णन बहुत कम शुद्ध होता है अत: अधिक शुद्धता के लिये संख्या, सांख्यिकी व गणित की विधियों से व्यक्त किया जा सकता है । जनगणना के आंकड़े इसका सर्वोत्तम उदाहरण कहा जा सकता है । अत: विभिन्न मापदण्डों (मात्रात्मक स्वरुप) को अपनाना आजकल महत्वपूर्ण हो गया है इस दृष्टि से कम्प्यूटरों का उपयोग होने के कारण यह प्रक्रिया अधिक जटिल होने लग गई है ।

(3) वर्गीकरण- वर्गीकरण, वर्णन व मापदण्ड के बाद की स्थिति है, जिससे विषय को अधिक स्पष्ट समझने का प्रयास किया जाता है । यह शोध के विषय के अनुसार हो सकता है । विश्व में प्राकृतिक व मानवीय तत्वों का वितरण बड़ा ही अस्पष्ट है । अत: उन्हें किसी उद्देश्य के आधार पर वर्गीकृत करके समझा जा सकता है क्योंकि अर्थ तन्त्र का प्रतिरुप क्षेत्र को प्रभावित करता है व क्षेत्र, अर्थ तन्त्र के प्रतिरूप को प्रभावित करता है अत: यह वर्गीकरण दोनों ही उपागमों की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं ।

(4) वास्तविक व सापेक्षिक स्थिति :- दोनों ही उपागमों में महत्वपूर्ण हैं ।

(5) दोनों ही उपागम वर्तमान में आर्थिक गतिविधियों की स्थिति व उनका कार्य समझने के लिए ऊर्जा को महत्व देने हैं । इसका महत्व भावी संभावनाओं व नियोजन करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ऊर्जा का उपयोग निरन्तर बढता जा रहा है ।

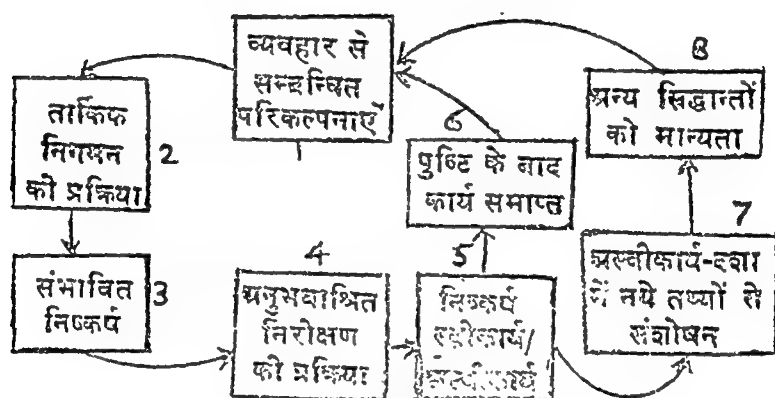
(6) दोनों ही उपागम उत्पादन में स्थिति की प्रवृत्तियों को महत्व देते हैं। सभी प्रकार की आर्थिक गतिविधियों में (विशेषकर शिल्प उद्योगों में) स्थिति निर्धारण को, माल व सेवायें पहुंचाने में कितना समय लगता है व कितनी लागत आती है, प्रभावित करती है। इस दृष्टि से सभी प्रारम्भिक गतिविधियां, प्रकृति द्वारा कच्चा माल जहां उपलब्ध होता है वहीं स्थापित होती है जैसे खनन, शिकार, मछली पकड़ना, पशुचारण, व वनों से संबधित व्यवसाय आदि। कृषि और विशेपकर शिल्प उद्योगों के लिये प्राकृतिक सीमायें इतनी कठोर नहीं है। मनुष्य जहां चाहे वहां उन्हें स्थापित कर सकता है। तृतीयक सेवाओं में विशेपकर पर्यटन व्यवसाय को छोड़ कर प्रकृति बहुत कम सीधे प्रभाव उनकी स्थिति पर डालती है। इस प्रकार की गतिविधि मुख्यतः बड़े घनी जनसंख्या के क्षेत्रों में, नगरों में, व यातायात के उपयुक्त क्षेत्रों में स्थापित होती है।

(7) दोनों ही उपागम में परिवर्तन के महत्व को स्वीकारा गया है दोनों में ही यह माना गया है कि भौगोलिक दशाओं में लगातार परिवर्तन हो रहे हैं और कुछ तो बहुत तेजी से हो रहे है ये मानव व प्रकृति से संबन्धित है अतः तकनीकी परिवर्तन व नई खोजों को समझकर ही इन परिवर्तनों व कार्यों को समझा जा सकता है।

(8) मानव जो सोचता है और वास्तव में जो सच है उसमें तुलनात्मक भेद होता है इसका बोध होना चाहिये। यह दोनों मानते हैं। वास्तव में वैज्ञानिक विभिन्न परिस्थितियों को किस प्रकार अनुभव करते है? और मानव किस प्रकार अनुभव करते हैं? वर्तमान की दशाओं को समझने के लिए इनका ज्ञान होना आवश्यक है जैसे वैज्ञानिकों द्वारा तूफान की चेतावनी देने के बावजूद भी जन साधारण उसको अधिक महत्व नहीं देता है तूफान के बाद भी पुनः उसी पुराने ढंग से रहने लगता है और पुर्ननिर्माण की नवीन विधियों का उपयोग नहीं करता है। अतः भावी नियोजन करते समय इन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

अन्तर- दोनों उपागमों में महत्वपूर्ण अन्तर विधि का है जहां आगमन उपागम तथ्यों के आधार पर आगे बढता है वहां सैद्धांतिक उपागम कल्पना व तर्क के सहारे आगे बढ़ता है। मोटे रूप में दोनों अलग 2 विधियां है लेकिन अधिक गहराई से देखा जाय तो दोनों ही थोड़ी बहुत एक दूसरे की पूरक व निर्भरता लिये हुये है। मान लीजिये कि आगमन उपागम में हम किसी निष्कर्ष पर पहुंचना चाहते हैं। तो विभिन्न प्रकार के उपलब्ध अकड़ों की सहायता लेते हैं, लेकिन किस प्रकार के आंकड़ों का चयन एवं उपयोग किया जाय इसके लिये कल्पना का

सहारा लेना पड़ेगा जबकि दूसरी ओर निगमन पद्धति अपनाते है तो अनुमानित सिद्धांतों की जांच के लिये हमें वास्तविक जगत के तथ्यों को प्राप्त करना पड़ेगा। अत: दोनों को अलग 2 मानना गलत है। मार्शल[2] के अनुसार वैज्ञानिक अध्ययन के लिये दोनों को उसी प्रकार आवश्यकता है जिस प्रकार चलने के लिए दांये व बांये पैर की आवश्यकता होती है। कौनसा वैज्ञानिक अध्ययन निगमनात्मक अधिक हैं और कौनसा आगमनात्मक। यह कहना कठिन है। प्रस्तुत चित्र संख्या 2.1, दोनों उपागमों के आधार पर सही वैज्ञानिक विधि से अध्ययन को स्पष्ट करता है।



चित्र संख्या 2.1

सैद्धान्तिक आर्थिक-भूगोल के नियम

(PRINCIPLES OF THEORETICAL ECO. GEOG.)

प्रत्येक विज्ञान के कुछ आधार भूत नियम होते हैं जो सभी दशाओं में एक से व्यवहार को सूचित करते है, उन्हें सभी दशाओं में एक समान रूप से लागू होते पाया गया है। ऐसे नियम जिनका भरपूर परीक्षण भले ही न किया जाय लेकिन फिर भी उन्हें अस्वीकार नहीं किया जाता है। नियम कहलाते हैं। सैद्धांतिक आर्थिक-भूगोल के भी अपने कुछ नियम है जो इस प्रकार है :--

१ तुलनात्मक लाभ का नियम

(PRINCIPLE OF COMPARATIVE ADVANTAGE)

सामान्यत: पृथ्वी पर कोई दो वस्तुयें समान रूप की नहीं होती है। इसी प्रकार पृथ्वी पर आर्थिक गतिविधियों में भी काफी अन्तर पाया जाता है। आर्थिक गतिविधियां उत्पादन, उपभोग, वितरण, परिवहन, विकास की दृष्टि से अलग 2 स्तर की होती है। यही भिन्नतायें क्षेत्रीय विभिन्नताओं के स्तर को स्पष्ट करती है क्योंकि कहीं संसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, जब कि कहीं

पर अच्छी संगठन व्यवस्था उपलब्ध है, तो कहीं पर बाजार से या पदार्थों से निकटता उपलब्ध है, जिसके परिणाम स्वरूप किसी स्थान विशेष को कुछ विशेष सुविधाओं का लाभ प्राप्त हो जाता है। वहां विशेष लाभ के कारण वस्तुओं का उत्पादन अधिक होता है, जिससे पारस्परिक क्रिया या व्यापार या आपसी सम्बन्धों की शुरुआत होती है।

इस प्रकार एक प्रदेश को दूसरे प्रदेश की तुलना में जो लाभ प्राप्त होता है इसे डेविड रिकार्डो[3] ने 1817 में तुलनात्मक लाभ का नियम बताया। इस नियम के प्रयोग के लिये कुछ आवश्यक दशायें महत्वपूर्ण हैं।

(1) वस्तुयें जिसके उत्पादन में एक क्षेत्र का विशिष्टीकरण है वह आदान प्रदान के योग्य हों।

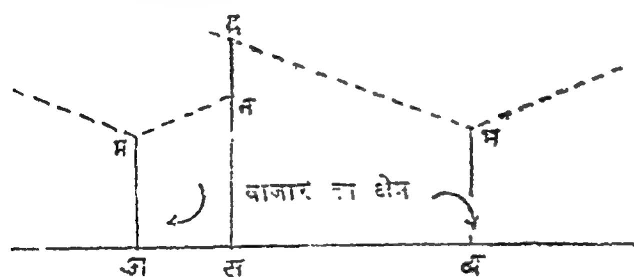
(2) जिस क्षेत्र में वे उत्पन्न की जाती है वहां वे वस्तुयें मांग के अतिरिक्त पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो तथा उनकी अन्य क्षेत्रों में मांग हो। अर्थात् मांग व पूर्ति के क्षेत्र एक दूसरे से पारस्परिक-क्रिया करने के योग्य होना चाहिये।

रिकार्डो के इस सिद्धांत के अनुसार एक प्रदेश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है जिसमें उसे तुलनात्मक दृष्टि से लाभ प्राप्त होता है अर्थात् उन वस्तुओं का उत्पादन करता है जिसमें उसे अधिक से अधिक शुद्ध लाभ (Absolute Advantage) होता है या उससे शुद्ध हानि कम से कम होती है। दूसरे रूप में, मान लीजिये दो प्रदेश हैं जहां गन्ने का उत्पादन होता है लेकिन एक प्रदेश दूसरे प्रदेश की अपेक्षा सस्ती दर पर गन्ना बेचता है तो हम कह सकते है कि गन्ने के उत्पादन में वह प्रदेश दूसरे प्रदेश पर शुद्ध लाभ की स्थिति में है यह संभव है कि दूसरा प्रदेश किसी अन्य वस्तु जैसे कपास को पहले वाले प्रदेश की अपेक्षा सस्ती दर पर बेचता हो तब वह भी कपास के उत्पादन में पहले वाले प्रदेश पर शुद्ध लाभ रखता है। दूसरे शब्दों में एक प्रदेश दूसरे प्रदेश की तुलना में अधिक कुशलता से उत्पादन करता है। वॉन थूइनेन[4] व वेबर[5] के सिद्धांतों में भी तुलनात्मक लाभ का नियम कार्य करता है।

लेकिन जैसा कि हम जानते हैं यह सब किसी प्रदेश विशेष में उपलब्ध भौतिक सुविधायें— भूमि, जल, उपयुक्त तापमान, उपजाऊ मिट्टी, खनिज, एवं श्रम की पूर्ति, पूंजी की सुविधा, कच्चे माल, सरकारी निति, बाजार की निकटता आदि पर निर्भर करता है। जिसके कारण ही आज विकसित व अर्द्ध विकसित अर्थ व्यवस्थायें विकसित हुई हैं। लेकिन संसाधनों एवं अन्य सुविधाओ की विविधता के कारण कुछ प्रदेश या देश लगभग सभी प्रकार के उत्पादन में शुद्ध लाभ रखते हैं जबकि कुछ देश सुविधाओं व संसाधनों की कमी के कारण

शुद्ध हानि रखते हैं। तब क्या केवल विकसित देश ही विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करें और अन्य देश(अर्द्ध विकसित व अविकसित)किसी वस्तु का उत्पादन न करें ।

वास्तविक दशाओं में ऐसा नहीं होता हैं, बल्कि प्रत्येक प्रदेश अपने द्वारा संभावित रूप से श्रेष्ठतम प्रयास करता है। विकसित प्रदेश उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण करते हैं, जिसमें अधिकतम शुद्ध लाभ हो, जबकि अविकसित प्रदेश उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेंगे जिसमें उन्हें कम से कम शुद्ध हानि हो। अतः उस वस्तु के उत्पादन में जिसमें किसी प्रदेश को दूसरे प्रदेश की तुलना में अधिकतम लाभ प्राप्त होता है उसे तुलनात्मक लाभ कहते हैं। इसी तरह किसी प्रदेश में किसी वस्तु के उत्पादन में सभी प्रकार की हानियां उसकी कम से कम शुद्ध हानि प्रदर्शित करती हैं । इसे भी तुलनात्मक लाभ का नियम कहते हैं। आर्थिक भूगोल में आर्थिक गतिविधियों में इसका उपयोग किया जा सकता है। आर्थिक भूगोल में तुलनात्मक लाभ स्थानीय स्थिति व प्रादेशिक या सापेक्षिक स्थिति से संबन्धित है । उदाहरण के लिये चित्र 2.2 में अ और ब दो स्थितियां है । अ पर एक वस्तु का उत्पादन म मूल्यपर होता है और ब पर भी यह म मूल्य पर होता हैं लेकिन अ अपने माल को स पर ब की



चित्र संख्या 2.2

अपेक्षा कम मूल्य पर बेचता है । इससे अ को स स्थिति पर ब की अपेक्षा तुलनात्मक स्थिति का लाभ प्राप्त है क्योंकि अ का माल स न मूल्य पर बिकेगा जबकि ब का माल सद मूल्य (ऊंची दर पर) बिकेगा ।

लेकिन किसी भी प्रदेश में विशिष्टीकरण की भी सीमा होती है उसके बाद शुद्ध लाभ में कमी होने लगती है क्योंकि अधिक उत्पादन से मांग की तुलना में पूर्ति अधिक होती है जिससे मांग कम हो जाती है और मूल्य गिर जाते हैं व आय कम हो जाती है। साथ ही अधिक उत्पादन के लिए लागत तत्वों की भी अधिक आवश्यकता होती हैं, इसके लिए संसाधनों के मालिकों को भी अधिक मूल्य देना पड़ता है (क्योंकि एक प्रदेश के साधन सीमित होते हैं।) तब भी शुद्ध आय में कमी हो जाती हैं और तब विशिष्टीकरण की सीमा निर्धारित हो जाती हैं।

जब तुलनात्मक लाभ का नियम कृषि के क्षेत्र में अपनाते है तब वह इस प्रकार होगा। माना कि दो उत्पादक क्षेत्र उत्तर प्रदेश और विहार हैं। इन दोनों में उत्पादन के लिए आवश्यक संसाधन सीमित है यह भी माना जाय कि बाजार में दो वस्तुओं, चावल व मक्का की मांग है यह मांग उत्पादन के बराबर या उससे अधिक है। अब अगर दोनों फसलों का प्रति हेक्टेयर उत्पादन दोनों राज्यों में इस प्रकार हैं।

उत्तर प्रदेश- गेहूं 1287 कि. ग्रा. मक्का 742 कि. ग्रा.

विहार- गेहूं 1050 कि. ग्रा. मक्का 1100 कि. ग्रा.

तो इस स्थिति में उत्तर प्रदेश में गेहूं का विशिष्टीकरण होगा व विहार में मक्का का तथा उत्तर प्रदेश, विहार को गेहूं देगा व विहार, उ. प्र. को मक्का देगा। क्योंकि विहार को कम से कम हानि मक्का उगाने में है जबकि उत्तरप्रदेश को तुलनात्मक शुद्ध लाभ गेहूं के उत्पादन में है।

दूरी के अनुसार प्रभाव क्षीणता का नियम (PRINCIPLE OF DISTANCE-DECAY)

यह भी आर्थिक भूगोल विशेषकर सैद्धांतिक आर्थिक भूगोल का महत्वपूर्ण नियम है जिससे तात्पर्य है कि जैसे 2 दूरी बढती जाती है विभिन्न चरों (variables) का प्रभाव क्षीण होता जाता है। भूगोल में हम स्थानिक चरों का अध्ययन करते हैं। जैसे 2 दूरी बढती जाती है वैसे ही इन चरों का प्रभाव कम होता जाता है। क्योंकि यह नियम दूरी से संबन्धित है। यह गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत के समान है, जिसके अनुसार दो वस्तुओं के मध्य की दूरी कम होने पर उनमें आकर्षण अधिक होता है जबकि दूरी बढने पर आकर्षण दूरी के वर्ग के अनुपात में कम होता जाता है, जिसे निम्न सूत्र से व्यक्त करते हैं —

$$G = \frac{M^1 \times M^2}{d^2}$$

$$\text{गुरुत्वाकर्षण} = \frac{\text{एक वस्तु की मात्रा} \times \text{दूसरी वस्तु की मात्रा}}{\text{दोनों के मध्य की दूरी का वर्ग}}$$

दूरी के अनुसार यह प्रभाव क्षीणता का नियम लागू होता है। उदाहरण के लिए हम हमारे आस पास के वातावरण के बारे में अधिक जानते हैं लेकिन जैसे 2 दूरी बढती है हमारा ज्ञान उन क्षेत्रों के बारे में कम होता जाता है। ऐसे ही अपने शहर के बारे में ज्यादा जानते है व दूर के शहरों के बारे में हमारा ज्ञान कम होता जाता है। शहर के मध्य में इमारतों की संख्या अधिक होती है, जैसे 2 केन्द्र से दूरी बढती है संख्या कम होती जाती है। रेल्वे का किराया

जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है दूरी के अनुपात में न बढ़कर कम बढ़ता है। ये सब उदाहरण उक्त नियम की पुष्टि करते हैं। इस नियम के निम्नांकित कारण मुख्य हैं।

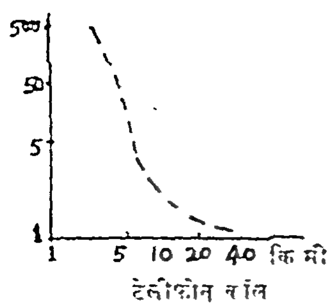
(क) आर्थिक कारण :— आर्थिक कारण दो प्रकार के होते है।

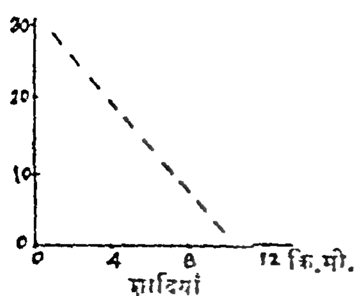
(1) दूरी तय करने में लगने वाला समय।

(2) दूरी तय करने में लगने वाली मुद्रा।

ये दोनों ही दूरी के अनुसार बढ़ते है लेकिन यह वृद्धि दूरी के अनुपात में न हो कर कम होती जाती है। जैसे एक निश्चित बिन्दु से किसी वस्तु की जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है मुद्रा की लागत बढ़ती जाती है और उस वस्तु का उपयोग मूल्य घट जाता है। इसी प्रकार से किसी इच्छित वस्तु में दूरी के अनुसार अगर समय अधिक लगता है, उसका मूल्य भी घट जाता है लेकिन इन दोनों में से एक ही एक समय प्रभावी होता है।

(ख) अनार्थिक कारण :— कुछ अन्य कारक भी होते है जिसके कारण यह क्षीणता देखी जाती है. जिसमें व्यक्ति की कम से कम मेहनत करने की भावना, निकट सम्बन्ध आदि हैं। जैसी सूचनाओं का आदान प्रदान नजदीक के क्षेत्रों में अधिक होता है, जबकि दूर के क्षेत्रों मे कम। पत्र व्यवहार शादियां, टेलीफोन आदि आस पास के स्थानों पर अधिक होती है और जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है, इनकी संख्या कम होती जाती है। चित्र (2.3) में दूरी के अनुसार प्रभाव क्षीणता के कुछ उदाहरणों को स्पष्ट किया गया है।





इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है विभिन्न गतिविधियों की गहनता का प्रभाव क्षीण होता जाता है। द्विवेदी[6] (1965) ने इलाहबाद नगर की जनसंख्या का अध्ययन करते हुए पाया कि नगर के मध्य में जनसंख्या का घनत्व अधिक है और जैसे 2 बाहर की ओर दूरी बढ़ती है घनत्व कम होता जाता है। ऐसा ही शास्त्री[7] (1973) ने नागपुर में जनसंख्या की वृद्धि व वितरण का अध्ययन करते हुये पाया। कुम्भट[8] (1968) ने जोधपुर नगर के रिहायशी

मकानों का अध्ययन करते हुये पाया कि रिहायशी मकानों की सघनता शहर के केन्द्र से दूरी बढ़ने के साथ कम होती जाती है।

क्षेत्रीय क्रम और सम्बद्धता का नियम

(PRINCIPLE OF SPATIAL ORDER AND LINKAGES)

सैद्धांतिक आर्थिक भूगोल वेता क्षेत्रीय क्रम में विश्वास रखता है। जैसा कि हम जानते हैं विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन व उपभोग होता है लेकिन कुछ क्षेत्रों में उत्पादन अधिक होता हैं, जबकि कुछ क्षेत्रों में उपभोग अधिक होता है। अतः अधिक उत्पादन के क्षेत्रों से कम उत्पादन या अधिक उपभोग के क्षेत्रों की ओर वस्तुयें गतिशील होती हैं। जिसके कारण दोनों में सम्बद्धता विकसित होती हैं। आर्थिक भूगोल में विभिन्न आर्थिक गतिविधियों की स्थिति व आपसी सम्बधों को स्पष्ट किया जाता है। इसका मुख्य कारण यही है कि विभिन्न क्षेत्रों में फैली हुई अर्थ व्यवस्थायें विभिन्न स्तर (क्रम) की है जो विभिन्न प्रकार का उत्पादन करने में लगी हैं। यह उत्पादन विभिन्न प्रकार के संसाधनों, श्रम, पूंजी, बाजार, तकनीकी ज्ञान, सरकारी नीतियां, संगठन की योग्यता व वस्तुओं की दूरी आदि कई बातों पर निर्भर करता हैं। इसके कारण कुछ क्षेत्र अधिक लाभ प्रद स्थिति में होते हैं व कुछ अलाभप्रद स्थिति में। इसको विभिन्न वस्तुओं व मनुष्यों की गतिशीलता से दूर किया जाता हैं। यह प्रवाह या गतिशीलता ही संबद्धता कहलाती हैं। जो विभिन्न आर्थिक गतिविधियों में विभिन्न स्तर पर पाई जाती है।

उदाहरण के लिए अ स्थान पर उत्पादन होता है व ब स्थान पर उपभोग होता है अतः अ से ब की ओर वस्तुओं का प्रवाह होगा यही प्रवाह अ और ब के मध्य सम्बद्धता या सम्बन्धों को प्रकट करती है यहां यह धरातलीय सम्बद्धता का रूप है। इसी प्रकार लम्बवत और कर्णवत सम्बद्धता का स्वरूप भी विभिन्न आर्थिक गतिविधियों में पाया जाता है।

सहलग्नता

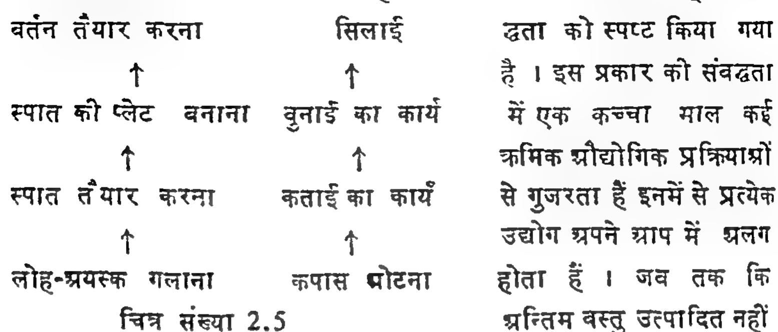
अ ——————————→ ब

उत्पादक स्थान   उपभोक्ता स्थान

चित्र संख्या 2.4

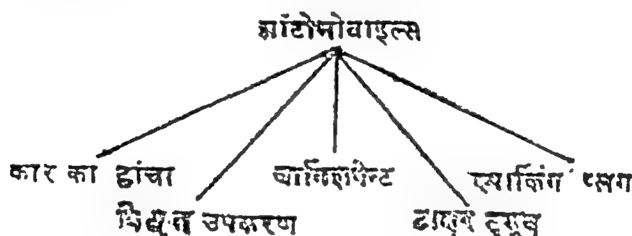
सम्बद्धता आंतरिक व बाह्य दोनों प्रकार की होती है सम्बद्धता प्रवृत्ति व जटिलता की दृष्टि से भी भिन्नता लिए होती है। कुछ आर्थिक गतिविधियों में यह सम्बद्धता एक या दो से होती है जबकि कुछ में यह कई एक से होती है। यह सम्बद्धता माल के प्रवाह, सूचनाओं के प्रवाह, मानव प्रवाह आदि के रूप में होती है। एक का उत्पादन दूसरे का कच्चा माल (लागत तत्व) बनता हैं।

कई उद्योग एक दूसरे से सम्बद्धता लिये होते हैं । विभिन्न उद्योगों में कई प्रकार की सम्बद्धतायें पायी जाती हैं । चित्रो में विभिन्न उद्योगों में लम्बवत, क्षैतिज, कर्णवत सम्बद्धता को स्पष्ट किया गया है । चित्र संख्या 2.5 में लम्बवत् सम्बद्धता को स्पष्ट किया गया है । इस प्रकार की संवद्धता में एक कच्चा माल कई क्रमिक औद्योगिक प्रक्रियाओं से गुजरता हैं इनमें से प्रत्येक उद्योग अपने आप में अलग होता हैं । जब तक कि अन्तिम वस्तु उत्पादित नहीं हो जाती । यहां कच्चे माल के रूप में कपास से वस्त्र उत्पादन तक यह विभिन्न प्रक्रिया से गुजरती हैं । ऐसा ही लोह अयस्क से वर्तन वनाने तक का कार्य लंबवत् सम्बद्धता को स्पष्ट करता हैं ।



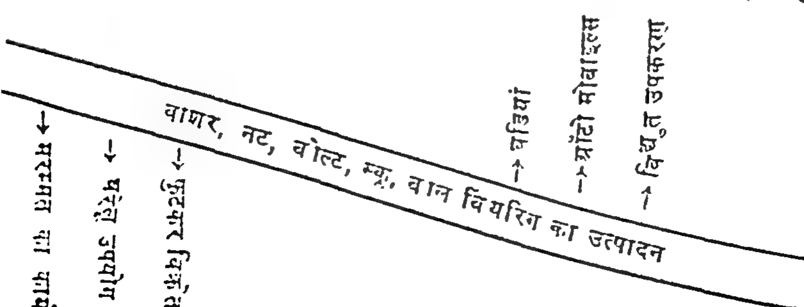
चित्र संख्या 2.5

चित्र संख्या 2.6 में धरातलीय सम्बद्धता को स्पष्ट किया गया हैं । जिसमें विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन विभिन्न उद्योगों के द्वारा होता हैं और अन्त में एक वड़ी वस्तु के अंगों के रूप में काम आती हैं । चित्र में एक आॅटोमो-- बाइल्स में कई उद्योग किस प्रकार सहायता करते हैं, यह स्पष्ट किया गया हैं ।



चित्र संख्या 2.6

चित्र संख्या 2.7 में कर्णवत् सम्बद्धता को देखा जा सकता हैं जिसमें एक ही वस्तु

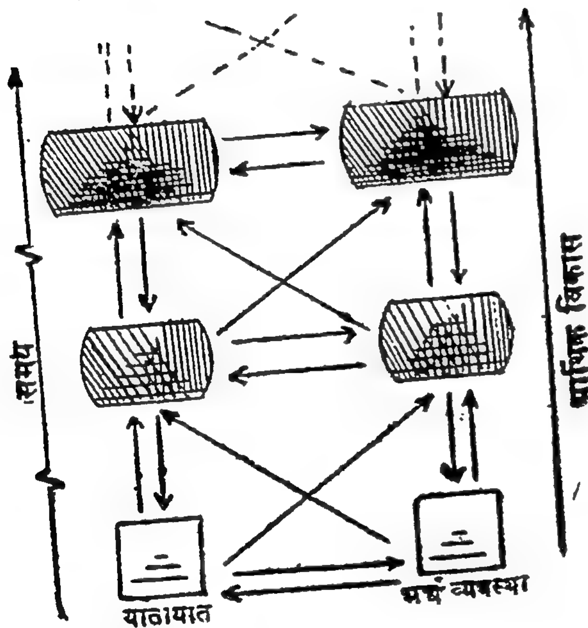


का उपयोग विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में किया जाता है, जैसे स्पात के तार का उपयोग कई वस्तुओं के उत्पादन में होता है यह नट, स्क्रू, जंजीरें, कीलें, केवल आदि बनाने के काम में लिया जाता है।

स्पात के तार का उत्पादन				
↓	↓	↓	↓	↓
कीलें	स्क्रू	नट	जंजीर	केवल

चित्र संख्या 2 8

सम्वद्धता समय व लागत दोनों से प्रभावित होती है। इसके साथ ही स्थिति सम्बन्धी निर्णय किसी न किसी अंश तक इससे सम्बन्धित होते है। कई उद्योग या व्यवस्थाएें एक से अधिक प्रकार की सम्बद्धता के अन्तर्गत ली जा सकती है। यहां चित्र 2.9 में यातायात के विकास व आर्थिक विकास की सम्बद्धता को स्पष्ट किया गया है।



चित्र संख्या 2 9

जोहन्सटन* (1973) के अनुसार सम्बद्धताएें भी अपने आप में जटिलता व प्रवृत्ति दोनों दृष्टि से कई होती हैं। कुछ

* "The linkages themselves also vary both in complexity and in nature. Some firms may interact with only one or two sources for inputs or destination for outputs; others may intract with many" Johnston, R J. (1973, p 73-74); Spatial Structures, Methun & Co. London.

फर्में लागत तत्वों के लिये या उत्पादित माल के लिये एक या दो स्त्रोतों से या मंजिलों से आपसी क्रिया करती है जब कि कई फर्में अन्य कई एक से आपसी क्रिया करती है।

1. CHISHOLM, G. G. (1889, 1966) Hand Book of Commercial Geography, 1st and 18th editions, London.

2. MARSHALL, A. (1959) Principles of Economics. London PP 24.

3. RICARDO, D. (1817) Principles of Political Economy and Taxation. Everyman's ed. London.

4. VONTHUNEN, J. H. (1826) Isolated State, (trans.1966) Pergamon Press London.

5. WEBER, A. (1909). Theory of the Location of Industries (trans. 1929). University of Chicago Press, Chicago.

6. DWIVEDI. R. L (1965) Demographic Features of Allahabad City, Geographical Review of India. Vol.XXVII 4(Dec.) 163-81

7. SHASTRI, P. S. (1973) Growth and Distribution of Population in Nagpur City, National Geographer, Vol. VIII p. 63-70

8. KUMBHAT, P C. (1968) Some Aspects of Residential Housing in Jodhpur The Indian Journal of Geography. Vol. III, 1 (Jan.)

३

सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल की संकल्पनायें

(CONCEPTS OF THEORETICAL ECONOMIC GEOG.)

सभी विषयों के अध्ययन में आधार भूत संकल्पनाएँ या अवधारणाएँ होती है। इन्हीं के आधार पर किसी विषय की समस्याओं और उद्देश्यों को समझा जा सकता है। ये विषय की प्रगति की दिशा को निर्धारित करती हैं। सामान्यत. परिभाषा, सिद्धान्त व संकल्पनाओं में काफी अन्तर होता है। अगर कम से कम शब्दों मे अधिक से अधिक बात कह दी जाय तो उसे हम परिभाषा कहते हैं। दूसरी ओर सिद्धान्त विषय के सत्यों को खोजने के मापदण्ड कहे जा सकते हैं, जबकि संकल्पनाएँ विषय का स्वरुप बनाती है। संकल्पना के साथ 2 सह सकल्पनाएँ विकसित होती है, जिससे विषय की गहनता और वैज्ञानिक आधार बनता है। इससे विषय अधिक समृद्ध एव पुष्ट होता है। सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल की निम्न प्रमुख सकल्पनाएँ हैं—

समानता का क्षेत्र व असमानता के क्षेत्र की संकल्पना

(CONCEPT OF ISOTROPIC AND ANISOTROPIC SPACE)

'आइसो ट्रोपिक' (ISOTROPIC) शब्द ग्रीक भाषा का है जिसमें (ISOS) आइसोस से तात्पर्य समानता व (TROPUS) ट्रोपस से तात्पर्य धरातल है अर्थात समानता वाले धरातल से है। इस शब्द का भूगोल में सर्व प्रथम प्रयोग हेगरस्ट्रैण्ड ने किया।

आर्थिक भूगोल-वेता का कार्य इस बात से शुरू होता है कि कोई आर्थिक गतिविधि कहां पर स्थित है ? और क्यो स्थित है ? वह अपना विश्लेषण प्रारम्भ करने से पूर्व, वास्तविक ससार, जो काफी जटिलताओ से भरा है उसको सरलीकृत (साधारण स्वरूप वाला) बनाता है यही से समानता युक्त क्षेत्र की सकल्पना की शुरूआत होती है। समानता युक्त क्षेत्र से तात्पर्य पृथ्वी के ऐसे भाग से है जो सभी दशाओ मे समानता लिये होता है। इस भाग में किसी प्रकार की असमानता नही होती है। इसे हम एक आदर्श दशाओ वाला भू भाग कह सकते हैं। यह सकल्पना यूक्लीडियन-2 स्थानिक* (Euclidean-2 Space) पर आधारित है, जिसका आधार क्षेत्र की लम्बाई व चौड़ाई से है।

---

* वास्तविक जगत जिसमे हम रहते हैं वह त्रिविमीय (Three dimensional) है जिसमे लम्बाई, चौड़ाई व गहराई या ऊंचाई है। जबकि यूक्लिडियन-2 स्थानिक मे केवल लम्बाई और चौड़ाई ही होती है अतः यह द्विविमीय ही है।

अगर इसी समानता युक्त क्षेत्र में (आदर्श दशाओं वाले क्षेत्र में) नदी, नगर फैक्ट्री आदि स्थापित करते हैं, तब यह समानता युक्त क्षेत्र (ISOTROPIC SPACE) नहीं रहेगा बल्कि जटिलताओं से युक्त क्षेत्र हो जायेगा। इसे ही असमानता युक्त क्षेत्र (ANISOTROPIC SPACE) कहते हैं, जो हमें वास्तविक जगत में देखने को मिलता है। इस प्रकार किसी क्षेत्र से वास्तविक जगत की विशेषताएँ हटा दी जायें तो समानता युक्त क्षेत्र होगा जो बहुत सरलीकृत रूप में होगा। इसमें हम जितनी ही बातें (जटिलताएँ) जोड़ने की अनुमति देंगे, उतना ही यह जटिल होता जायेगा या वास्तविक जगत के निकट आता जायेगा।

समानता युक्त क्षेत्र वास्तविक जगत में कहीं देखने को नहीं मिलता है लेकिन इसे अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। अगर इसमे जटिलताएँ जोड़ते जाएँ तो यह वास्तविक जगत की जटिलताओं को समझने में बहुत सहायक होगा। इसे भूगोल-वेत्ता की प्रयोगशाला कह सकते हैं।

भौगोलिक क्षेत्र व उसके नापने की संकल्पना
(GEOGRAPHIC SPACE AND ITS MEASUREMENT)

आर्थिक भूगोल वेत्ता को कई प्रकार के क्षेत्रों से परिचित होना चाहिये (जिसकी वजह से आर्थिक वातावरण मे कई जटिलताएँ देखने को मिलती हैं) यूक्लिडियन क्षेत्र अथवा मैट्रिक क्षेत्र और न्यूटोनियन क्षेत्र (जिसमे अक्षांस देशान्तरो की सहायता से स्थिति निर्धारित करते हैं) आदि। लेकिन आर्थिक भूगोल वेत्ता सापेक्षिक स्थिति से अधिक सम्बन्धित होता है न कि अक्षांसीय व देशान्तरीय स्थिति से। उदाहरण के लिये एक व्यक्ति अपने मकान की स्थिति अक्षांस व देशान्तरो की सहायता से शुद्धतापूर्वक निर्धारित कर सकता है लेकिन वह सापेक्षिक स्थिति से अधिक सम्बन्ध रखता है अर्थात् उसका मकान स्कूल से या बाजार से या कार्य के स्थान से कितना दूर है, अधिक अर्थ रखती है जबकि निरपेक्ष या भौगोलिक स्थिति बहुत कम महत्व की होती है।

आर्थिक भूगोल मे दूरी विशेषकर क्रियात्मक क्षेत्र (OPERATIONAL or ACTION SPACE)* के रूप मे जानी जाती है। इसे लागत क्षेत्र (COST SPACE) या समय क्षेत्र (TIME SPACE) समझा जाता है। जैसे

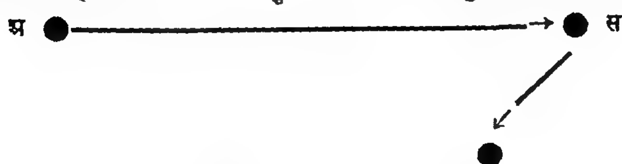
---

* क्रियात्मक क्षेत्र भी (Action Space) लागत क्षेत्र या सामयिक क्षेत्र की तरह ही है जिसमे व्यक्ति कार्य करता है या क्रिया करता है। जैसे हमेशा स्कूल या काम के स्थान पर जाना व वापस लौटना क्रियात्मक क्षेत्र (Action Space) कहलाता है।

बम्बई की भौगोलिक स्थिति की अपेक्षा उसकी कलकत्ता, मद्रास या देहली के संदर्भ में स्थिति अधिक महत्वपूर्ण होती है। आर्थिक भूगोल में इनके मध्य की वास्तविक दूरी (मीलों या किलोमीटरों में) इतनी अधिक महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि इस दूरी में लगने वाली लागत व समय महत्वपूर्ण होता है। जिन पर आर्थिक गतिविधियां निर्भर करती है। इन्हें क्रियात्मक क्षेत्र (OPERATIONAL SPACE) कहते हैं। इस प्रकार वास्तविक दूरियां जो पृथ्वी के धरातल पर पाई जाती है यह आवश्यक नहीं है कि लागत क्षेत्र, सामयिक क्षेत्र व क्रियात्मक क्षेत्र के समान हो बल्कि ये सब माल भाड़े की दर, किराया, यात्रा के समय आदि के अनुसार अलग अलग हो सकती है। अतः आर्थिक भूगोल की यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण सकलपना है जिसमे हम वास्तविक दूरी की अपेक्षा लागत क्षेत्र, सामयिक क्षेत्र, व क्रियात्मक क्षेत्र से सम्बन्धित होते हैं। इसके कारण स्थानिक विरुपण एवं आकृति-रूपान्तरण (SPACE DISTORTION AND SHAPE TRANSFORMATION) हो जाता है।

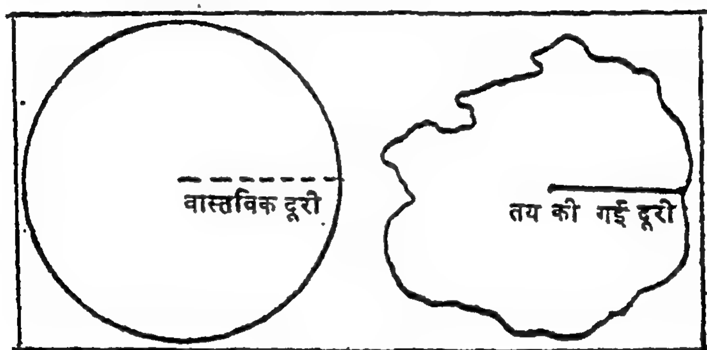
जैसा कि हमने देखा है क्रियात्मक क्षेत्र वास्तविक क्षेत्र से भिन्न होता है। इसको हम वास्तविक जगत में भी देखते हैं कि सभी स्थानों पर परिवहन लागत में भिन्नता मिलती है। वैसे भी सामान्यतः प्रारम्भ की कम दूरियों पर परिवहन लागत अधिक होती है जैसे 2 दूरी बढती जाती है परिवहन लागत भी बढ़ती है। लेकिन यह उसी अनुपात में नहीं बढ़ती है बल्कि दूरी के अनुपात में कम ही बढ़ती है। जैसे किसी स्थान से 5 या 10 किमी दूर जाने पर या माल ले जाने पर परिवहन लागत अधिक होती है फिर जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है परिवहन लागत भी बढ़ती है लेकिन 50 से 100 किमी की दूरी पर लगने वाली परिवहन लागत के अनुपात में 500 या 1000 किमी की दूरी की परिवहन लागत कम हो जाती है अतः लागत क्षेत्र असमान होता है। इसी तरह शहर के किसी केन्द्र से दूरी तय की जाती है तो प्रथम 2-3 मील तक समय अधिक लगता है और जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है आनुपातिक रूप से न बढ़कर समय कम ही लगताहै। प्रकार सं सामयिक क्षेत्र असमान या विरूपित होता है।

ऐसे ही वास्तविक दूरी व तय की गई दूरी में काफी अन्तर होता है जैसे दो शहरों के मध्य की दूरी चित्र 3.1 मे (शहर अ और ब के मध्य) 500 किलोमीटर है लेकिन ब पर पहुंचने के लिये वायुयान द्वारा पहले शहर



चित्र संख्या 3 1

स तक जाना पड़ेगा और फिर व तक आना पड़ेगा। इसी तरह कई बार कम से कम दूरी का उपयोग कई बाधाओं के कारण नहीं कर सकते हैं, तब हम घूम-कर निश्चित स्थान पर पहुंचते हैं इस प्रकार वास्तविक दूरी व क्रियात्मक दूरी मे अन्तर होता है। जिससे उस क्षेत्र का आकार भी बदल जाता है सामान्यत: सैद्धान्तिक रूप में एक समानता वाले क्षेत्र में (जिसमें कोई भिन्नता न हो) केन्द्र से चलने पर चारों ओर की दूरियां समान समय मे तय की जा सकती है तब क्षेत्र का



चित्र सख्या 3.2

स्वरूप पूर्ण वृत्ताकार होगा लेकिन अगर वास्तविक रूप से शहर के केन्द्र से सड़कों के सहारे ही दूरियां तय की जाती है। तो उसमें लगने वाला समय अलग2 मार्ग पर अलग 2 होता है जिससे उसकी आकृति वृत्ताकार से बदल कर अलग हो जाती है जैसा कि चित्र 3.2 में दिखाया गया है।

अवस्थिति की संकल्पना (Concept of site and situation)

(बसाव-स्थल एवं बसाव-स्थिति की संकल्पना)

भूगोल से सम्बन्धित कोई भी छोटी से छोटी वस्तु, कुछ न कुछ स्थान अवश्य घेरती है। यह स्थान छोटा हो सकता है या विस्तृत प्रदेश हो सकता है। जिस धरातल पर विस्तार होता है वह उसका बसाव-स्थल (Site) होता है। इसका तात्पर्य उस घेरे हुये स्थान की आन्तरिक विशेषताओ से है। जैसे नगर पर्वत की तलहटी मे है या नदी के किनारे। समतल भाग में है अथवा चट्टानी प्रदेश पर। यदि वह स्थान शहर है तो उसकी जन संख्या, घनत्व, माल का मूल्य, शहरी कर आदि सब बसाव स्थल की विशेषताएँ कहलाती है।

जबकि बसाव-स्थिति स्थानिक सम्बन्धो को बताती है जो किसी एक स्थान के अन्य स्थानों के सन्दर्भ में होते हैं। उदाहरण के लिये बाजार, आवास से

कितना दूर है ? बसाव स्थिति, स्थिति की बाहरी विशेषताओं से सम्बधित है। इसी पर उसका सापेक्षिक महत्व निर्भर करता है। यह वाह्य सम्बन्ध बहुत महत्वपूर्ण व लगातार परिवर्तनशील होते है जिसके कारण लागत क्षेत्र, सामयिक क्षेत्र व क्रियात्मक क्षेत्र को तेजी से प्रभावित करते हैं।

मापक की संकल्पना (Concept of Scale)

आर्थिक भूगोल में हम कई स्तर की समस्याओं को पाते हैं और उन्हे हल करने की कोशिश करते है। ये समस्याएँ स्थानीय स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक की हो सकती है। लेकिन इन सबको एक ही स्तर या मापदण्ड से नहीं आंका जाना चाहिये। अत: आर्थिक भूगोल में विभिन्न प्रश्नों या समस्याओं को अलग 2 निरीक्षण के स्तर पर या पृथक 2 मापदण्डों से देखा जाना चाहिये। क्योंकि निरीक्षण भी प्रश्नों व समस्याओं के भिन्न 2 प्रकार के आधार पर अलग 2 स्तर का होगा। जो वस्तु एक परिवार के लिये महत्वपूर्ण है वह एक समुदाय के लिये जरूरी नहीं कि महत्वपूर्ण हो। इसी तरह जो समुदाय के लिये महत्वपूर्ण है वह देश के लिये महत्वपूर्ण हो या जो प्रदेश के लिये है वह राष्ट्र के लिये भी महत्वपूर्ण हो या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण हो। अत: एक ही स्तर पर सभी का सामान्यीकरण करना उपयुक्त नही है। अत: हर स्तर की समस्याओं के लिये उसी प्रकार का मापदण्ड अपनाया जाना चाहिये। इस प्रकार के अध्ययन में दो बातों का ध्यान रखना चाहिये--

(1) जिस प्रश्न या समस्या का अध्ययन किया जाता है उसके निरीक्षण के मापदण्ड का स्तर या मापक क्या है ?

(2) अगर निरीक्षण में एक से अधिक स्तर या मापदण्ड अपनाये जाते है तो उन विभिन्न स्तरों या मापदण्डो में क्या सम्बन्ध है ? ज्ञात करने चाहिये। और अलग 2 स्तर की समस्याओं से प्राप्त पृथक 2 समाधानो में आपस में क्या सम्बन्ध है ? इसे भी ज्ञात करना चाहिये तभी समस्याओ का समाधान ठीक प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है।

स्थानिक व्यवस्था-विश्लेषण की संकल्पना

(CONCEPT OF SPACE SYSTEM–ANALYSIS)

सभी प्रकार की व्यवस्थाएं जिनके अग अगर स्थान घेरते है और जिनका सम्बन्ध दूरी से होता है, स्थानिक-व्यवस्था (Space System) कहलाती है। अत. स्थानिक व्यवस्था में स्थान सबसें महत्वपूर्ण होता है। जिसमे कि व्यवस्था विकसित होती है। भूगोल में व्यवस्था-विश्लेषण 20वी सदी की देन है। व्यवस्था-विश्लेषण, व्यवस्था की जटिल बनावट व प्रक्रिया के अध्ययन के लिये सकल्पना का आधार प्रस्तुत करती है।

जीव वैज्ञानिक वनस्पति-शास्त्री, जन्तु-शास्त्री, सरकार, उद्योगपति, अर्थ-शास्त्री, समाज-शास्त्री, राजनीतिज्ञ आदि इसका उपयोग करते है। जबसे मानव और उसके पर्यावरण के सम्बन्धों को प्रक्रियात्मक स्वरूप मिला है, तब से ही व्यवस्था-विश्लेषण, स्थानिक बनावट और संस्थाओं के विश्लेषण, के लिये एक उपयोगी साधन हो गया है। हाल और फेगन* के अनुसार "व्यवस्था उन तत्वों का समूह है जो विभिन्न तत्वों और उनके गुणों के आपसी सम्बधों से सम्बन्धित है" इस प्रकार की परिभाषा कई प्रकार की प्रादेशिक व्यवस्थाओं पर लागू की जा सकती है। वेबस्टर[1] ने व्यवस्था को विभिन्न तत्वों का समूह बताया है जो किसी न किसी प्रकार की लगातार होने वाली पारस्परिक क्रिया या अन्त:निर्भरता का संयुक्त रूप है। थॉमन और कार्बिन Λ के अनुसार व्यवस्था से तात्पर्य एक प्रकार से विभिन्न तत्वों का समूह है जो किसी तरह एक दूसरे से जुड़े हुये हैं। अर्थात् विभिन्न अंग किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध एक दूसरे से रखते हैं तथा एक व्यवस्थित दृश्यमान् कार्यरत स्वरूप प्रकट करते है।

निष्कर्ष रूप में व्यवस्था के लिये निम्नांकित बातें आवश्यक हैं—

(1) विभिन्न तत्व व तत्वों के गुण,

(2) तत्वों में पारस्परिक सम्बन्ध।

(1) **विभिन्न तत्व**— व्यवस्था की आधार भूत इकाई उसके विभिन्न तत्व या अंग हैं। इनकी परिभाषा व पहचान इस बात पर निर्भर करती हैं, जिस स्तर पर व्यवस्था का विश्लेषण किया जाता है क्योंकि प्रत्येक तत्व एक व्यवस्था का निर्माण करता हैं अतः उसकी पहचान पूर्णतः विश्लेषण के स्तर पर निर्भर करती है। किसी भी व्यवस्था का प्रत्येक तत्व कुछ गुणों वाला होता है इन्हीं

---

* A system is concerned with 'a set of objects together with the relationship between the objects and their attributes"

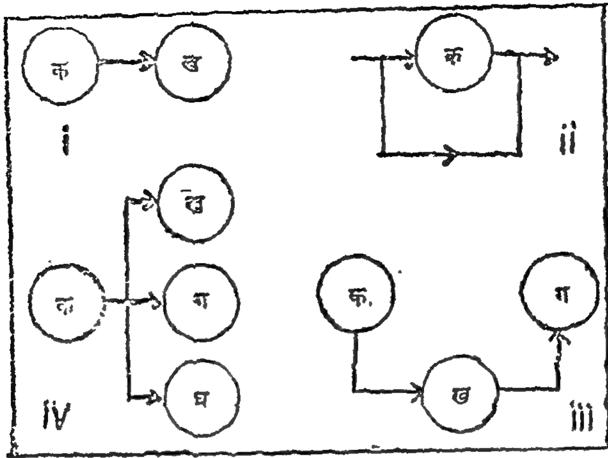
Hall, A. D. and Fagen, R. E. (1956). Definition of system, General System 1. p 18.

Λ "we mey define a system as a set of components which are interrelated in some way, that is the components will have some kind of casual relationships with one another constituting an observably organised working ensemble" Thoman R. S. and Corbin, P. B. (1974) Geography of Economic activity P. 163.

कभी 2
गुणों के आधार पर प्रत्येक तत्व (अंग) को व्यक्तित्व प्राप्त होता है। न कि
ऐसा भी कहने में आता है कि व्यवस्था के सही तत्व, तत्वों के गुण हैं वास्तव में
तत्व स्वयं। लेकिन यह बाल की खाल निकालने के समान है क्योंकि किया जा सकता है
किसी तत्व को उसके गुणों के आधार पर ही परिभाषित लिये उन तत्वों के
अतः किसी व्यवस्था व व्यवस्था के तत्वों को पहचानने के
गुणों को पहचानना आवश्यक है।

(2) विभिन्न तत्वों के पारस्परिक सम्बन्ध

व्यवस्था के विभिन्न तत्वों एवं उनके गुणों की पारस्परिक निर्भरता
व्यवस्था को सुस्पष्ट करने वाला लक्षण है क्योंकि एक व्यवस्था या तन्त्र विभिन्न
तत्वों के पारस्परिक सम्बन्धों का समूह होता है। हमारा संसार कई प्रकार की
व्यवस्थाओं से परस्पर जुड़ा है। जो अलग 2 स्तर की है। इसमें कई उप तंत्र,
तंत्र व उच्च तंत्र हैं। जैसे स्टीरियो सिस्टम (Stereo System) में एम्पली-
फायर, लाउड स्पीकर आदि लगे होते हैं, लेकिन दूसरे स्तर पर एम्पलीफायर,
लाउड स्पीकर जैसे अंग अपने आप में अलग तंत्र के रूप में होते हैं। एम्पली-
फायर में कई अंग-ट्रांजिस्टर, डायोड केपेसीटर, के रूप में होते हैं। अन्य स्तर
पर ट्रांजिस्टर भी एक तंत्र के रूप में है। जिसमें एमीटर, कलेक्टर्स व बेस
कॉन्टेक्ट्स इसके अंग के रूप में होते हैं। इस प्रकार एक तंत्र के विभिन्न अंग एक
दूसरे से लागत तत्व (Inputs) प्राप्त करते हैं व उत्पाद (output) उत्पन्न
करते हैं। व्यवस्था के विभिन्न अंगों के सम्बन्ध कुछ कार्यात्मक व कुछ अकार्या-
त्मक होते हैं। अकार्यात्मक सम्बन्धों से केवल व्यवस्था का आकार प्रकट होता
है। जैसे स्टीरियो व्यवस्था में लाउड स्पीकर, एम्पलीफायर, टर्नटेबल आदि की
स्थिति,आकार,विश्वसनीयता, आयु व दशा का सम्बन्ध सीधे रूप में कार्यात्मक
नहीं है लेकिन ये सब स्टीरियो व्यवस्था की प्रकृति व बनावट को निश्चित करते
हैं। अतः आकार से सम्बन्धित है। जबकि दूसरी ओर कुछ सम्बन्ध
कार्यात्मक होते हैं जो व्यवस्था की कार्य विधि को प्रकट करते हैं। जैसे
लाउडस्पीकर, एम्पलीफायर एव टर्नटेबल का कार्य एक दूसरे को प्रभावित
करना है। इस प्रकार के सम्बन्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष में, एक क्रम में या समानान्तर
या फिर प्रति पुष्टि (Feed back) प्रकृति के होते हैं। चित्र संख्या 3.3 में इनको
स्पष्ट किया गया है पहली दशा में क और ख का सम्बन्ध प्रत्यक्ष है दूसरी दशा में
प्रति पुष्टि सम्बन्ध दर्शाया गया है। इसमें एक तत्व अन्य से जुड़ा हुआ है जिससे
यह स्वयं प्रभावित होता है। अतः प्रारंभिक परिवर्तन का कुछ प्रभाव पुनः
यहीं आता है। यह प्रतिपूर्ति स्वरूप प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष या चापाकार हो सकता
है। यह सकारात्मक भी होता है व नकारात्मक भी हो सकता है जिसका प्रभाव
सम्पूर्ण व्यवस्था पर अनुभव किया जाता है। तीसरी दशा में क का सम्बन्ध ख से



चित्र संख्या 3.3

सीधा न होकर चापाकार है जिसमें क, ख के द्वारा ग से जुड़ा है। चतुर्थ दशा में समानान्तर सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है इसमें प्रत्येक तत्व अन्य कई तत्वों से अलग 2 व एक साथ सम्बन्धित होता है। अतः सम्पूर्ण व्यवस्था का अच्छी तरह अध्ययन करने के लिये विभिन्न तत्वों और उनके गुणों के विभिन्न सम्बन्धों का अध्ययन करना आवश्यक है।

व्यवस्था-विश्लेषण से लाभ—

(1) व्यवस्था-विश्लेषण को सूक्ष्म स्तर से लेकर विशाल स्तर तक अपनाया जा सकता है। यह परमाणु से लेकर वाइरस, कोष समाज, ग्रह, सौर्य्य परिवार से लेकर आकाश-गंगा तक सभी प्रकार की व्यवस्था में अपनाया जा सकता है।

(2) व्यवस्था-विश्लेषण में विभिन्न अंगों की पारस्परिक निर्भरता एवं सम्पूर्णता की ओर अधिक जोर दिया जाता है।

(3) सभी प्रकार की व्यवस्था अपने पर्यावरण से आपसी क्रिया करती है जैसे समाज की मांग अर्थ व्यवस्था को प्रभावित करती है व स्वयं भी अर्थ व्यवस्था से प्रभावित होती है। इससे व्यवस्था और उसके पर्यावरण में आपस में चक्रीय परिवर्तन आते हैं जो व्यवस्था के अस्तित्व के लिये आवश्यक है।

वर्गीकरण – व्यवस्था का वर्गीकरण कई तरह से किया जाता है। कार्य के आधार पर तीन प्रकार की व्यवस्था होती है—

(1) **एकाकी व्यवस्था**—जिसमें किसी प्रकार की लागत व किसी प्रकार का उत्पादन नहीं होता है। ऐसी व्यवस्था केवल प्रयोगशाला में संभव है। वास्तविक दशाओं में इसका कोई महत्व नहीं है।

(2) **बन्द व्यवस्था**—इस प्रकार की व्यवस्था सीमायुक्त होती है। जैसे किसी इमारत में लगा हुआ कारखाना। इसका चालन इसके विभिन्न अंगों के उपयोग से ही प्रभावित होता है। इस व्यवस्था में ऊर्जा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का आयात निर्यात नहीं होता है। इस प्रकार की बन्द व्यवस्था में एक अंग का दूसरे अंगों से आकार का सम्बन्ध होता है। लेकिन चिशोल्म[3] के अनुसार ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जिसे बन्द व्यवस्था कहा जा सके। सभी व्यवस्थाएँ खुली व्यवस्थाएँ हैं।

(3) **खुली व्यवस्था**—खुली व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसके विभिन्न अंगों के सम्बन्ध अन्य सभी अंगों से प्रभावित होते हैं। यह केवल विभिन्न अंगों की क्रिया को देखने से ज्ञात नहीं किये जा सकते हैं। जैसे मानव शरीर एक व्यवस्था है, जो अपने आप चलती है लेकिन इसे बन्द व्यवस्था नहीं कहा जा सकता है क्योंकि भोजन, तापमान, वायु प्रदूषण आदि से इसकी आन्तरिक चालन प्रक्रिया प्रभावित होती है। अतः खुली व्यवस्था में आन्तरिक व बाह्य दोनों ही प्रकार के तत्वों का प्रभाव देखा जाता है। खुली व्यवस्था का अन्य उदाहरण एक विकासशील देश है।

भूगोल में जहां तक स्थानिक व्यवस्था का प्रश्न है, स्थानिक व्यवस्था बन्द व खुली व्यवस्था दोनों के रूप में कार्य करती है। लेकिन मुख्यतः खुली व्यवस्था का स्वरूप अध्ययन की दृष्टि से अधिक अपनाया जाता है। स्थानिक व्यवस्था में स्थल व स्थिति, दोनों की विशेषताएँ सम्मिलित होती हैं। अर्थ तंत्र या अर्थ व्यवस्था भी एक प्रकार से स्थानिक व्यवस्था का रूप है जो आर्थिक भूगोल के अध्ययन में महत्वपूर्ण है। लेकिन सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल में अर्थ तंत्र के सरलीकृत रूप (मॉडल) को आधार मान कर चला जाता है।

कई विद्वान भूगोल में व्यवस्था विश्लेषण को अनावश्यक मानते हैं, जैसे चिशोल्म व लापत्रा[4]। जबकि दूसरी ओर फूटे और बुटन[5] इसको आवश्यक मानते हैं। यह सत्य है कि व्यवस्था विश्लेषण का उपयोग करने में कई कठिनाईयां हैं, लेकिन भूगोल के सम्पूर्ण विकास के लिये यह आवश्यक है।

व्यवस्था या तंत्र की विशेषताएँ

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम व्यवस्था या तंत्र की निम्नांकित विशेषताएँ ज्ञात कर सकते हैं जो व्यवस्था विश्लेषण को समझने में सहायक है।

(1) एक व्यवस्था या तंत्र कई तत्वों से मिलकर बनता है।
(2) प्रत्येक व्यवस्था या तंत्र किसी उद्देश्य के लिये होता है।
(3) व्यवस्था के विभिन्न तत्व या अंग, कार्यात्मक सम्बन्धों (Functional Relation) से सम्बद्ध होते हैं।

(4) तत्वों व सम्बद्धता की एक सीमा होती है अतः तंत्र की सीमा निर्धारित की जा सकती है लेकिन सामान्यतः यह कार्य काफी कठिन है।

(5) कोई भी तंत्र सामान्यतः एक प्रकार के वातावरण में ही कार्य करता है, तंत्र एकाकी रूप में कार्य नहीं कर सकता है।

(6) व्यवस्था या तंत्र के विभिन्न अंग (तत्व), सम्बद्धता (Linkage) व वातावरण, सभी व्यवहार करते हैं, इनमें से किसी एक में परिवर्तन से तंत्र का व्यवहार प्रभावित होता है।

(7) यहां वर्णित तंत्र खुले तंत्र हैं जो वातावरण से लागत तत्व (Input) प्राप्त करते हैं व उसे उत्पाद (Output) देते हैं।

(8) प्रत्येक तंत्र, इसके वातावरण एवं तंत्र में, विभिन्न तत्रों में एवं तंत्र के विभिन्न तत्वों में गतिशील सम्बन्धों वाला होता है।

अर्थ तंत्र का विचार

(CONCEPT OF ECONOMY)

मेकार्टी और लिडबर्ग* ने अर्थ तंत्र को निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है—"अर्थ-तन्त्र को सरल रूप में एक उत्पादन व्यवस्था से परिभाषित किया जा सकता है जिसका मुख्य उद्देश्य एक प्रकार का उत्पादन करना है लेकिन इस प्रक्रिया में उस उत्पादन क्षेत्र में उपस्थित सभी सम्बन्धित गतिविधियां, जो इस प्रकार के उत्पादन के लिये आवश्यक हैं उन्हें भी सम्मिलित किया जाता है।"

इस प्रकार अर्थ तन्त्र का स्वरूप बहुत व्यापक एवं खुला हुआ होता है जैसे गेहूं उत्पादक अर्थ तंत्र (व्यवस्था) में न केवल कृषकों को ही बल्कि गेहूं उत्पादन में सहयोग देने वाली अन्य गतिविधियों वाले—ट्रक चालक, कंटीले तार निर्माता, व्यापारी, अध्यापक व अन्य सम्बन्धित कार्य करने वालों को भी सम्मिलित किया जाता है अर्थात् यहां उत्पादक अर्थ तंत्र, पारस्परिक सम्बन्धों व पारस्परिक निर्भरता की व्यवस्था को स्पष्ट करता है। साथ ही यह भी स्पष्ट करता है कि

* 'An economy may be defined simply as a system of production whose central purpose is to create a type of product, but whose operations also include all of the related activities present in the area of production and necessary to the creation of that product." Mc CARTY, H H. and LINDBERG, J, B. (1966) A Perface to Economic Geography, Englewood Cliffs, New Jersey pp 94"

एक आर्थिक भू-दृश्य में एक मुख्य आर्थिक गतिविधि के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार की सहायक गतिविधियां भी कार्य करती हैं। होडर एवं ली⊙ ने इसे आर्थिक निर्णयकर्ताओं के निर्णयों की समन्वित प्रवृति से स्पष्ट किया है। उनके अनुसार "अर्थ तंत्र शब्द से तात्पर्य आर्थिक निर्णायकों के जाल से है।" अर्थात् अर्थ तन्त्र में कई निर्णयकर्त्ता विभिन्न प्रकार के आर्थिक निर्णय लेते हैं और उससे जो व्यवस्था विकसित होती है, वह अर्थ तंत्र कहलाती है। अर्थ तंत्र में निर्णयकर्त्ता उसके विभिन्न अंगों के (तत्वों के) रूप में होते हैं। इन्हें हम उपभोक्ता, साधनों के मालिक, फर्म (उत्पादन कर्त्ता) व सरकार के रूप में जानते हैं। ये सभी विभिन्न आर्थिक गतिविधियां क्रियान्वित करते हैं इनमें पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया भी होती है। इनमें से प्रत्येक तत्व जिस अर्थ-व्यवस्था से सम्वन्धित है उससे वाहर उसका कोई अस्तित्व नहीं होता है।

अर्थ तंत्र किसी भी स्तर का हो सकता है। एक साधारण आत्म-निर्भरता मूलक ग्राम से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने वाला हो सकता है लेकिन साधारण अर्थ तंत्र की भी वहुत जटिल व्यवस्था होती है इसमें रहने वाला एकाकी आत्म निर्भर कृषक वहुत अधिक जटिल किस्म का आर्थिक-मानव होता है क्योंकि उसे अकेले ही उत्पादक, उपभोक्ता, व्यवस्थापक, फर्म, संसाधनों का स्वामी व सरकार आदि का जटिल कार्य करना पड़ता है। जबकि अधिक विकसित अर्थ तंत्र में श्रम का विभाजन हो जाने के कारण अलग 2 व्यक्ति अलग 2 कार्य करते हैं। अतः सम्पूर्ण अर्थ तंत्र और अधिक जटिल बन जाता है।

अर्थ तंत्र का सरलीकृत मॉडल
(SIMPLIFIED MODEL OF ECONOMY)

सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल में अर्थ तंत्र की जटिलताओं को समझने के लिये उसका सरलीकृत मॉडल अध्ययन की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है जिसके आधार पर आर्थिक विश्व को समझने, और उससे सम्वन्धित सामान्य सिद्धान्त विकसित करना उपयुक्त हैं।

अर्थ तंत्र के सरलीकृत मॉडल में अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अंगों (तत्वों) के रूप में उपभोक्ता, उत्पादक, संसाधनों के स्वामी व सरकार होती है। ये सभी विभिन्न परिस्थितियों में निर्णय लेने का कार्य करते हैं। इनके द्वारा लिये गये

⊙ "The term 'economy' refers to a network of economic decision makers." HODDER, B. W. and LEE, R. (1974) Economic Geography, Methuen & Co. Ltd. London

अर्थ-व्यवस्था के पर्यावरणीय सम्बन्ध या वाह्य सम्बद्धता (ENVIRONMENTAL RELATIONS OF ECONOMY OR EXTERNAL LINKAGE)

कोई भी अर्थ व्यवस्था एकाकी नहीं हो सकती है। सम्पूर्ण पर्यावरण और उसके विभिन्न अंगों (तत्वों) से अर्थ तंत्र का सम्बन्ध होता है। अर्थ व्यवस्था की गतिशीलता के लिये आवश्यक ऊर्जा पर्यावरण से ही प्राप्त होती है अर्थात् पर्यावरण से लागत तत्व (Inputs) प्राप्त होते हैं और किसी न किसी प्रकार का उत्पादन पर्यावरण को उपलब्ध कराता है। जिसके फलस्वरूप अर्थ तंत्र का अस्तित्व बना रहता है। इस प्रकार अर्थ तंत्र व पर्यावरण के मध्य एक चक्रीय व्यवस्था बनी रहती है। अर्थ तंत्र और पर्यावरणीय सम्बन्ध लगातार प्रवाहित होने वाले हैं। अतः पर्यावरण में होने वाले परिवर्तनों को पहचानने एवं उनके साथ अनुकूलन स्थापित करने के योग्य अर्थ तंत्र होना चाहिये। अर्थ तंत्र के पर्यावरणीय सम्बन्ध बहुत जटिल हैं और यही वह अभिसरण विन्दु हैं जहां इन सम्बन्धों से उत्पन्न समस्याओं को पहचानने, विश्लेषित करने व समाधान ढूंढने में आर्थिक भूगोल का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध स्थापित होता है। ये सम्बन्ध दो प्रकार के हैं:—

(i) सामाजिक सम्बन्ध (Social Relations)

(ii) पारिस्थितिक सम्बन्ध (Ecological Relations)

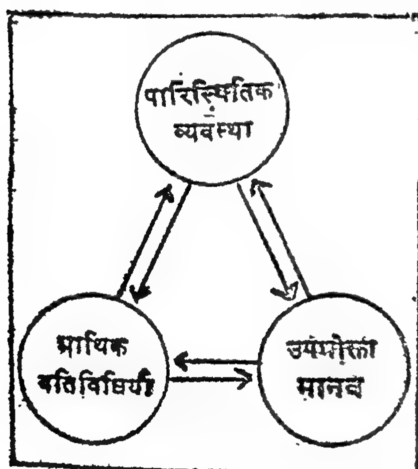
सामाजिक सम्बन्ध—

अर्थ तन्त्र का अध्ययन केवल मात्र आर्थिक गतिविधियों की उत्पत्ति तक ही सीमित नहीं है बल्कि महत्वपूर्ण समस्या समाज में बढ़ती हुई आर्थिक असमानता है। यह विषमता स्थानीय स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक पाई जाती है। विश्व की मुट्ठी भर जनसंख्या के हाथों में विश्व के अधिकांश उपभोग के संसाधन हैं, जबकि विशाल जनसंख्या आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कठिन संघर्ष कर रही है। दोनों के मध्य की खाई निरन्तर बढ़ती जा रही है। यहां तक कि साधन सम्पन्न एवं विकसित देशों में भी यह विषमता दृष्टिगत होती है। संसाधनों का सही आवंटन, सुनिश्चित योजना के उद्देश्यों का स्पष्टीकरण तथा क्षेत्रीय दृष्टि से आर्थिक विकास में उपयुक्त हस्तक्षेप का अभाव भी देखने को मिलता है। हार्वे[5] (1973) ने इस विषमता का कारण वर्तमान में प्रचलित बाजार की व्यवस्था को बताया। आज इस बात का खतरा भी बढ़ रहा है कि एक प्रकार के सांस्कृतिक मूल्य दूसरे प्रकार की सांस्कृतिक दशाओं में अपनाये जा रहे हैं। विशेषकर विकसित देशों में आर्थिक विश्लेषण की जिस विधि का विकास हुआ है, उसे विकासशील देशों में अपनाया जा रहा

है। इस प्रकार के सामाजिक परिवर्तन में मानवीय मूल्यों को नगण्य बना दिया है। केवल भौतिक सुख की प्राप्ति ही महत्वपूर्ण हो गई है। इसके विपरीत वैकल्पिक दृष्टिकोण चीन के वर्तमान समाज की दृष्टि में देखा जा सकता है। इस बात पर जोर देते हुए बुकेनन[6] (1970) ने बताया कि वर्तमान चीन के सामाजिक दृष्टिकोण में मानवीय एवं आर्थिक सम्बन्धों को, भौतिक लाभ की अपेक्षा नैतिक मूल्यों की प्राप्ति की दृष्टि से प्रेरित किया गया है।

अर्थ तंत्र के पारिस्थितिक सम्बन्ध-- 83562

आर्थिक विषमता की तरह ही एक महत्वपूर्ण समस्या आर्थिक गतिविधियों एवं जीवन देने वाली पारिस्थितिक व्यवस्था के बीच संतुलन बनाये रखने की है। आर्थिक विकास आज की आवश्यकता है लेकिन जिस प्रकार की असंतुलित नीतियों के आधार पर यह किया जा रहा है वह बहुत घातक है। इस कारण पारिस्थितिक व्यवस्था का संतुलन निरन्तर बिगड़ता जा रहा है। जहां एक ओर लगातार तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये संसाधनों का उपयोग तेजी से बढ़ रहा है, वही संसाधनों के उपयोग से प्राप्त मलवे के कारण पर्यावरण दूषित एवं जहरीला होता जा रहा है। करोड़ों की संख्या में मनुष्य व्यक्तिगत रूप में निर्णय ले रहे हैं। अगर हम एक कृषक को रबर उत्पादक मानते हैं तो यह गलत है। वह न केवल रबर उत्पादक है बल्कि ग्रामीण पर्यावरण का व्यवस्थापक भी है क्योंकि उसके द्वारा लिये गये निर्णय विस्तृत क्षेत्र के भू-दृश्य व पारिस्थितिक संतुलन को प्रभावित करते हैं अतः आज इस दृष्टि से भी आर्थिक-निर्णयन की प्रक्रिया को सोचना आवश्यक है। बर्टन



चित्र संख्या 3.5

और केट्स[7] (1965) ने आर्थिक आक्रमण के सन्दर्भ में प्राकृतिक संसाधनों की व्यवस्था एवं पारिस्थितिक व्यवस्था के संरक्षण की संकल्पनाओं व विधियों का परीक्षण किया है, लेकिन यह संरक्षण मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में होना चाहिये क्योंकि पारिस्थितिक संतुलन में मानवीय मूल्यों को बहुत कम महत्व दिया गया है। जो कि पारिस्थितिक संतुलन के साथ 2 एक महत्वपूर्ण आव-

REFERENCE

1. HAGERSTRAND, T. (1952) The propagation of innovation waves. Lund Studies in Geography, B. Human geography, Series 4.
2. WEBSTER, N. (1959) New International Dictionary, G. Bell & Sons, London, pp. 2562.
3. CHISHOLM, M. (1967) General system theory and Geography, Transactions of Institute of British Geographers, No. 42 p. 45–52.
4. LAPATRA, J. W. (1973) Applying the system approach to urban development, Hutchinson & Ross Inc. Dowden, pp 11-14.
5. FOOTE, D. C. and WOOTTEN, B. G. (1968) "An approach to Systems Analysis in Cultural Geography". Professional Geographer, Vol. 20, pp 89.
6. HARVEY, D. (1973) Social Justice and the City, London.
7. BUCHANAN, K. (1970) The Transformation of the Chinese earth, London.
8. BURTON, I. and KATES, R. W. eds. (1965) Readings in resource management and conservation, Chicago.

४

आर्थिक भू-दृश्य

"Land scape is essentially only a surface".

R. Hertshorne[1]

आर्थिक भू-दृश्य के अन्तर्गत क्षेत्र विशेष में आर्थिक विशेषताओं या उस क्षेत्र के आर्थिक व्यक्तित्व की अभिव्यंजना रहती है। यह विभिन्न प्रदेशों में मानव क्रिया कलापों का भौतिक स्वरूप प्रदर्शित करता है। डॉ. एस. डी. कौशिक[2] के अनुसार—"पृथ्वी के धरातल पर मानव-समूहों की आर्थिक क्रियाओं के स्थापित होने से भौतिक व सांस्कृतिक तत्वों का जो मिला जुला स्वरूप बनता है उसे आर्थिक भू-दृश्य कहते है।" इसी प्रकार डॉ. जगदीशसिंह व काशीनाथ सिंह[3] के अनुसार—"आर्थिक भू-दृश्य में विशिष्ट क्षेत्र की सुस्पष्ट आर्थिक विशेषताओं अर्थात् प्रादेशिक आर्थिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है।" "मेकार्टी व लिंडवर्ग के अनुसार ⊙ "आर्थिक भू-दृश्य जिसमें हम रहते हैं, एक विस्तृत व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक तत्व कई विशेषताओं से युक्त है और उन भू-दृश्यों में इनकी स्थिति कई प्रकार की शक्तियों से सम्बन्धित होती है।" हमारे से सम्बन्धित इन शक्तियों में से कई शक्तियां उस क्षेत्र में वर्तमान में देखी जा सकती हैं। जब कि अन्य कई शक्तियां विगत समय की होती हैं, जिन्हें वर्तमान से अलग करके देखना कठिन कार्य है। इनमें से कुछ शक्तियां ऐसी भी होती हैं जो स्थिति की दृष्टि से अधिक दूर स्थित होने के कारण देखी नहीं जा सकती है लेकिन उनका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से होता है। अतः समय एवं स्थानिक सन्दर्भ में ऐसी शक्तियां पहुंच के बाहर की हो सकती हैं, उन्हें हम विकास के ऐतिहासिक पक्ष के आधार पर ज्ञात कर सकते हैं।

वास्तव में आर्थिक भू दृश्य एक बहुत जटिल स्वरूप होता है क्योंकि आर्थिक भू दृश्य को हम वास्तव में जैसे प्रत्यक्ष रूप में देखते है उससे कहीं अधिक परोक्ष रूप से उसका स्वरूप अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं व उप व्यवस्थाओं से सम्बन्धित होता है। अतः उसका अध्ययन कहां से शुरू किया जाय,

---

⊙ 'The economic landscape in which we live appear as vast mosaies, in which the individual elements have a great variety of characteristics and their position within those landscaps are attributable to a great variety of forces.' McCarty, H. H. & Lindberg, J. B (1966) A Preface to Eco. Geog. Prentice Hall inc. pp. 87.

यह ज्ञात करना कठिन है क्योंकि अर्थ व्यस्था में मांग व पूर्ति या ऊर्जा विनिमय की प्रक्रिया (Energy Exchange Process) इतनी जटिल है कि उसमें प्राकृतिक रूकावट कहीं नहीं है। अर्थ व्यवस्था के लगातार सक्रिय रहने की स्थिति में होने के कारण इसके एक भाग में कहीं भी अगर थोड़ा सा परिवर्तन आता है तो उसका प्रभाव अर्थ-व्यवस्था के अन्य भागों पर भी पड़ता है। यह प्रभाव कहीं ज्यादा होता है व कहीं कम होता है। जैसे पानी में एक पत्थर का टुकड़ा फैंकने पर पत्थर के निकट प्रभाव अधिक होता है लेकिन उसका अप्रत्यक्ष प्रभाव विस्तृत क्षेत्र पर अनुभव किया जाता है। अतः आर्थिक भू दृश्यों या अर्थ व्यवस्था की जटिल समस्याओं को समझने के लिये पृथक्करण विधि का (Method of isolation) चयन करते हैं जिससे हम आर्थिक गतिविधियों को कुछ निश्चित सीमाओं में रखते हैं। धीरे 2 इन सीमाओं को हटाते हैं, जिससे हम वास्तविकताओं की ओर बढ़ते जाते हैं।

हम हमारा अध्ययन अर्थ व्यवस्था की स्थानिक विशेषताओं से शुरू करते हैं जिसमें कई प्रकार के चर (Variable) सक्रिय हैं, लेकिन हम केवल एक ही **चर, 'दूरी'** (Distance) पर ही हमारा ध्यान केन्द्रित करते हैं। इसके लिये हम अन्य सभी चरों को स्थिर रखते हैं। ये सभी चर (आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक आदि) हमारे दृष्टिकोण को अस्पष्ट करते हैं। अतः सरलीकृत मॉडल की सीमाऐं स्पष्ट होनी चाहिये और हमारे इस सम्पूर्ण अध्ययन में हमारे मस्तिष्क में बनी रहनी चाहिये।

सरलीकृत मॉडल (Simplified Model of Economic landscape)

इस मॉडल में वास्तविक विश्व की जटिलताओं को सरलीकृत दो प्रकार की मान्यताओं के आधार पर किया है। पहली धरातल की प्रकृति से सम्बन्धित है व दूसरी उसमें रहने वाली जनसंख्या से सम्बन्धित है।

(1) धरातल एक असीमित मैदानी क्षेत्र है, जो कि सभी दृष्टियों से समानता लिये हुए है—

(क) धरातल पूर्णतः समतल है जिसमें गतिशीलता की दृष्टि से कोई बाधा नहीं है अतः सभी दिशाओं में गतिशीलता (Movement) संभव है।

(ख) इसमें एक ही यातयात का साधन है तथा दूरी के अनुपात में परिवहन लागत बढ़ती है।

(ग) भौतिक संसाधन समान रूप से फैले हैं जैसे-सभी जगह मिट्टी का उपजाऊपन, जलवायु आदि समान है और कच्चे माल सर्वत्र उपलब्ध हैं।

(2) इस मैदान में रहने वाली जनसंख्या की निम्नांकित विशेषताऐं हैं—

(क) स्थानिक रूप से जनसंख्या समान रूप में फैली है।

(ख) इनकी आय समान है, मांग भी समान है व उपभोग की प्रवृत्ति भी समान है।

(ग) उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों का ज्ञान पूर्ण है तथा दोनों ही ज्ञान के अनुसार अक्लमन्दी से कार्य करते हैं, अतः दोनों ही आदर्श स्थिति में व्यवहार करते हैं, उदाहरण के लिये–उत्पादक के रूप में वे अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, जबकि उपभोक्ता के रूप में अपनी उपभोग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कम से कम खर्च करना चाहते हैं।

इस प्रकार केवल एक ही चर आर्थिक व्यवस्था के स्थानिक प्रतिरूप पर सक्रिय प्रभाव बनाए रखता है और वह है दूरी के घर्षण की (Friction of distance) लागत को कम करना। ऐसी दशाओं में आर्थिक गतिविधियों का प्रतिरूप या ढांचा (स्थानिक रूप से) कैसा विकसित होगा ? इसका उत्तर देने के पहले हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि इस प्रकार के मॉडल की आदर्श दशाएं वास्तविक विश्व की जटिलताओं से नहीं मिलती है, फिर भी यह मॉडल व्यवस्थित एवं लगातार है। जबकि वास्तविक विश्व अव्यवस्थित एवं जटिल है। अतः इसमें वास्तविक आर्थिक भू-दृश्य की गुप्तताएं विद्यमान होती हैं।

सरलीकृत आर्थिक भू दृश्य में स्थिति

LOCATION IN SIMPLIFIED ECONOMIC LANDSCAPE

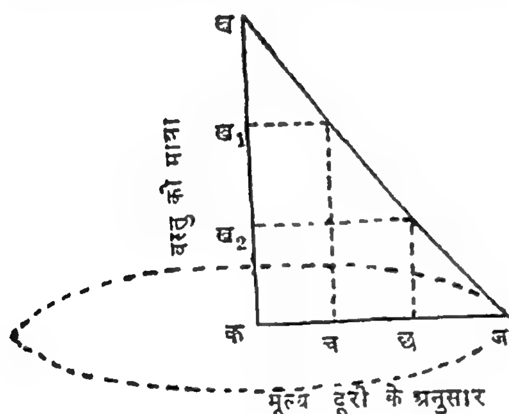
केन्द्रीय स्थानों की स्थिति—

सरलीकृत आर्थिक भू दृश्य में जिसमें सर्वत्र समानता फैली है या पाई जाती है, ऐसे क्षेत्र में रहने वाली छितरी जनसंख्या की मांग की पूर्ति के लिये एक उत्पादक एक प्रकार के माल का उत्पादन करना चाहता है तो प्रारम्भिक रूप से ही उसकी स्थिति कहां हो ? अर्थात् उत्पादन केन्द्र कहां स्थापित हो ? यहां केन्द्रीय स्थानों से तात्पर्य जिनका मुख्य कार्य आस पास में फैली जनसख्या के लिये विभिन्न प्रकार की वस्तुएं व सेवाएं प्रदान करने से है। अतः ऐसे सेवा के केन्द्र या उत्पादन केन्द्र या केन्द्रीय स्थान कहां स्थित हो ?

इस प्रकार के केन्द्रों की स्थिति का निर्धारण आधार भूत रूप से मांग और पूर्ति पर निर्भर करता है। सर्व प्रथम उत्पादक के लिये यह ज्ञात करना आवश्यक है कि वह जिस वस्तु का उत्पादन शुरू कर रहा है उसके लिये उसे पर्याप्त भुगतान प्राप्त हो जायगा, आस पास के क्षेत्र से उत्पादन की अतिरिक्त लागत मिल जायगी एवं उसे उपयुक्त लाभ भी मिल जायगा। इन सबके लिए

न्यूनतम मांग का स्तर होना आवश्यक है। जब तक न्यूनतम मांग का स्तर (Threshold) नहीं होगा. कोई उत्पादक अपना उत्पादन शुरू नहीं करेगा।

अगर हमारा भावी व्यवस्थापक (उत्पादक) न्यूनतम मांग के स्तर से आश्वस्त हो जाता है तो वह व्यवसाय शुरू करता है। अगर अन्य सभी बातें समान रहें तो ग्राहकों की माल खरीदने की मात्रा किसी वस्तु की वास्तविक कीमत पर निर्भर करती है, जिस मूल्य पर वे माल खरीदते हैं। हमारे इस मॉडल में अन्य सभी बातें समानता लिये हुये हैं और ग्राहकों को वस्तु की पूर्ति, उस वस्तु के उत्पादन केन्द्र से उस ग्राहक के स्थान की दूरी के अनुसार मूल्य पर, होती है। यहां परिवहन लागत दूरी के अनुपात से बढ़ती है। यह लागत चाहे उत्पादक द्वारा विभिन्न दूरियों पर माल पहुंचाने की हो सकती है या ग्राहक द्वारा केन्द्र पर आकर माल खरीदने की हो सकती है। ऐसी स्थिति में केन्द्र पर मूल्य कम होने के कारण वहां के ग्राहक अधिक मात्रा में माल खरीदेंगे, जबकि दूर स्थित ग्राहक को अधिक मूल्य पर माल मिलने के कारण वह कम मात्रा में माल खरीद पायेगा क्योंकि इस क्षेत्र में सभी ग्राहकों की आय समान है।



चित्र संख्या 4.1

चित्र संख्या 4.1 के अनुसार ग्राहकों की स्थिति उत्पादन केन्द्र क से अलग 2 दूरी पर च, छ, ज से दर्शायी गई है। इस क्षेत्र में सभी ग्राहकों की आय भी समान है। ऐसी स्थिति में क का ग्राहक अधिक मात्रा में माल खरीद सकेगा क्योंकि उसे यहां परिवहन लागत नहीं देनी होगी लेकिन जैसे 2 च, छ, ज आदि दूरियों की ओर बढ़ेंगे तो वहां के ग्राहकों को वस्तु का मूल्य अधिक देना पड़ेगा। अत: उनकी खरीदने की क्षमता कम होती चली जायगी। इसे निम्न सूत्र से व्यक्त किया जा सकता है—

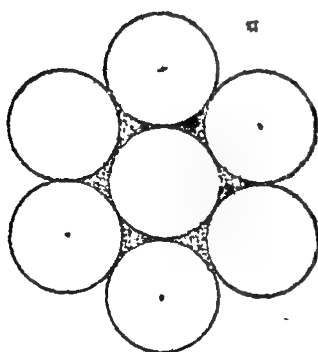
उत्पादक केन्द्र से दूरी पर मूल्य = प्रारम्भिक मूल्य + दूरी के अनुपात में परिवहन लागत (दुमू = प्रा. मू. + दूरी × प.ला)

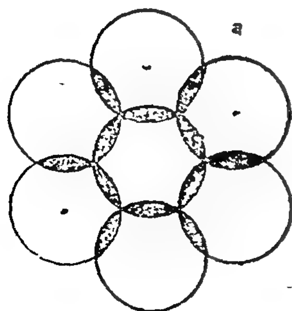
इस प्रकार दूरी के अनुसार अन्त में एक सीमा पर वस्तु का वास्तविक मूल्य इतना अधिक हो जायगा कि वहां पर स्थित ग्राहक की क्रय-क्षमता उस वस्तु को खरीदने की नहीं रह जायगी अर्थात् वह ग्राहक माल या वस्तु नहीं खरीद सकेगा। इस प्रकार एक

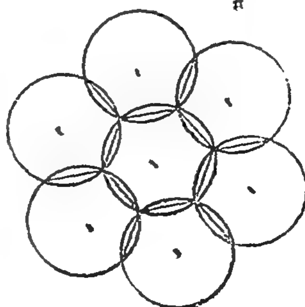
क ख ज त्रिभुज बनेगा अगर इस त्रिभुज को केन्द्र क के सहारे घुमाया जाये तो शंकु की परिधि इस वस्तु का बाजार का क्षेत्र प्रकट करेगी।

अगर क्षेत्र में मांग की पर्याप्त पूर्ति नहीं होती है तो दूसरा उत्पादक इस क्षेत्र में आता है। मांग का स्तर, वस्तु का मूल्य, परिवहन लागत आदि सभी बातें पहले के ही समान हैं। पहले का उत्पादक केन्द्र क को अपना चुका है अतः नये उत्पादक के लिये स्थिति का चुनाव प्रतिबन्धित होगा। नया उत्पादक केन्द्र क के निकट अपना उद्योग स्थापित नहीं करेगा। वह क के बाजारी क्षेत्र या प्रभाव क्षेत्र से 2 r की दूरी पर उद्योग स्थापित करेगा (जबकि r = क के बाजारी क्षेत्र का अर्द्ध व्यास है) अन्यथा एक दूसरे के बाजारी क्षेत्र का अतिक्रमण होगा। उनमें प्रति स्पर्धा होगी, तब एक या दोनों की बिक्री व लाभ में कमी होगी।

अगर माल की पूर्ति फिर भी नहीं होती है तो तीसरा, चौथा, पांचवा या n संख्या तक उत्पादक इसी सिद्धान्त के आधार पर व्यवसाय स्थापित करेंगे और प्रत्येक का वृत्ताकार बाजारी क्षेत्र बन जायगा लेकिन जैसे 2 उत्पादक बढ़ेंगे बाजारीक्षेत्रो के आपसी सम्बन्धों में समस्याएँ उत्पन्न होने लगेगी। चित्र 4.2 अ के अनुसार अगर विभिन्न उत्पादक केन्द्रों के बाजारी क्षेत्र केवल एक दूसरे को स्पर्श करेंगे तो बीच के क्षेत्र के ग्राहक बिना माल की पूर्ति के रह जायेंगे लेकिन अगर ग्राहकों की दृष्टि से थोड़ा सा बाजारी क्षेत्रों का (चित्र 4.2 ब) अतिक्रमण होता है तो उत्पादकों में प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो जायगी। अतिक्रमण क्षेत्रों के मध्य (चित्र 4.2 स) एक रेखात्मक विभाजन हो जायगा इस रेखा पर के ग्राहक दोनों केन्द्रों से सामान मूल्य पर माल खरीद सकेंगे और यह वृत्ताकार बाजारी क्षेत्र एक षट-कोणीय आकृति में बदल जायगा जिससे बाजार या प्रभाव क्षेत्र अधिक सुडौल आकृति का बन जायगा।







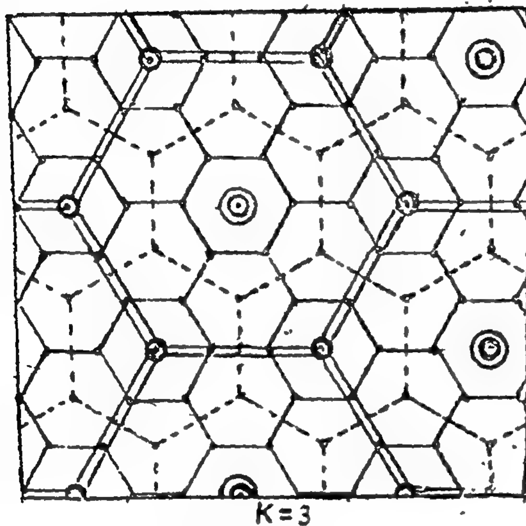
चित्र संख्या 4.2

अगर मैदान उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों ही दृष्टि से परिपूर्ण है तो उत्पादक केन्द्रों की संख्या बढ़ती जायगी व षट्कोणीय आकार छोटा होता जायगा जब तक कि एक आदर्श दशा न आ जाय। इस प्रकार एक वस्तु के उत्पादन की दृष्टि से षट्कोणीय क्षेत्रों की सेवा के लिये एक समान व संगठित उत्पादक केन्द्रों का जाल स्थानिक व्यवस्था में विकसित हो जायगा।

इसी प्रकार कुछ अन्य वस्तुओं व सेवाओं को लिया जाय तो उनकी स्थिति व बाजारी क्षेत्र किस प्रकार का होगा ? सामान्यत: कुछ वस्तुएँ विशेष कर निम्न स्तर के माल की वस्तुओं का मांग का स्तर भी कम होता है और उनकी पहुंच भी कम होती है जबकि कुछ वस्तुएँ, विशेष कर उच्च स्तर की वस्तुओं की मांग का स्तर भी अधिक होता है और उनकी पहुंच का क्षेत्र भी अधिक होता है। जैसे—कॉलेज स्तरीय शिक्षा, उच्च स्तर की सेवा है। अत: मांग का स्तर अधिक होगा या सर्जन विशेषज्ञ है, उसकी मांग का स्तर ऊंचा होगा व यह उच्च स्तर की सेवा होगी। जबकि प्राथमिक स्तरीय चिकित्सा या शिक्षा निम्न स्तर की सेवा है अत: उसकी मांग का स्तर भी निम्न होगा। यह भी स्पष्ट है कि सभी स्तर की सेवाओं या माल की पूर्ति के लिये सभी केन्द्र हो ऐसा असंभव है उत्पादक केन्द्रों की बार 2 आवृत्ति माल के स्तर से विपरीत सम्बन्ध रखती है (The frequency of occurances of production points is inversely related to the order of goods) लॉयड एवं डिकन[4] (1972)। इससे तात्पर्य यह है कि घटिया श्रेणी के माल से सम्बन्धित केन्द्रों की संख्या अधिक होगी, जबकि उच्च श्रेणी के माल या सेवा से सम्बन्धित केन्द्रों की संख्या कम होगी। दूसरे शब्दों में निम्न स्तर का माल या सेवाएँ अधिक संख्या के केन्द्रों में उपलब्ध होगी। जब कि उच्च स्तर का माल या सेवाएँ कुछ ही केन्द्रों पर उपलब्ध होगी। हमारे उदाहरण में प्राथमिक स्तर की शिक्षा या चिकित्सा कई केन्द्रों पर उपलब्ध होगी लेकिन उच्च शिक्षा व उच्च स्तर की चिकित्सा सुविधाएँ कुछ केन्द्रों तक ही सीमित होगी। क्रिस्टलर[5] ने बताया कि इस प्रकार के केन्द्रों की स्थिति पदानुक्रम में व्यवस्थित होती है। क्रिस्टलर के अनुसार पदानुक्रम (Hierarchy) को समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि एक स्तर का केन्द्र न केवल अपने स्तर का माल या सेवा ही उपलब्ध कराता है बल्कि अपने से निम्न स्तर के सभी प्रकार के माल व सेवाएँ भी प्रदान करता है। जैसे किसी बड़े शहर में न केवल उच्च स्तर की शिक्षा ही उपलब्ध होती है बल्कि उससे निम्न स्तर (माध्यमिक, उच्च प्राथमिक, प्राथमिक व नर्सरी या किंडर गार्टन स्तर की) की शिक्षा सुविधाएँ भी उपलब्ध होती है।

इस प्रकार के ढांचे को बताने के लिये सर्व प्रथम सभी प्रकार के माल को या

सेवाओं को स्तरीकृत या श्रेणीकृत किया जाता है। जिसकी मांग का स्तर सबसे कम है वह 1 श्रेणी का व सबसे उच्च मांग की स्तर के माल या सेवा को n श्रेणी का मान सकते हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि उच्च स्तर का माल n विस्तृत बाजारी क्षेत्र के लिये होता है व यह दूर 2 स्थित केन्द्रों पर ही उपलब्ध हो सकता है इसे हम बड़े नगरों में पाते हैं। इस श्रेणी के बड़े नगरों की संख्या इस n स्तर के मांग के स्तर के अनुपात में होगी। माना कि हमारे मैदानी भाग की जनसंख्या 10 लाख है और प्रति 2 लाख की जनसंख्या पर एक कॉलेज की मांग का स्तर है तो इस भाग में 5 कॉलेज के केन्द्र होंगे ये उच्च स्तर के सेवा केन्द्र या केन्द्रीय स्थान कहे जा सकते हैं।



चित्र संख्या 4.3

इसी तरह इसके बाद दूसरा सबसे उच्च स्तर का माल या सेवा भी इस बड़े केन्द्र पर उपलब्ध होगी। ऐसे ही उससे कम स्तर का माल या सेवा भी इस केन्द्र पर उपलब्ध होगी। इसी तरह हम देखें तो हमें पता लगेगा कि अन्त में बड़ा केन्द्र बहुत निम्न स्तर की सेवा से बहुत छोटे क्षेत्र की सेवा ही कर सकता है और उसके बाहर के क्षेत्रों की मांग की पूर्ति नहीं हो पाती है तब उससे निम्न स्तर के (छोटे) केन्द्र विकसित होने लगते हैं जो कि तीन बडे केन्द्रों के मध्य स्थित होते हैं इस प्रकार पदानुक्रमीय सीमान्त माल (Hierarchical Marginal goods) की संख्या जितनी होगी उतने ही केन्द्र विकसित होते जायेंगे क्रिस्टलर के अनुसार पदानुक्रम के स्तर में ये सब K सम्बन्ध प्रकट करते हैं, जिसे उसने K = 3 मूल्य नाम दिया। इस प्रकार प्रत्येक नया केन्द्र व इसका बाजारी क्षेत्र इससे उच्च स्तर के 3 बड़े केन्द्रो में बंट जाता है प्रत्येक बड़े नगर के पृष्ट प्रदेश में 2 उससे छोटी श्रेणी के नगरों के बराबर व उससे भी छोटी श्रेणी के 6 केन्द्रों के बराबर क्षेत्र होगा। और जब एक बार K मूल्य स्थापित हो जाते है तब पूरे पदानुक्रम में स्थायी रहते हैं और तब एक पांच

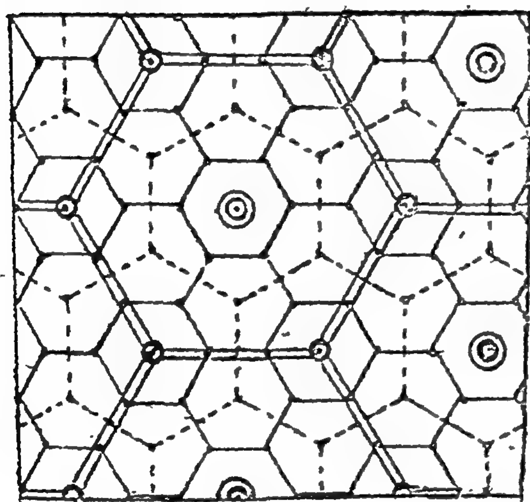
स्तरीय पदानुक्रम में 1 महानगर, उच्च-स्तर का माल 2 नगरों, 6 कस्बों व 18 ग्रामों और 54 पुरवों के बराबर पूर्ति करेगा। चित्र संख्या 4.3.

इस प्रकार केवल एक दूरी के घर के आधार पर ही सरलीकृत मॉडल में एक जटिल पदानुक्रमीय केन्द्रों का जाल विकसित हो जाता है जो कि स्थानिक रूप में व्यवस्थित तन्त्र का रूप लेता है। यह सम्पूर्ण क्रम मांग और पूर्ति या आदान-प्रदान से होता है। इसको गतिशीलता देने का कार्य शक्ति-परिवर्तन-प्रक्रिया का चक्र करता है। जिसमें जनसंख्या की मांग (मुद्रा के रूप में) उत्पादकों के लिये लागत तत्व बनते हैं, जो उत्पादन के रूप में पूर्ति करते हैं। इसके खरीदने से मांग भी पूरी होती है और मुद्रा के रूप में लागत तत्व पुनः उद्योग को प्राप्त होते हैं, जिससे चक्रीय व्यवस्था स्थापित हो जाती है और मांग और पूर्ति का स्थानिक रूप विकसित हो जाता है, क्योंकि दोनों अलग अलग भागों में स्थित होते हैं तथा शक्ति परिवर्तन की प्रक्रिया वहां रुक जाती है जहां मांग खत्म हो जाती है या माल की पहुंच का क्षेत्र समाप्त हो जाता है। यह क्षेत्र अलग 2 स्तर की वस्तुओं का अलग 2 होता है जैसे उच्च शिक्षा का अधिक विस्तृत एवं निम्न श्रेणी की शिक्षा का छोटा होता है।

क्रिस्टलर का सिद्धान्त—क्रिस्टलर (Walter Christaller) ने 1933 में 'सेन्ट्रल प्लेसेज इन साउथ जर्मनी' (Central Places in South Germany) नामक पुस्तक में यह सैद्धान्तिक स्वरूप विकसित किया। क्रिस्टलर के अनुसार निम्नांकित मान्यताएँ थी—

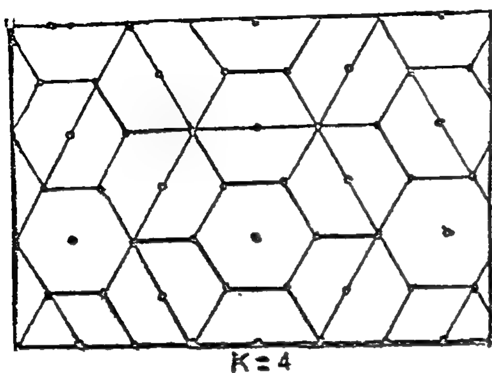
(1) एक समानताओं वाला विस्तृत क्षेत्र हो,
(2) इसमें ग्रामीण जनसंख्या का समान वितरण हो,
(3) जनसंख्या के केन्द्रों का त्रिभुजाकार वितरण हो,
(4) प्रत्येक कार्य के लिये एक बाजारी सीमा हो,
(5) दिये हुए कार्य के लिये न्यूनतम जनसंख्या का स्वरूप हो,
(6) जनसंख्या का स्थानिक केन्द्रों के प्रति स्थायी व्यवहार हो अर्थात् यह हमेशा अपने नजदीक के केन्द्र से ही दिये हुए स्तर की वस्तु खरीदती हो और अन्य केन्द्र को कोई उस स्तर के माल को खरीदने के लिये महत्व न दे। इसमें क्रिस्टलर ने दूरी पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उत्पादित वस्तु प्राप्त करने को आधार माना है। दूसरे शब्दों में यह बाजारी-सिद्धान्त पर आधारित है। अतः विभिन्न केन्द्रों का पदानुक्रम, आकार एवं मध्य का स्थान उनकी दूरी पर आधारित है। इस दृष्टि से उच्च श्रेणी के केन्द्र अधिक दूर होंगे व निम्न श्रेणी के केन्द्र अपेक्षाकृत अधिक पास में होंगे जो कि सेवा या उत्पादित माल की अधिकतम सीमा पर निर्भर करते हैं। इन व्यापारिक क्षेत्रों का परीक्षण करने

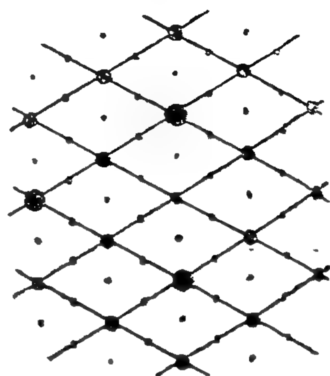
पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जो वस्तुएँ अपने समर्थन में अधिक मात्रा में मांग चाहती है वे कुछ ही केन्द्रीय स्थानों पर उपलब्ध होती है तथा जिन वस्तुओं की मांग का स्तर निम्न होता है वे दूसरे, तीसरे स्तर के केन्द्रों पर उपलब्ध होती हैं। इसे क्रिस्टलर ने K = 3 मूल्य पर आधारित बाजार-सिद्धान्त (Marketing Principle) नाम दिया K से तात्पर्य क्षेत्र/बड़े केन्द्र के लिये उससे निम्न स्तर के केन्द्रों की संख्या से है। यहां क्रिस्टलर के K = 3 सिद्धान्त के अनुसार जहां निम्न स्तर के केन्द्रों की संख्या तिगुनी बढ़ जाती है, वही उस श्रेणी के प्रत्येक केन्द्र की जनसंख्या उसकी 1/3 हो जाती है। अर्थात् प्रथम श्रेणी का प्रमुख शहर अगर K है तो वहां तीन केन्द्र K/3 जन संख्या के होंगे जो प्रत्येक द्वितीय श्रेणी के होंगे। 9 केन्द्र तीसरी श्रेणी (स्तर) के होंगे व उनकी जनसंख्या K/9 होगी 27 केन्द्र चौथी श्रेणी के होंगे व प्रत्येक की जन संख्या K/27 होगी। इसी प्रकार अन्य श्रेणियां होंगी इनका क्रम 1,3,9,27, 81....के रूप में होगा, इस क्रम में गौण केन्द्र मुख्य केन्द्र के चारों ओर सीमा रेखा के कोनों पर स्थित होंगे। जैसा कि चित्र संख्या 4.4 में दर्शाया गया है। इसमें एक उच्च स्तर के केन्द्र स्थान का क्षेत्र दो बराबर आकार (प्रत्येक $\frac{1}{3}$) के द्वितीय स्तर के केन्द्रों से घिरा होगा। इस प्रकार इस सिद्धान्त में प्रत्येक आकार के केन्द्रों का क्रम 1,2,6 18 54....होगा तथा प्रत्येक स्तर के बाजारी क्षेत्र का क्रम 1,3,9,27,81... होगा। मंडल[7] ने उत्तरी बिहार के 342 केन्द्रों के अध्ययन में पाया कि उच्च स्तर के केन्द्रों का क्रम क्रिस्टलर के K = 3 सिद्धांत से मिलता है लेकिन निम्न स्तर के केन्द्रों में यह व्यवस्था नहीं मिलती है। सावंत और भोले[8] ने इन्द्रायणी बेसिन में केन्द्रीय स्थानों की केन्द्रीयता व पदानुक्रम का अध्ययन करते हुए क्रिस्टलर के K = 3 मॉडल से लगभग मिलता जुलता प्रतिरूप पाया। भारत में बड़े प्रदेशों के आधार पर केन्द्रिय स्थानों का अध्ययन कम ही हो पाया है।



चित्र संख्या 4.4

इसी प्रकार क्रिस्टलर ने K=4 मूल्य पर यातायात-सिद्धान्त (Traffic-principle) स्पष्ट किया। इस प्रकार की व्यवस्था में अधिक से अधिक केन्द्रीय स्थानों को बड़े नगरों के मध्य के एक ही मार्ग पर व्यवस्थित करना है जिससे



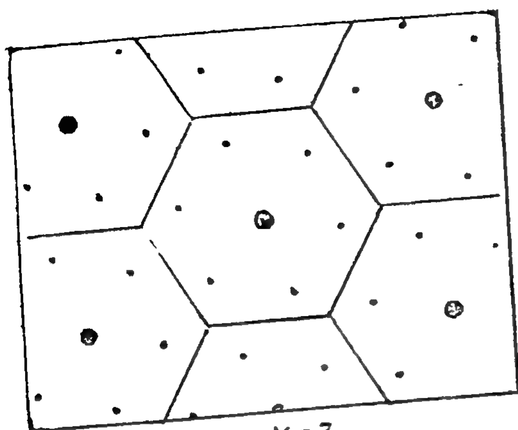


क ख

चित्र संख्या 4.5

परिवहन लागत कम से कम आये व मार्ग निर्माण का खर्च कम हो। इस सिद्धांत के अनुसार केन्द्रीय स्थानों का पदानुक्रम 1,4,16,64,....के रूप में होगा। इस मॉडल में मुख्य केन्द्र के चारों ओर गौण केन्द्र सीमा रेखा के किनारे मुख्य केन्द्रों के मध्य स्थित होंगे। यहां एक उच्च स्तरीय केन्द्र का क्षेत्र तीन समान आकार के, उससे निम्न स्तर के केन्द्रों के क्षेत्र (6 घेरे हुये केन्द्रों का $\frac{1}{2}$ क्षेत्र) से घिरा होगा। जैसा कि चित्र 4.5 में दिखाया गया है। क्रिस्टलर का यह सिद्धान्त कम ही देखने में आता है। इसका आंशिक प्रतिरूप श्री वास्तव[8] (1977) ने बहराइच जिले के सामयिक बाजार व ग्रामीण विकास के अध्ययन में पाया। वहां बाजारी केन्द्रों का विकास सड़कों व रेल मार्गों से समान रूप से प्रभावित हुआ है।

क्रिस्टलर के अनुसार जिन क्षेत्रों में प्रशासनिक नियंत्रण आवश्यक हैं, वहां केन्द्रीय स्थानों की स्थापना K=7 के मूल्य वाले प्रशासनिक-सिद्धान्त (Administrative-principle) पर निर्भर करती है। इस मॉडल में गौण केन्द्र प्रमुख केन्द्रों के बीच इधर या उधर स्थित होते हैं। ग्राहकों को यह सुविधा होती है कि वे किसी भी केन्द्र से वस्तु खरीद सकते हैं। यहां एक उच्च स्तर के केन्द्र का क्षेत्र 7 निम्न स्तर के केन्द्रों के क्षेत्र के बराबर होता है। इस प्रकार के केन्द्रीय स्थानों की व्यवस्था में प्रत्येक केन्द्रीय स्थान क्षेत्र के केन्द्र में स्थित होता है। इस व्यवस्था में केन्द्रीय स्थानों के क्षेत्र का क्रम 1, 7, 49, 343,....रूप में



K = 7

चित्र संख्या 4.6

होता है जैसा कि चित्र संख्या 4.6 में दर्शाया गया है। बेरी[9] ने (1969) कानपुर प्रदेश में गांवों व कानपुर को तीन स्तरीय पदानुक्रम का पाया जो क्रिस्टलर के K = 7 प्रशासकीय सिद्धान्त से अधिक मिलता है। 53 नगरों में कानपुर को प्रादेशिक केन्द्र (उच्च स्तर का), 7 नगर जिला स्तर के, 42 केन्द्र तहसील स्तर के (इनमें वास्तव में 20 ही तहसील मुख्यालय थे) और 294 हाट स्तर के थे। ये प्रशासकीय सिद्धान्त के 1, 6, 42, 294....की संख्या से मिलते हैं इनमें अन्तिम केन्द्रों को अनुमानित लिया।

केन्द्र स्थानों की केन्द्रीयता—

किसी भी केन्द्र की केन्द्रीयता वहां के कार्य या सेवाओं की संख्या, उनका स्तर, विस्तार आदि पर निर्भर करती है। लेकिन यहां यह बात स्मरणीय है कि वे सभी गतिविधियां जो किसी सेवा केन्द्र द्वारा, आस पास के क्षेत्र के लिये अपनायी जाती है वे ही केन्द्रीय कार्य कहलाती हैं। इस प्रकार की सेवाएँ अगर विदेश या निर्यात से सम्बन्धित हो और स्थानीय ग्राहकों से सम्बन्धित न हो तो केन्द्रीय कार्य नहीं कहलाती है। केन्द्र स्थानों के कार्यों की किश्म दो बातों से प्रभावित होती है—

(1) **कार्यात्मक पदानुक्रम का स्तर—**

इससे तात्पर्य केन्द्र द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले माल या सेवा के स्तर से है क्योंकि सभी केन्द्रीय स्थानों पर सभी प्रकार के कार्य या सेवाएँ समान स्तर पर प्रस्तुत नहीं की जाती है। अतः महानगर, नगर, कस्बे, ग्राम आदि सभी अपने आसपास के प्रदेश (पृष्ट प्रदेश) के सन्दर्भ में ही केन्द्रीय कहलाते हैं। इस प्रकार के अध्ययन किसी एक संकेतक या सभी कार्यों पर आधारित संकेतकों पर हो सकते हैं। भारत में कार[9] (1960), मेफील्ड[10] (1967) भट्टाचार्य[11] (1972), कृष्णन एवं चन्द्रा[12] (1976), प्रकाश राव[13] (1964) मुखर्जी[14] (1968) द्वारा इस प्रकार के अध्ययन किये गये हैं।

केन्द्र का महत्व सामान्यतः उसकी जनसंख्या के आकार या नगर के क्षेत्रीय

विस्तार पर आंका जाता है लेकिन वास्तव में न तो केन्द्र की जनसंख्या और न ही उसका क्षेत्रीय विस्तार उसकी केन्द्रीयता या महत्व को स्पष्ट करता है। यद्यपि केन्द्र की केन्द्रीयता एवं जनसंख्या के आकार में सामंजस्य अवश्य देखने में आता है । लेकिन एक केन्द्र द्वारा अपने पृष्ट प्रदेश को दी जाने वाली सेवाएँ व पृष्ट प्रदेश द्वारा दी जाने वाली सेवाओं के आधार पर क्षेत्र की गणना करके केन्द्रीयता निर्धारित की जा सकती है । केन्द्रीय स्थानों का पदानुक्रम भी केन्द्रीय कार्यों के पदानुक्रम से सम्बन्धित होता है, जैसा कि हम प्राथमिक स्कूल से विश्वविद्यालय के स्तर तक पाते हैं । प्राथमिक शाला के केन्द्र अधिक होते हैं और जैसे 2 सेवा या माल का स्तर ऊंचा होता जाता है उससे सम्बन्धित केन्द्र स्थानों की संख्या कम होती जाती है । यहां कॉलेज स्तर की सेवा के केन्द्र कम होंगे और विश्वविद्यालय स्तर के केन्द्र और कम होगे । सक्षेप में सेवा के पदानुक्रम में जैसे 2 उच्च स्तर की ओर बढ़ते हैं, उससे सम्बन्धित केन्द्रों की संख्या कम होती जाती है और उससे सम्बन्धित पृष्ट प्रदेश अधिक विस्तृत होता जाता है इस प्रकार हम कार्यात्मक पदानुक्रम निर्धारित कर सकते हैं अर्थात् कार्यात्मक पदानुक्रम का स्तर जितना ऊंचा होगा, कार्य से सम्बन्धित केन्द्रीयता भी उतनी ही ऊंची होगी । सिंह[15] (1955) ने इसके लिये केन्द्र की व्यापारिक कार्यों में लगी जनसंख्या को आधार बनाकर बनारस के पृष्ट प्रदेश में कस्बों का वर्गीकरण उनके आकार व सेवाओं के आधार पर 4 श्रेणी में किया ।

(2) माल या सेवाओं की संख्या—

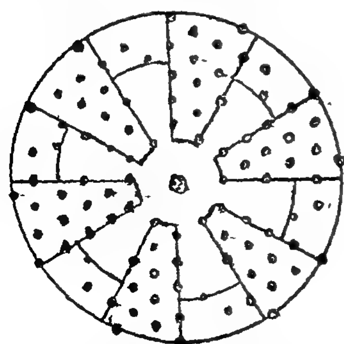
केन्द्र स्थान की केन्द्रीयता उसके द्वारा दी जाने वाली सेवाओं की संख्या से भी प्रभावित होती है । अगर दो नगर एक समान स्तर की सेवाएं प्रदान करते हैं, लेकिन एक नगर दूसरे की अपेक्षा ज्यादा संख्या में सेवाएं प्रदान करता है तो वह अधिक महत्वपूर्ण होगा ।

केन्द्रीयता को आंकने के लिए केन्द्र व उसके आस पास के प्रदेश के मध्य सह लग्नता (Linkage) को भी अपनाया जा सकता है । जैन[16] ने (1971) दूरभाष सम्बन्धों के आधार पर विदर्भ के नगरों के पदानुक्रम का अध्ययन किया। दत्त व बनर्जी[17] (1970) के अध्ययन भी इसी प्रकार के हैं ।

इस प्रकार हम जानते हैं कि विभिन्न केन्द्रों पर कार्यो की संख्या व स्तर भिन्नता लिये होता है तथा अलग 2 समय में अलग 2 होता है । अत: केन्द्रीयता की माप भी इन दोनों पर निर्भर करती है । भारत में इस प्रकार के अधिकांश अध्ययन पश्चिमी अध्ययनों पर आधारित हैं, जो भारतीय सन्दर्भ में अधिक उपयोगी नहीं है तथा सभी विधियाँ भिन्नता लिये हैं एवं तुलनात्मक दृष्टि से काफी भिन्न है । इसलिये किसी एक समान विधि की आवश्यकता है ।

क्रिस्टलर की K व्यवस्था की समीक्षा—

इस सम्पूर्ण K व्यवस्था का मुख्य दोष यह है कि यह वस्तुओं में मांग की भिन्नता या अन्तर को अधिक परिवर्द्धित कर देती है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी उच्च स्तर के केन्द्र सभी छोटे स्तर के केन्द्रों के कार्य करते ही हों व साथ ही इनका क्रम भी बिल्कुल एक समान हो। वास्तविक दशाओं में नगरों का जाल इस प्रकार के षट्कोणीय रूप में नहीं मिलता है, न ही नगर समान आकार के होते हैं और न ही समान दूरी पर स्थित होते हैं। यह तो सही है कि विशेष किस्म के कार्य, जिनकी लोगों को बार 2 आवश्यकता नहीं होती है वे बड़े केन्द्रों पर व दूर 2 स्थित होते हैं जैसे सर्जन की सेवाएं, उच्च शिक्षा की सुविधाएं आदि। लेकिन वास्तविक दशा में नगरीय व्यवस्था किसी एक उद्देश्य या सिद्धान्त पर आधारित नहीं होती है, जबकि वास्तविक दशा में K = 3, K = 4, K = 7 का मिश्रित प्रतिरूप देखने को मिलता है। इस दृष्टि से जर्मन अर्थशास्त्री अगस्ट लॉश[18] (August Losch) का कार्य महत्वपूर्ण है। जिसने क्रिस्टलर के सिद्धान्त में संशोधन करके अधिक लचीली व्यवस्था को प्रस्तावित किया जो वास्तविक दशाओं के अधिक नजदीक है। लॉश ने बताया कि षट्कोणों की आकृति व अभिस्थापन (दृष्टिकोण) परिवर्तित करने से K = 9, 12, 13, 16, 19, 21, 27....व्यवस्था प्राप्त की जा सकती है। इसमें भी कार्यों का एक पदानुक्रम बताया गया है लेकिन विभिन्न केन्द्रों पर पाये जाने वाले कार्यों का संयुक्तीकरण क्रिस्टलर की अपेक्षा अधिक भिन्नता लिये है। लॉश ने बताया कि उच्च स्तर के केन्द्र आवश्यक नहीं कि सभी निम्न क्रम के केन्द्रों का कार्य करते हों। इसी प्रकार नगरों का वितरण ऐसे ही पदानुक्रम में समानता लिये होगा यह भी आवश्यक नहीं है।



लॉश द्वारा बताये गये बस्तियों के वृत में 6 खण्ड

चित्र संख्या 4.7

लॉश के अनुसार अगर केन्द्रीय नगर के चारों ओर विभिन्न षट्कोण जालों को घुमाया जाय तो आर्थिक भू-दृश्य में बस्तियों के वृत में 6 खण्ड की व्यवस्था विकसित हो जायगी प्रत्येक खण्ड 60^0 का होगा जिसके दो भाग होंगे, जिसमें अधिक कार्यों वाले या विशिष्टीकरण वाले व कम कार्यों

वाले क्षेत्र विकसित हो जायेंगे। देखिये चित्र संख्या 4.7। यद्यपि लॉश ने क्रिस्टलर की षट्कोणीय व्यवस्था से सहमति प्रकट की है लेकिन उसने इसमें कुछ अन्तर भी प्रस्तुत किये हैं। उत्तरी बिहार के केन्द्रीय स्थानों के पदानुक्रम का अध्ययन करते हुए मडल[19] (1980) ने लॉश के आर्थिक भू-दृश्य से काफी मिलता जुलता प्रतिरूप पाया, लेकिन यह उच्च स्तर के केन्द्रो में मिलता है और निम्न स्तर के केन्द्रों में नहीं पाया जाता हैं।

क्रिस्टलर व लॉश के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन—

1. क्रिस्टलर का अध्ययन का प्रदेश द. प जर्मनी का बवेरिया प्रान्त था जहां उसने 1933 में अध्ययन किया, जवकि लॉश का अध्ययन क्षेत्र U.S.A. का आयोवा प्रान्त था जहां 1945 में अध्ययन किया।
2. क्रिस्टलर ने बस्तियों के पदानुक्रम को सबसे ऊंचे स्तर के नगरों से प्रारम्भ किया, जब कि लॉश ने ग्रामीण स्तर की बस्तियों से ऊपर की ओर क्रम को बढ़ाया।
3. क्रिस्टलर का सिद्धान्त फुटकर व्यवसाय एवं थोक व्यवसाय तथा सेवा व्यवसाय की दृष्टि से स्थिति को समझने में सहायक है, जवकि लॉश के अनुसार वाजार पर आधारित निर्माण उद्योगों के स्थानिक वितरण को समझने में सहायता प्रदान करता है।
4. क्रिस्टलर के अनुसार सभी उच्च स्तर के केन्द्र निम्न स्तर के केन्द्रों के कार्य भी करते हैं, जबकि लॉश के अनुसार ऐसा आवश्यक नहीं है।
5. क्रिस्टलर के अनुसार एक स्तर के सभी केन्द्र एक समान आकार व समान कार्यो वाले होते हैं लेकिन लॉश के अनुसार समान आकार के केन्द्रों पर समान कार्य होगे, आवश्यक नही है।
6. क्रिस्टलर के अनुसार अलग 2 पदानुक्रम-स्तर के केन्द्र अलग 2 प्रकार के माल की पूर्ति करते हैं, जवकि लॉश के अनुसार एक ही स्थान सभी प्रकार के माल की पूर्ति का केन्द्र हो सकता है।
7. क्रिस्टलर के अनुसार एक बार जब K मूल्य स्थापित हो जाते हैं तो फिर सम्पूर्ण पदानुक्रम में स्थायी रहते हैं, लेकिन लॉश के अनुसार ऐसा आवश्यक नहीं है।
8. क्रिस्टलर के अनुसार निम्न स्तर के केन्द्रों की स्थिति का विचार वड़े केन्द्रों की स्थिति के सापेक्ष होना चाहिये, जबकि लॉश के अनुसार विभिन्न अनुकूलतम स्थितियों को समग्र रूप में देखना चाहिये।

9. क्रिस्टलर की व्यवस्था विरल जन संख्या के प्रदेशों में नगरों के प्रतिरूप को समझने में सहायक है जबकि लॉश की व्यवस्था सबसे छोटी व कम विशिष्टता वाली बस्ती से प्रारम्भ होती है और सघन आबादी की बस्तियों के क्षेत्र में आर्थिक परिवर्तनों को समझने में सहायक है।

10. क्रिस्टलर की व्यवस्था सैद्धान्तिक अधिक है, जबकि लॉश की व्यवस्था वास्तविक संसार के निकट है।

आलोचना:– (1) लॉश [क्रिस्टलर दोनों] द्वारा प्रस्तुत मॉडल स्थिर प्रकृति के हैं। दोनों ने ही यह नही बताया कि समय के अनुसार इनमें किस प्रकार का परिवर्तन आ सकता है, क्योंकि इस प्रकार की स्थिति काल्पनिक है, जबकि परिवर्तन एक वास्तविकता है वॉन बोवन्तेर[20] (1962) ने बताया कि प्रारम्भिक रूप में लॉश द्वारा प्रस्तावित व्यवस्था आत्मनिर्भर स्थानिक-इकाई से बनी तथा जैसे 2 नये कार्य उत्पादन के पैमाने की बचत के अनुसार बढ़ने लगे इसमें संशोधन होता गया। यह दृष्टिकोण भ्रमित करने वाला है फिर भी इसे संभावित कई विश्लेषणों में से एक मानना चाहिये।

(2) लॉश की व्यवस्था में सन्देह का दूसरा आधार व्यवस्था के खुले पन से सम्बन्धित है। इस पर भी लॉश ने कुछ नहीं बताया। वॉन बॉवन्तेर के दृष्टिकोण से व्यवस्था में साधारण दोहरा व्यापार या आदान प्रदान वर्तमान है। इस विचार के अनुसार लॉश की व्यवस्था पूर्णतः बन्द व्यवस्था है जिसमें कृषि क्षेत्र में उत्पादित माल का उपयोग केन्द्र स्थान की फर्म व उद्योग करते हैं और केन्द्र स्थान से उपलब्ध सेवाओं का उपयोग कृषि क्षेत्र करता है।

दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि अगर कृषि से उत्पन्न वस्तुएँ सीधे अन्य प्रदेश को निर्यात करदी जाती हो और केन्द्रीय स्थानों पर बना हुआ माल अन्य क्षेत्रों से सीधे वितरण के लिये या लागत तत्वों के रूप में आयात किया जाता हो। ऐसी दशा में अर्थ तंत्र में एक पक्षीय व्यापार होगा अर्थात् कृषि क्षेत्र केन्द्रीय स्थानों से माल खरीदेगा लेकिन उसे न बेच कर निर्यात कर दिया जायगा, इससे त्रिभुजाकार व्यापार का प्रतिरूप विकसित होगा। ऐसी दशा में पूर्णतः खुली व्यवस्था कही जायगी।

(3) लॉश ने समूहन के प्रभाव को भी पूर्णतः अस्वीकार किया है जो कि एक महत्वपूर्ण स्थिति निर्धारक तत्व है क्योंकि नगरीकरण से वाह्य बचतें प्राप्त होती हैं जिससे समूहन की प्रवृत्ति बढ़ती है।

(4) लॉश के अनुसार ग्राहकों पर परिवहन खर्च का प्रभाव पड़ता है, विशेषकर जबकि केन्द्र पर एक ही प्रकार का कार्य होता हो लेकिन वास्तविक

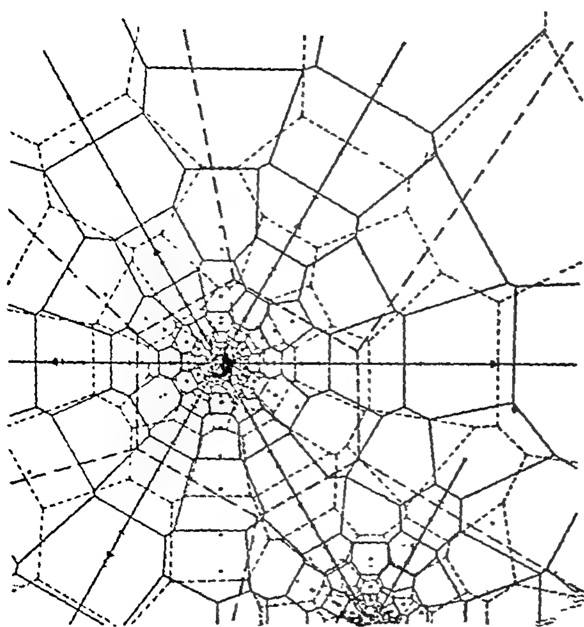
दशा में सभी केन्द्र एक से अधिक कार्यों वाले होते हैं और ग्राहक बहुउद्देशीय आधार पर यात्रा करता है। अतः परिवहन खर्च दो या दो से अधिक कार्यों पर विभाजित हो जायगा। इससे मांग का वक्र प्रभावित होगा एवं सम्पूर्ण अर्थ तंत्र का स्वरूप परिवर्तित हो जायगा।

(5) आइजार्ड[21] ने लॉश के अर्थ तंत्र की सुडौल आकृति पर भी आपत्ति की है। क्योंकि यह वास्तविक नहीं है। लॉश के मॉडल में पूर्ति के केन्द्र पर अधिक नियोजन की सुविधाओं के कारण अधिक जनसंख्या होगी। अतः किसी कार्य विशेष के लिये आवश्यक बाजार केन्द्र के निकट छोटा होगा तथा केन्द्रीय स्थान के पृष्ट प्रदेश पर मांग का प्रभाव डालेगा। अतः जैसे 2 दूरी बढ़ती जायगी, कृषि उत्पादन कम गहन होता जायगा और जनसंख्या भी दूरी बढ़ने के अनुसार कम होती जायगी। अतः लाभ के लिये उपयुक्त बाजार का क्षेत्र, केन्द्र के पास छोटा होगा और दूरी पर अपेक्षाकृत बड़ा होगा। अतः अर्थ तंत्र सुडौल आकृति का नहीं होगा।

(6) आइजार्ड (1956) के अनुसार लॉश के विचारों में मुख्य दोष यह है कि इसके अनुसार विभिन्न केन्द्रों पर भिन्न 2 आकार की औद्योगिक गतिविधियां व सेवाएं होती हैं व विभिन्न केन्द्रों पर कार्य के अवसर भी अन्तर लिये होते हैं। फिर भी लॉश की अभिधारणा उपभोक्ता जनसंख्या के समान वितरण पर आधारित है।

(7) एक अन्य कमी यह है कि लॉश के अनुसार यह ऐसी दशाओं से सम्बन्धित है जहां पर कच्चे माल की आवश्यकता नहीं होती है अर्थात् या तो वे सर्वत्र सुलभ हैं या समान मूल्य पर उपलब्ध हो जाते हैं। जबकि वास्तव में स्थिति निर्धारण में कच्चे माल पर या बाजार पर आधारित दशाओं का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, इन्हें लॉश ने सम्मिलित नहीं किया है।

इस प्रकार लॉश के सिद्धान्त में कुछ कमियां है लेकिन फिर भी लॉश की व्यवस्था में वास्तविक संसार की कई घटनाओं की, कई दृष्टि से प्रतिकृति देखी जा सकती है। जैसे एक छोटा केन्द्र भी बड़े केन्द्र को माल या सेवा की पूर्ति कर सकता है। चाहे यह दुर्लभ घटना हो। उत्तरी अमेरिका के अन्य भागों में अगर इसका उपयोग किया जाता है तो इसमें निहित सिद्धान्त अधिक तर्क संगत होंगे। इस प्रकार यह व्यवस्था आन्तर-महानगरीय खुदरा और सेवाओं सम्बन्धी गतिविधियों की स्थिति को समझने के लिये अधिक उपयोगी है। इसी प्रकार राष्ट्रीय स्थानिक अर्थ व्यवस्था की संरचना में सेवाओं से सम्बन्धित गतिविधियों के बढ़ते प्रभाव के साथ ही इसका महत्व भी बढ़ जाता है।



चित्र संख्या 4.8

आइज़ार्ड ने (1956) जनसंख्या का वितरण, ग्रामीण एवं शहरी भूमि उपयोग के प्रतिरूप तथा माल के प्रवाह के द्वारा केन्द्रीय स्थानों की स्थिति का अधिक वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया जो केन्द्रीय स्थानों की संरचना एवं कार्यों को निश्चित करता है तथा पृष्ट प्रदेश की जनसंख्या की आय, संसाधन, श्रमिकों की उत्पादकता, कुल उत्पादन एवं जीवन स्तर के आधार पर केन्द्रीय स्थानों की फर्मों की स्थिति का निर्धारण करने में सहायक है।

इस प्रकार केन्द्रीय स्थान साध्य, इसकी प्रारम्भिक मान्यताएं यथा-षट्कोणीय आकार, केन्द्रीय स्थानों की संख्या में निश्चितता तथा उनका पदानुक्रमीय स्तर, केन्द्र स्थान के पृष्ट प्रदेश को बन्द व्यवस्था मानना, जनसंख्या के वितरण तथा क्रय क्षमता में समानता, K = 3, 4, 7 के नियम की स्थिरता तथा एक समान परिवहन व्यवस्था आदि सभी स्थिर प्रकृति के हैं। यद्यपि केन्द्र स्थान साध्य की शक्ति इसके विचार में है न कि इसकी मान्यताओं में।

केन्द्रीय स्थानों के अध्ययन का महत्व—

प्रादेशिक नियोजन या आर्थिक नियोजन की दृष्टि से केन्द्रीय स्थानों के अध्ययन का बहुत महत्व है, विशेष कर ग्रामीण अधिवासों की नियोजित वृद्धि, विश्लेषण, वर्णन एवं विवेचन के लिये बहुत आवश्यक है। इसके द्वारा प्रादेशिक असंतुलन को कम करने, असंतुलित सेवा-सुविधाओं को संतुलित करने, परिवहन की अपर्याप्त सुविधाओं को पर्याप्त रूप से विकसित करने, ग्रामीण उपभोक्ताओं की असुविधाओं को कम करने तथा विभिन्न संसाधनों तक केन्द्रीय स्थानों की पहुंच को बढ़ाने में सहायता मिलती है। केन्द्रीय स्थानों का अध्ययन मानव, सेवाएं तथा माल के प्रवाह को युक्ति संगत बनाने व प्रादेशिक विकास के लिये

वृद्धि केन्द्रों की स्थिति ज्ञात करने में सहायक है साथ ही केन्द्रीय स्थानों के कार्यो या सेवाओं के युक्ति संगत वितरण को निर्धारित करने में सहायता प्रदान करता है।

केन्द्रीय स्थान सिद्धान्त के अनुसार जर्मनी में प्रादेशिक नियोजन किया गया उत्तरी पूर्वी पोल्डर क्षेत्र में प्रारम्भिक वर्षों में अधिवासों की स्थिति जनसंख्या का आकार, सम्बद्धता, पदानुक्रम तथा सेवा कार्य व विपणन कार्यों का निश्चय इसी सिद्धान्त के आधार पर किया गया जिसमें समय के साथ 2 परिवर्तन आता गया और वह प्रादेशिक तंत्र का एक अंग बन गया। लेकिन यह स्मरणीय है कि किसी प्रदेश के नियोजन में किसी एक प्रकार का सिद्धान्त सदैव के लिये लागू नहीं किया जा सकता है। उसमें समय 2 पर संशोधन व परिवर्तन तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुसार अपेक्षित है।

कृषि उत्पादन का स्थानिक प्रारूप
(Spatial pattern of Agricultural production)

कृषि उत्पादन विस्तृत क्षेत्र पर होता है। अतः कृषि में स्थानीयकरण जैसी कोई समस्या नहीं है। जैसी कि किसी उद्योग विशेष के स्थानीयकरण में होती है। लेकिन किसी क्षेत्र विशेष में कौनसी फसल विशेष को उत्पन्न किया जाय, इसका निर्णय करना पड़ता है। जिस तरह केन्द्रीय नगर अपने आस पास के क्षेत्र की मांग की पूर्ति विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन एवं सेवा द्वारा करते हैं, वैसे ही नगरों की मांग की पूर्ति कृषि क्षेत्र में उत्पादन में लगे व्यक्ति करते हैं। इसलिये यहां भी एक आदान-प्रदान का चक्र स्थापित हो जाता है।

हमारे सरलीकृत आर्थिक मॉडल में पुनः हम यह देखें कि उत्पादकों (कृषकों) का मुख्य उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना है, तब वे भूमि का उपयोग इस प्रकार करेंगे कि अलग-अलग प्रकार की भूमि की इकाई से अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। लेकिन हमारे इस मॉडल में अन्य सभी बातें समान हैं अतः यहां पर दूरी या भूमि की स्थिति महत्वपूर्ण है। किसी भी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की मांग व पूर्ति के सम्बन्ध को दर्शाता है। अगर सभी कृषि-उत्पादन की वस्तुएं एक बाजार (केन्द्र) में जाती है तो सभी कृषक हर एक प्रकार की वस्तु के लिए एक सामान्य मूल्य पायेंगे।

कृषकों का कुल लाभ = उत्पादित वस्तु का बाजारी मूल्य — उत्पादन लागत,

लेकिन ऐसी स्थिति संभव नहीं है क्योंकि कृषि में विस्तृत भूमि का उपयोग होता है। अतः कृषक को जो मूल्य प्राप्त होगा उसमें से उत्पादन लागत व उस माल को बाजार तक पहुंचाने की लागत भी कम करनी होगी; इसे इस सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

शुद्ध लाभ = वस्तु का बाजारी मूल्य—(उत्पादन लागत + परिवहन लागत) इस दृष्टि से सबसे उपयुक्त स्थिति बाजार के निकट के क्षेत्रों की होगी क्योंकि हमारे इस मॉडल में सभी जगह उत्पादन लागत समान है। अत: इस दृष्टि से बाजार से दूरी महत्वपूर्ण है जिससे नजदीक के क्षेत्र उपयुक्त स्थिति में व दूर के क्षेत्र घटती उपयोगिता के हो जायेंगे। अगर एक वस्तु का उत्पादन लें तो निम्न सूत्र द्वारा व्यक्त कर सकते हैं:—

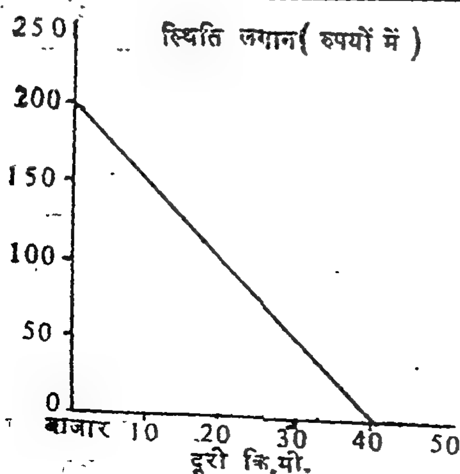
स्थिति लगान = उ(वा. मू.—उ.ला.)—उ × प.ला. × दूरी

अर्थात् स्थिति लगान = प्रति इकाई भूमि की स्थिति का लगान (स्थिति का लाभ)

उ = प्रति इकाई भूमि की उपज
वा मू. = प्रति इकाई वस्तु का बाजार में मूल्य
उ.ला = प्रति इकाई वस्तु की उत्पादन लागत
प.ला = प्रति इकाई परिवहन लागत
दू = बाजार से दूरी

फसल 'अ' की बाजार से दूरी से स्थिति लगान में भिन्नता

दूरी कि. मी. में	0	10	20	30	40
कुल परिवहन लागत	0	50	100	150	200
प्रति इकाई भूमि की स्थिति का लगान	200	150	100	50	0



चित्र संख्या 4.9

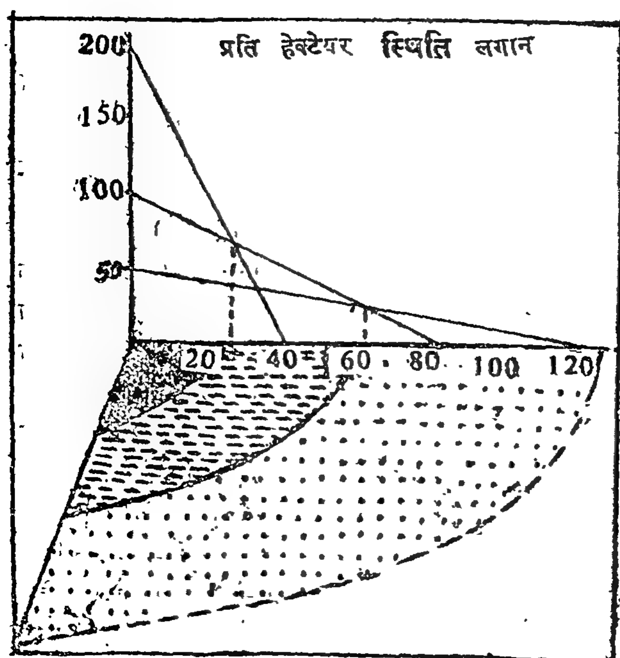
चित्र 4 9 की स्थिति में 40 कि. मी. की दूरी तक ही फसल का उत्पादन होगा इसके आगे फसल का उत्पादन रुक जायगा क्योंकि इससे आगे उत्पादन करने में हानि होने लगती है। बाजार के निकट की भूमि का महत्व अधिक होने के कारण वहां प्रतिस्पर्द्धा होती है यह स्पष्ट करता है कि एक फसल के उत्पादन में किस प्रकार दूरी महत्वपूर्ण होती है। इसी तरह हम अन्य फसलों के

उत्पादन के लिये बाजार से उनकी सापेक्षिक दूरी ज्ञात कर सकते हैं। प्रत्येक कृषि उत्पादन के लिये अलग 2 लाभ का वक्र बनेगा। प्रत्येक कृषि उत्पादन के लिये—

(1) वस्तु का बाजारी मूल्य उसकी मांग व पूर्ति पर निर्भर करता है।
(2) वस्तु के भारी पन व टिकाऊ पन पर परिवहन लागत निर्भर करती है।
(3) वस्तु की उत्पादन लागत सभी जगह समान मानी गई है।
(4) भूमि की प्रति इकाई एक उपज विशेष होती है।

इस प्रकार प्रत्येक फसल का अलग 2 वक्र बनेगा जो 'Y' धुरी पर उस माल के बाजारी मूल्य के अनुसार ऊंचाई लिये होगा तथा 'X' धुरी पर उस माल की परिवहन स्थिति के अनुसार होगा।

संलग्न चित्र 4. 10 में यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार स्थिति लाभ किसी भू भाग में फसल के उत्पादन को निर्धारित करता है। 'अ' वस्तु का उत्पादन 40 कि. मी. दूर तक व 'ब' वस्तु का 80 कि. मी. दूर तक व 'स' वस्तु का उत्दादन 120 कि. मी. तक हो सकता है। लेकिन अगर हम इस चित्र का अध्ययन करें तो पता लगेगा कि वस्तु अ का उत्पादन बाजार से 26 कि.मी. की दूरी तक ही 'ब' वस्तु की वक्र रेखा से ऊपर रहता है अर्थात् लाभ प्रदान करता है लेकिन 26 कि. मी. के बाद ब का लाभ मूल्य 'अ' की अपेक्षा बढ़ जाता है। अतः 26 कि. मी. के बाद वस्तु 'ब' का उत्पादन लाभ प्रद होगा। ब



चित्र संख्या 4.10

का उत्पादन 60 कि. मी. की दूरी तक ही होगा क्योंकि यहां तक 'स' का वक्र

ब की अपेक्षा नीचा रहता है अर्थात् ब से लाभ प्राप्त होता है लेकिन 60 कि.मी. की दूरी के बाद ब का वक्र स के वक्र से नीचा हो जाता है। अतः अब स से लाभ मूल्य मिलने लगता है। अतः स वस्तु का उत्पादन ही अधिक उपयोगी होता है। अब अगर 'अ', 'ब' व 'स' वस्तुओं की उत्पादन की स्थितियों को आधार मान कर इसे बाजारी केन्द्र क के चारों ओर घुमाया जायेगा तो संकेन्द्रीय वृतों की रचना होगी जो केन्द्र क के चारों ओर 'अ' 'ब' 'स' वस्तुओं के उत्पादन क्षेत्रों को बतायगी जो कि वस्तुओं के तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित है। इसे वॉन थूइनेन ने अपने सिद्धान्त में स्पष्ट किया है। जिस पर यह आधारित है।

वॉन थूइनेन का सिद्धान्त[23]:—

जॉह्न हेनरीच वान थूइनेन (Johann Heinrich Von Thunen) ने 1826 में अपनी पुस्तक "एकाकी प्रदेश" (Isolated State) में अपने विचारों को स्पष्ट किया है। जिसमें उसने बताया कि केवल दूरी के चर से ही न केवल कृषि का स्वरूप प्रभावित होता है बल्कि सम्पूर्ण स्थानिक अर्थ-व्यवस्था भी प्रभावित होती है।

वान थूइनेन उत्तरी जर्मनी में रोस्टोव नगर के निकट टेलोव के कृषि फार्म का मालिक था। एक कृषि फार्म का मालिक होने के कारण वह कृषि उत्पादन की स्थानिक भिन्नताओं से सम्बन्धित था। उसने पाया कि वास्तविक दशाओं में कृषि उत्पादन की भिन्नता के कई कारण हैं, उदाहरण के लिये—भूमि का ढाल, भूमि की उर्वरा शक्ति, वर्षा, जल प्रवाह आदि में भिन्नता पाई जाती है। इसलिये कृषि उत्पादन में भी भिन्नता मिलती है। लेकिन अगर इस प्रकार के सभी प्रभावक तत्वों को हटा दिया जाय, तब भी क्या कृषि उत्पादन में भिन्नता पाई जायगी ? अर्थात् क्या तब भी ऐसा कोई आधार भूत कारण इसमें निहित है, जो इस प्रकार की भूमि उपयोग की भिन्नता को स्पष्ट करता है।

वास्तव में थूइनेन का कृषि का स्थानीयकरण सिद्धान्त दो क्षेत्रों के तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त है। यदि दो क्षेत्रों में दो फसलों का उत्पादन संभव हो तथा प्रत्येक क्षेत्र में किसी एक फसल का उत्पादन दूसरे की अपेक्षा अधिक संभव हो तो प्रत्येक क्षेत्र को उस फसल के उत्पादन में विशिष्टीकरण करना चाहिये।

	अ क्षेत्र	ब क्षेत्र
गेहूं	30 क्विन्टल	25 क्विटल अ में मक्का (अधिक लाभकारी)
मक्का	50 क्विन्टल	30 क्विन्टल ब में गेहूं (सापेक्षिक कम हानि)

थूइनेन के अनुसार एक प्रयोग शाला का निर्माण निम्नांकित सात दशाओं के आधार पर किया जाय, तब कृषि उत्पादन (भूमि उपयोग) एक विशेष क्रम में स्थित होता है।

थूइनेन की मान्यताएें—

(1) एक ऐसा एकाकी प्रदेश (Isolated State) हो जिसमें केवल एक नगर हो और उसकी पृष्ट भूमि में एक विस्तृत कृषि प्रदेश हो;

(2) यह नगर आस पास के कृषि प्रदेश की अतिरिक्त पैदावार का एक मात्र बाजार हो तथा यह नगर अन्य किसी प्रदेश से माल आयात न करता हो।

(3) यह एकाकी प्रदेश अपने अतिरिक्त पदार्थों के उत्पादन को इस नगर में ही बेचता हों, अन्य बाजारों में माल न जाता हो।

(4) यह एकाकी प्रदेश एक समान जलवायु, धरातल, मिट्टी की उर्वरता वाला हो तथा फसलों के उत्पादन के योग्य हो।

(5) इस क्षेत्र में इस नगर के अतिरिक्त शेष ग्रामीण आबादी हो तथा किसान अधिकतम लाभ प्राप्त करने के इच्छुक हों तथा नगर में मांग के अनुसार फसलों में फेर बदल करने में सक्षम हो।

(6) परिवहन का साधन इस प्रदेश में एक ही प्रकार का हो यथा घोड़ा गाड़ी, या बैल गाड़ी।

(7) परिवहन व्यय (लागत) दूरी व भार के अनुपात में बढ़ता हो।

इस प्रकार की परिस्थितियों में कृषि के लिये किस प्रकार का भूमि उपयोग का विकास होगा? यह उस वस्तु के बाजारी मूल्य, उत्पादन खर्च व परिवहन लागत पर निर्भर करेगा। इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

सूत्र-लाभ=प्राप्त बाजारी मूल्य—(उत्पादन खर्च+परिवहन खर्च)

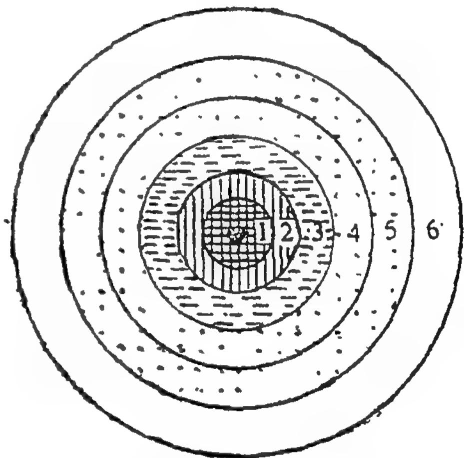
वान थूइनेन ने अपने सिद्धान्त के लिये प्रति एकड़ मूल्य, लागत और लाभ (कुछ चुने हुए पदार्थों का) बाजार से दूरी के अनुसार दिया है जो कि दूरी के हिसाब से घटते या बढ़ते हैं।

उत्पादन पर लागत व लाभ

वृत नगर से दूरी इकाई में	ईंधन				अनाज			
	1 बाजार में मूल्य	2 उत्पादन खर्च	3 परिवहन खर्च	4 लाभ	1 बाजार में मूल्य	2 उत्पादन खर्च	3 परिवहन खर्च	4 लाभ
$\frac{1}{2}$	200	140	10	50	80	50	3	27
1	200	140	20	40	80	50	6	24
$1\frac{1}{2}$	200	140	30	30	80	50	9	21
2	200	140	40	20	80	50	12	18
$2\frac{1}{2}$	200	140	50	10	80	50	15	15
3	200	140	60	0	80	50	18	12
$3\frac{1}{2}$	200	140	70	0	80	50	21	9
4	200	140	80	0	80	50	24	6
$4\frac{1}{2}$	200	140	90	0	80	50	27	3
5	200	140	100	0	80	50	30	0

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि लकड़ी का उत्पादन बाजार से तीन इकाई दूर तक व अनाज का उत्पादन 5 इकाई दूर तक ही हो सकता है। इससे आगे दोनों वस्तुओं पर परिवहन खर्च इतना अधिक बढ़ जाता है कि लाभ समाप्त हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि नगर के पास उत्पादन में अधिक चुनाव की गुंजाइश है, जबकि नगर से दूरी बढ़ने पर चुनाव की गुंजाइश भी घटती जाती है। यह सब परिवहन व्यय व फसलों के सापेक्षिक लाभ पर निर्भर करता है। उक्त तालिकानुसार ईंधन उत्पादन में 1 इकाई में लाभ 40 है, जबकि 3 इकाई में शून्य हो जाता है, क्योंकि बिक्री मूल्य व उत्पादन लागत बराबर है परन्तु यहां पर परिवहन लागत बढ़ जाती है अतः लाभ नहीं होता है। अतः बाजार से अधिक निकट उत्पादन में अधिक लाभ होता है इसे आर्थिक लगान या लाभ (Economic Rent) कहते हैं। अतः आर्थिक लाभ पर ही भूमि उपयोग निर्धारित होता है। इस दृष्टि से 6 संकेन्द्रीय वृतों या मण्डलों की कल्पना थूइनेन ने की है।

(1) पहला मण्डल—नगर के पास की भूमि का उपयोग शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं के उत्पादन में होता है जैसे—दूध व शाक-सब्जियां उगाने में। दूध व शाक-सब्जी की मांग जितनी अधिक होती है, उतना ही इस मण्डल का अर्द्ध व्यास बढ़ जाता है



चित्र संख्या 4.11

(2) दूसरा मण्डल—इसमें जलाने की लकड़ी (वृक्ष) उगाई जायेगी (उस समय लकड़ी ही मुख्य ईंधन था) इसकी सीमा भी नगर की मांग पर निर्भर करती है यह तालिका से भी स्पष्ट हो जाता है कि लकड़ी का उत्पादन उपयुक्त है या अनाज का।

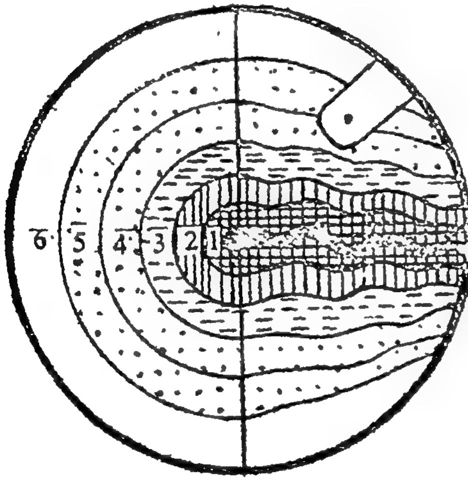
(3) तीसरा मण्डल—इसमें अनाज का उत्पादन होगा। इसमें गहन कृषि की जायगी और भूमि परती नहीं छोड़ी जायेगी। यद्यपि इसमें ईंधन भी उगायी जा सकती है लेकिन अनाज के उत्पादन से अधिक लाभ होने लगता है, अतः अनाज ही उगाया जायेगा।

(4) चौथा मण्डल—इसमें अनाज की खेती ही की जायेगी लकड़ी की खेती बिल्कुल नहीं होगी।

(5) पांचवां मण्डल—इसमें अनाज की खेती होगी लेकिन परती भूमि का विस्तार बढ़ जायगा।

(6) छठा मण्डल—इसमें पशुपालन होगा। यहां पर पनीर या मक्खन का उत्पादन होगा जो कि शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएं नहीं है। साथ ही पशुओं को बेचने के लिये बाजार ले जाया जा सकता है अतः परिवहन खर्च नहीं होगा या कम होगा।

थूइनेन ने इस बात को स्वीकार किया कि अगर यातायात का साधन बदल कर जल यातायात हो जाये तो सकेन्द्रीय वृत नदी या नहर के सहारे किस प्रकार समानान्तर पेटियों में बदल जायेगे यह साथ के चित्र संख्या 4.12 में स्पष्ट किया है। इसी प्रकार अगर कोई छोटा नगर होगा तो उसके समीपवर्ती क्षेत्र उस नगर से प्रभावित होंगे और तब बडे नगर के विरुद्ध दिशा में छोटे संकेन्द्रीय मण्डलों का विकास उस नगर के आस पास हो जायगा जैसा कि चित्र संख्या 4.12 में दर्शाया गया है।



चित्र संख्या 4.12

आलोचना—

(1) ऐसा एकाकी प्रदेश (Isolated State) वास्तविक दशाओं में मिलना संभव नहीं है।

(2) परिवहन के साधन भी भिन्न भिन्न व कई प्रकार की सघनता से युक्त मिलते हैं।

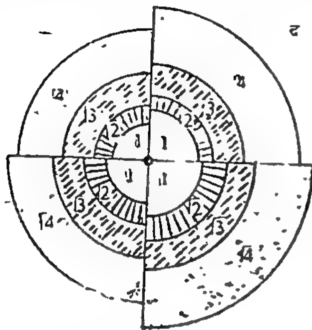
(3) किसी प्रदेश में सर्वत्र धरातल, जलवायु, मिट्टी आदि में समानता नहीं पाई जाती है।

(4) अब लकड़ी ही ईंधन का प्रमुख साधन नहीं रहा है।

(5) शीतकरण विधि के विकसित होने से वस्तुओं को अब अधिक समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

(6) परिवहन व्यय की दर भार व दूरी के अनुपात से नहीं बढ़ती है बल्कि अधिक दूरी के अनुपात में परिवहन लागत में वृद्धि में कमी आती है।

(7) नगरों के चारों ओर समतल मैदान ही नहीं होते हैं बल्कि नदियां पहाड़ी या पठारी भाग व बंजर भूमि भी होती है अतः उस दिशा में, जहां नदियां, पहाड़ी भाग आदि होते हैं, संकेन्द्रीय मण्डल नहीं बन सकते हैं। मिट्टी की उत्पादन क्षमता में अन्तर होने के कारण सम्बन्धित मण्डलों का फैलाव कम या ज्यादा हो सकता है जैसा कि चित्र संख्या 4.13 में दर्शाया गया है।



चित्र संख्या 4.13

(8) लॉश[24] (1954) के अनुसार उपर्युक्त मान्यताओं के होते हुए भी वलयों का बनना आवश्यक नहीं है। उसने बताया कि दो फसलों की दशा में भी 17 संभावित संयोजन (Combination) संभव है, जिसमें एक या दूसरी महत्वपूर्ण होगी या दोनों साथ 2 उगाई जा सकती हैं। इनमें से 10 में वलय बनते हैं।

(9) डॉ. शफी[25] (1977) ने अलीगढ़ जिले की कोयल तहसील के गांवों के भूमि उपयोग के प्रतिरूपों का विभिन्न चरों (Variables) के आधार पर अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला कि कृषि प्रधान देश में जहां कृषि ही मानव का मुख्य व्यवसाय है वहां बसाव से दूरी का प्रभाव भूमि उपयोग पर न होकर, उपलब्ध सिचाई की सुविधाओं से दूरी, भूमि उपयोग को प्रभावित करती है।

अतः वॉन थूइनेन के द्वारा प्रतिपादित क्रमबद्धता कृषि के वास्तविक क्षेत्र में नहीं मिलती है। लेकिन होर्वथ[26] (1969) ने बताया कि अर्द्ध विकसित देशों में इस प्रकार का वलय का स्वरूप देखने को मिलता है। उसने पाया कि यद्यपि आस पास के प्रदेश में कई असमानताऐं हैं फिर भी आदिस अबाबा के चारों ओर 246 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में यूक्लिपट्स के वन हैं। इन वनों से शहर के लिये ईंधन व इमारती लकड़ी प्राप्त होती है। इससे भी महत्वपूर्ण, इस वन का आकार है जो वॉन थूइनेन के द्वारा प्रस्तावित एकाकी प्रदेश में नहर के आने से उत्पन्न भूमि उपयोग के प्रारूप से मिलता है। इसी प्रकार इथोपिया के छोटे 2

होर्वथ द्वारा आदिस अबाबा के चारों ओर भूमि उपयोग का चित्र विभिन्न पुस्तकों में देखा जा सकता है जो इस इस प्रकार है—

1. Location in space : A Theoretical Approach to Economic Geog. pp. 51.

नगरों के चारों ओर भी वनीय क्षेत्र मिलते हैं। शहर के पास में शाक-सब्जी का क्षेत्र है जो अलग न होकर यूक्लिप्ट्स वनीय क्षेत्र में मिला हुआ है। इससे आगे उसने मिश्रित कृषि का क्षेत्र पाया। इसकी गहनता धीरे 2 कम होती जाती है।

चिशोल्म[27] (1962) ने भी कई उदाहरणों के आधार पर प्राकृतिक उर्वरता का विचार किये बिना ही दूरी के प्रभाव को फसलोत्पादन की गहनता पर नियंत्रण करने वाला कारक बताया। अहमद[28] (1952) ने भी इसी विचार का अनुमोदन करते हुए बताया कि अधिक उपजाऊ, सघन खाद युक्त तथा सिंचित भू-भाग गांव के आस पास होता है। इससे आगे का दूसरा वलय मुख्य खाद्यान्न फसलों में उपयोग होता है तथा यह कुंओं और नहरो से सिंचित होता है। सबसे बाहरी वलय, जो उपजाऊ पन में कमजोर है, शुष्क कृषि, सामान्यत: मोटे अनाज और चारे की फसलों के उत्पादन में काम आता है। ऐसा ही भूमि उपयोग हम कुंए के पास में देखते हैं जहां कुंए के अधिक निकट ऐसी फसलें अधिक उगाई जाती हैं जिन्हें पानी की अधिक आवश्यकता होती है जैसे सब्जियां, बरसीम आदि। इसके बाद में खाद्यान्न और अधिक दूरी पर घास या चरागाह का क्षेत्र होता है।

कई विद्वानों ने अपने विस्तृत अध्ययन के आधार पर वॉन थूइनेन के विचारों को उपयुक्त तथा अनुपयुक्त ठहराने की कोशिश की है। यद्यपि आधुनिक युग में वास्तविक दशाओं में वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के कारण साम्यता नहीं दिखाई देती है, फिर भी इस सिद्धान्त में निहित आर्थिक लगान का विचार बहुत महत्वपूर्ण है जो आज भी लागू होता है मंडल[29] के अनुसार इस प्रकार का भूमि उपयोग गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पटना बक्सर, वाराणसी व इलाहाबाद के आस पास स्पष्ट देखा जा सकता है। यद्यपि उसका मूल रूप संशोधित दशा को प्राप्त हो गया है। क्योंकि आधुनिक युग में भाप के इंजिन के कारण नदी प्रवाह के विरुद्ध यातायात भी, नदी प्रवाह के अनुकूल यातायात के समान तेज हो गया है। आजकल द्रुतगति के यातायात के साधनों व शीत करण विधि के कारण अब भूमि उपयोग थूइनेन के संकेन्द्रीय वलयों के अनुरूप नहीं रह गया है।

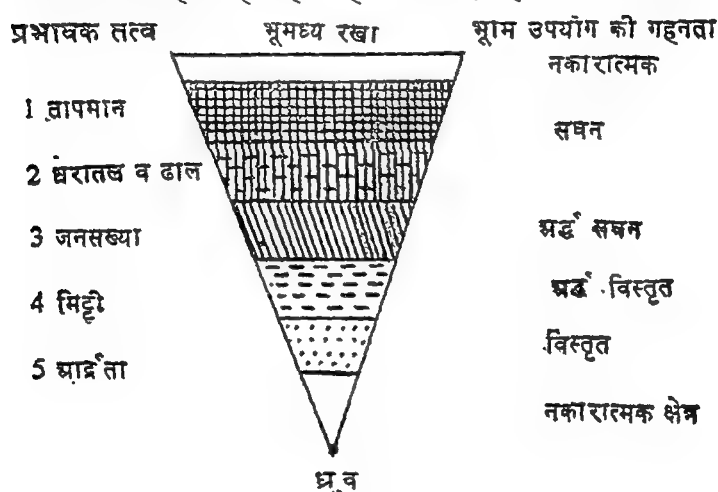
मंडल[30] (1980) की ग्रामीण भूमि उपयोग से सम्बंधित ध्रुवीय-प्रतिध्रुवीय विचार धाराऐं:—

मंडल द्वारा प्रतिपादित ध्रुवीय (Polar) विचार धारा के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में भूमि का उपयोग (चित्र संख्या 4.14) वहां की (1) जलवायु (2) भू आकार व ढ़ाल (3) मिट्टी की दशाऐं (4) तथा जनसंख्या के घनत्व से प्रभावित होता है। मंडल के अनुसार ध्रुवीय क्षेत्र अत्याधिक ठंड के कारण

नकारात्मक क्षेत्र है इस क्षेत्र में मिट्टी आर्द्रता के कारण बर्फीली व अनुपयोगी होती है अतः कृषि उत्पादन नहीं हो सकता है। यह पहला क्षेत्र है।

दूसरा क्षेत्र—भी कम उपयोगी है। यहां यद्यपि ध्रुवीय क्षेत्र की अपेक्षा दशाएं अच्छी हैं लेकिन यहां मानव कम निवास करते हैं अतः घुमक्कड़ जीवन-यापन करते हैं। तथा पशुओं व मछलियों पर निर्भर करते हैं।

तीसरा क्षेत्र—मध्यम भूमि उपयोग का है यहां ठंड कम होती है यहां कृषि करने के लिये व मानव बसाव के लिये अधिक उपयोगी दशाएं हैं अतः यहां के लोग पर्यावरण की प्रतिकूल दशाओं से बराबर संघर्ष करते रहते हैं अतः यहां के लोग अधिक मेहनती होते हैं। यहां के लोग एक ही फसल उगाते हैं।



चित्र सं० 4.14

चौथा क्षेत्र—अधिक भूमि उपयोग का है यहां समय पर वर्षा होने से व मिट्टी की उपयुक्त दशाओं के कारण, तथा उपयुक्त तापमान से, दोहरी फसलें उगाई जाती हैं। इस शीतोष्ण भाग के निवासियों ने मानव सभ्यता के विकास के लिये बहुत आश्चर्यजनक कार्य किये हैं।

पांचवां क्षेत्र—अधिक भूमि उपयोग का क्षेत्र है जहां कई प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं। यहां उपजाऊ मिट्टी, अच्छी वर्षा, 20^0C से 38^0C तापमान व मानव जीवन के लिये अधिक उपयुक्त दशाएं उपलब्ध हैं यहां तीन फसलें ली जा सकती हैं।

अन्तिम क्षेत्र अधिवासों से युक्त है जो कि भूमि उपयोग को नियंत्रित करता है जो भूमध्य रेखीय नकारात्मक क्षेत्र से ध्रुवीय प्रदेशों तक उनकी पहुंच के अनुसार तथा मानव जीवन एवं फसलों की सुरक्षा के अनुसार नियंत्रित होता है। इस प्रकार यह विचार ध्रुवीय-भूमि उपयोग का विचार कहलाता है।

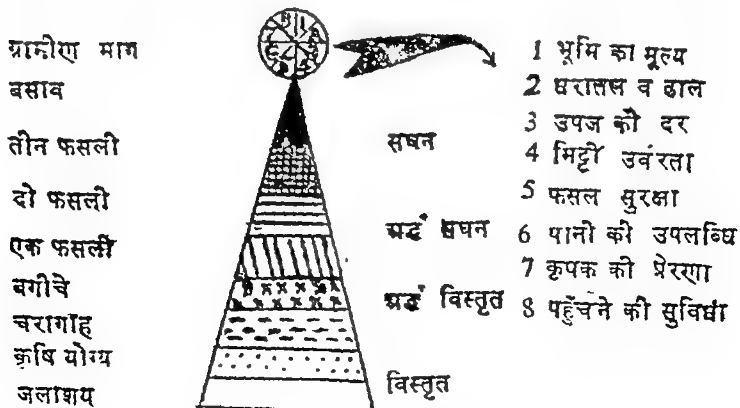
इस विचार की मुख्य कमी भौतिक बाधाएं हैं क्योंकि इस प्रकार की धरातलीय दशाएं भूमि उपयोग के प्रतिरूप को भंग कर सकती है।

प्रति ध्रुवीय विचार धारा—

इस विचार धारा के अनुसार एक ग्राम को ध्रुव मानना ठीक नहीं है क्योंकि ग्राम और उसके आस पास की दशाएं ध्रुवीय न होकर प्रति ध्रुवीय हैं। इनको आठ तत्व प्रभावित करते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(1) भूमि का मूल्य (2) फसल की सुरक्षा (3) पहुंचने की सुविधा
(4) भूमि का ढ़ाल (5) पानी की उपलब्धि (6) भूमि की उर्वरता
(7) उपज की दर (8) कृषक की प्रेरणा।

इस विचार के अनुसार इन विभिन्न तत्वों की गहनता ग्राम के पास अधिकतम होती है तथा जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है यह बाहर की ओर अधिक, मध्यम, कम व नकारात्मक होती जाती है। अर्थात् सामान्य रूप में भूमि उपयोग की गहनता ग्रामीण केन्द्र से बाहर की ओर कम होती जाती है जो संकेन्द्रीय वलय के रूप में है। यह विचार वॉन थूडनेन के विचार से थोड़ी समानता रखता है। विस्तृत कृषि तथा विस्तृत कृषि योग्य भूमि का बाहरी सीमा की ओर होना पृथ्वी के छोटे ध्रुवीय क्षेत्रीय विस्तार के ठीक विपरीत है इसलिये इसे प्रति ध्रुवीय विचार कहते हैं। इस विचार की प्रामाणिकता के लिये मंडल ने बिहार राज्य के सारन जिले के भालुआ ग्राम का अध्ययन किया और पाया कि इस ग्राम में बसाव क्षेत्र व तीन फसली क्षेत्र को उच्च भूमि उपयोग, दो फसली व एक फसली क्षेत्र को मध्यम भूमि उपयोग, बगीचे व पानी का क्षेत्र कम भूमि



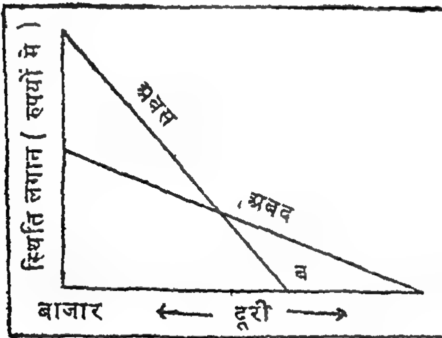
भूमध्य रेखा (प्रति ध्रुव)

चित्र संख्या 4.15

उपयोग के क्षेत्र व अन्य बहुत कम उपयोगी क्षेत्र के रूप में पाया जो कि ग्राम के केन्द्र से बाहरी सीमा तक फैले थे। देखिये चित्र सख्या 4 15 यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक कृषि के ढंग के कारण सीमावर्ती क्षेत्रों में यह विचार अपनी उपयोगिता खो रहा है लेकिन यह इस बात को सिद्ध करता है कि पहले इस प्रकार का प्रति ध्रुवीय भूमि उपयोग होता था तथा भारत के कई ग्रामों में यह अब भी हो रहा है।

वॉन थूइनेन के सिद्धान्त के सन्दर्भ में भी यह कहा जाता है कि वह पुराना हो गया है और आज के सन्दर्भ में लागू नहीं किया जा सकता लेकिन वास्तव में आज के सन्दर्भ में कृषकों के फसलें उगाने के निर्णयों को जो लागत तत्व प्रभावित करते थे, उनमें परिवर्तन हो गया है। आज नगरों की समीपता उतनी महत्वपूर्ण नहीं रह गई है। इससे अधिक महत्वपूर्ण, बाजार तक जल्दी पहुंचने की हो गई है अतः बाजार तक की पहुंच को नकारा नहीं जा सकता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भूमि की भौतिक स्थिति निश्चित होती है, समय के अनुसार इसकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति बदलती रहती है, इससे हमें वह बदले हुये रूप में दृष्टिगोचर होती है।

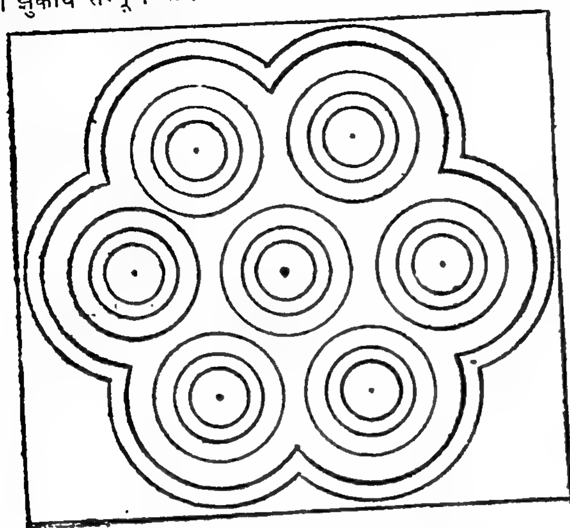
इसी प्रकार फसलों के संयुक्तीकरण को लिया जा सकता है चित्र 4.16 के अनुसार अ ब स एक लगान रेखा एवं अ ब द से दूसरी लगान रेखा बनती है अ और ब दो ऐसी फसलें हैं जो सम्पूर्ण क्षेत्र में उगाई जाने वाली फसलें हैं लेकिन बाजार से प तक स के साथ एवं प से बाहर द के साथ उगाना उपयुक्त या लाभप्रद रहता है इस प्रकार संयुक्त फसलों के अनुसार भी वृत भी बढ़ते जायेंगे। जो मांग पर निर्भर करते हैं यह तो एक ही नगर के साथ का स्वरूप है लेकिन अगर



चित्र संख्या 4.16

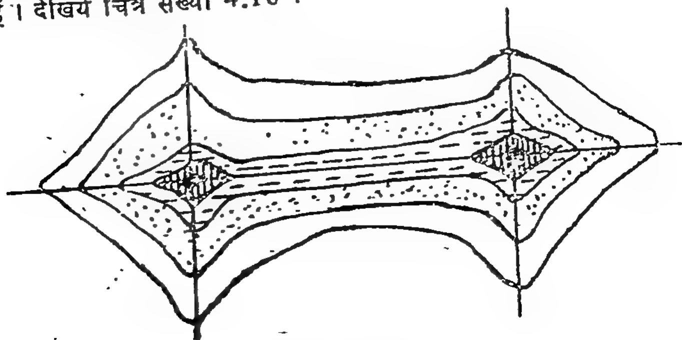
इसी प्रकार दो केन्द्र हो तो संकेन्द्रीय वृतों का निर्माण होगा और तब बाहरी कटिबन्ध अण्डाकार हो जायगा कटी हुई रेखा दोनों पृष्ट प्रदेशों (पूर्ति क्षेत्रों) के मध्य की सीमा रेखा बन जायगी। दो से अधिक बाजारी केन्द्रों के होने पर अधिक जटिल चित्र वन जायगा। चित्र 4.1.7 को देखने से स्पष्ट होता है कि आन्तरिक वृतों का झुकाव अलग 2 शहर की ओर होगा जबकि बाहर के वृतों

का झुकाव सम्पूर्ण क्षेत्र के केन्द्रों की ओर होता है। यह बहुत सरलीकृत स्वरूप है अगर इसमें और कई बाजारी केन्द्रों को रखा जाय तो यह अधिक जटिल हो जायगा लेकिन मूल व्यवस्था में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आयगा इस प्रकार उक्त दोनों स्थितियां एक दूसरे से काफी भिन्न है लेकिन दोनों एक दूसरे की पूरक है जो



चित्र संख्या 4.17

मिलकर (केन्द्रीय स्थान व्यवस्था एवं कृषि भूमि की संकेन्द्रीय व्यवस्था) एक आर्थिक भू-दृश्य को पूर्णता प्रदान करती है एक का उत्पादन दूसरे का लागत तत्व (Input) व दूसरे का उत्पादन (Output) पहले का लागत तत्व (Input) बनता है। इस प्रकार कृषि क्षेत्र व नगरों के मध्य चक्रीय व्यवस्था स्थापित हो जाती है। वॉन थूइनेन ने यह अनुभव किया कि परिवहन रेखाओं के स्थापित हो जाने पर दूरी का प्रभाव कम होने लगता है क्योंकि सड़कों के सहारे माल व मनुष्यों की गतिशीलता या संचलन सरल हो जाता है तब बाजार का क्षेत्र इन यातायात रेखाओं के सहारे लम्बा हो जाता हैं और उनका षट्कोणीय आकार बदलने लगता है। इसी प्रकार संकेन्द्रीय वलय का प्रारूप भी बदलने लगता है तब ये संकेन्द्रिय वृत या वलय सड़कों के सहारे लगभग समानान्तर हो जाते हैं। देखिये चित्र संख्या 4.18।



चित्र संख्या 4 18

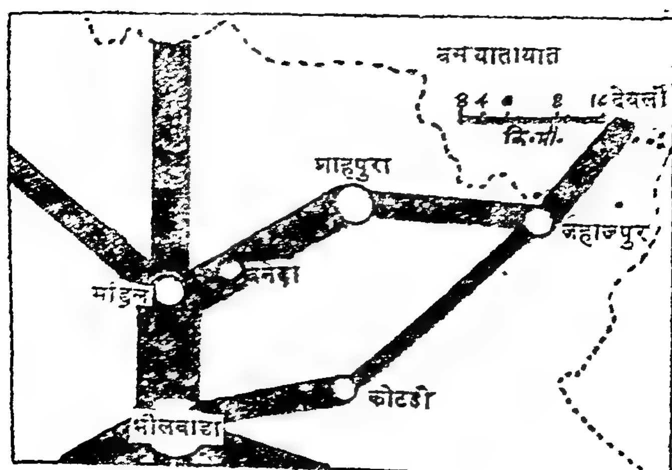
संचलन (गतिशीलता)

[Movement]

सभी प्रकार की आर्थिक गतिविधियों में संचलन या गतिशीलता एक महत्वपूर्ण क्रिया है। संचलन के बिना कोई आर्थिक गतिविधि न तो जन्म ले सकती है और न ही विकसित हो सकती है। अतः अर्थ व्यवस्था का मुख्य आधार संचलन या गतिशीलता है। किसी भी क्षेत्र में गतिशीलता मांग और पूर्ति से सम्बन्धित होती है यह मानव के स्थानान्तरण, माल या सेवाओं का आदान-प्रदान, सूचनाओं का प्रवाह आदि के रूप में होती है। संचलन को बहुधा स्थानों को जोड़ने वाली रेखाओं के रूप में प्रदर्शित किया जाता है जो संचलन के स्थानिक प्रतिरूपों को स्पष्ट करती है। सामान्यतः आर्थिक संचलन अर्थ व्यवस्था की स्थानिक बनावट का कारण एवं प्रभाव दोनों ही हैं। उदाहरण के लिये एक व्यापारी अपने स्टोर के लिये स्थिति (Location) का चयन ग्राहकों की पहुंच के अनुसार करता है। इस प्रकार ग्राहकों की पहुंच या संचलन, अर्थ व्यवस्था की स्थिति का कारण बनता है। साथ ही स्टोर स्वयं ही संचलन के सम्मिलित प्रारूप को प्रभावित करता है कि वहां ग्राहकों का संचलन अधिक होगा या कम। इस प्रकार वह संचलन को प्रभावित भी करता है। विभिन्न प्रकार के संचलन के स्थितिगत प्रारूपों में भौगोलिक क्रम पाया जाता है। इस दृष्टि से संचलन के निम्न प्रकार हैं।

(1) दूरी नति संचलन (Distance biased movements.)

इस प्रकार के संचलन में कम दूर स्थित स्थानों के मध्य गतिशीलता अधिक

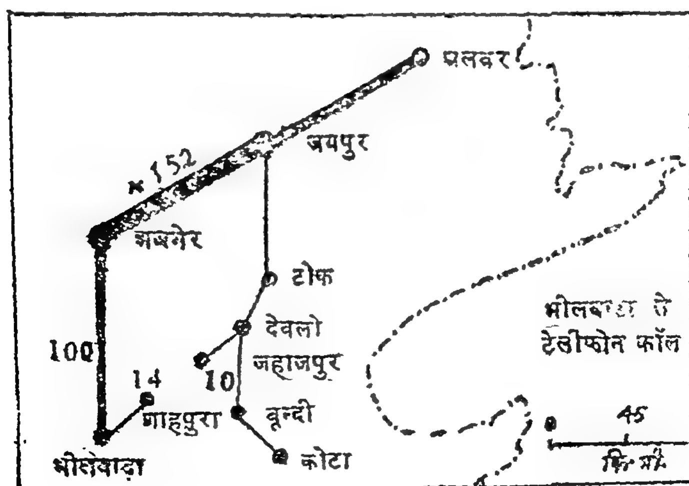


चित्र संख्या 4 19

होती है और जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है संचलन की गहनता भी कम होती जाती है जैसे दो नगर पास 2 स्थित हैं, तो उनके मध्य विभिन्न प्रकार का संचलन यथा–सूचनाओं का आदान प्रदान, वस्तुओं का आदान प्रदान, टेलीफोन या पत्रों का आदान प्रदान, अधिक होता है और अगर उनके मध्य की दूरी अधिक है तो यह प्रवाह या संचलन कम हो जाता है। चित्र संख्या 4.19 में भीलवाड़ा और मांडल तथा भीलवाड़ा एवं शाहपुरा के मध्य बसों के संचलन को स्पष्ट किया गया है भीलवाड़ा व मांडल के मध्य मोटी रेखा अधिक संचलन को दर्शाती है जबकि भीलवाड़ा व शाहपुरा के मध्य की अपेक्षाकृत पतली रेखा दूरी नति संचलन के दूसरे पक्ष को स्पष्ट करती है।

(2) दिशा नति संचलन (Direction biased movements).

इस प्रकार के संचलन मे संचलन की गहनता दिशा विशेष से सम्बंधित होती है। सामान्य रूप में सभी दिशाओं में संचलन होता है लेकिन कुछ दिशाओं में अधिक होता है, जब कि कुछ दिशाओं मे अपेक्षाकृत कम होता है जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका में पूर्वी भागों की ओर खाद्यानों एवं कच्चे माल का प्रवाह तथा पश्चिमी भागों की ओर बने हुए माल का प्रवाह अधिक होता है। भीलवाड़ा-अजमेर-जयपुर तथा भीलवाड़ा-शाहपुरा या भीलवाड़ा-बून्दी का उदाहरण लिया जा सकता है। भीलवाड़ा-अजमेर-जयपुर परिवहन सुविधाओं से या टेलीफोन



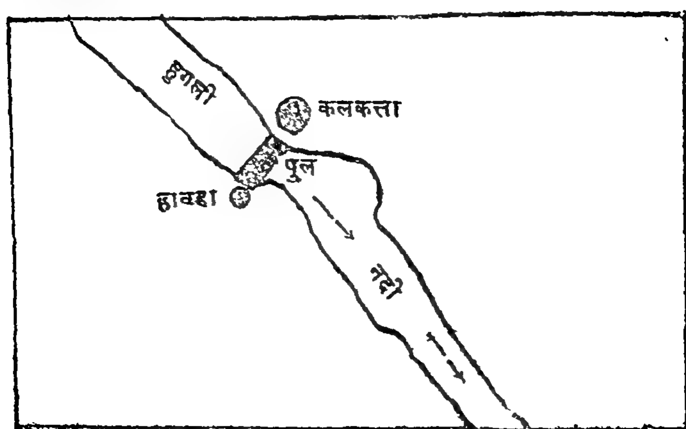
चित्र संख्या 4.20

सेवा से जुड़े हैं और इन केन्द्रों पर आस पास के किसी भी नगर की अपेक्षा संचलन अधिक होता है भीलवाड़ा-शाहपुरा या भीलवाड़ा बूंदी के बीच यद्यपि संचलन होता है लेकिन यह उतना गहन नहीं है जितना भीलवाड़ा-अजमेर-

जयपुर के मध्य। चित्र संख्या 4.20 के द्वारा दर्शाया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि संभावित संचलन में से कुछ ही दिशाओं में संचलन अधिक होता है।

(3) मार्ग नति संचलन [Channel biased movements]

सभी स्थानों में आपस में संचलन नहीं होता है। उदाहरण के लिये दो स्थान बहुत पास 2 स्थित हैं लेकिन दोनों के मध्य में सम्पर्क का माध्यम नहीं है तो दोनों के मध्य संचलन नहीं होगा। सम्पर्क का माध्यम सड़क, रेलमार्ग, टेलीफोन लाइन आदि हो सकता है लेकिन अगर पास 2 स्थित केन्द्रों के मध्य इनमें से कोई उपलब्ध माध्यम नहीं है तो संचलन नहीं होगा यहां यह भी स्मरणीय है कि सम्पर्क माध्यम की क्षमता भी संचलन को प्रभावित करती है। उदाहरण



चित्र संख्या 4.21

के लिये हुगली नदी पर हावड़ा पुल वना है अगर यह पुल नहीं हो तो हावड़ा व कलकत्ता के मध्य संचलन की गहनता कम हो जायगी। साथ ही पुल अगर साधारण बना है तब भी संचलन कम होगा अगर अधिक चौड़ा, मजबूत है तो संचलन अपेक्षाकृत अधिक होगा। देखिये चित्र संख्या 4.21।

गतिशीलता या संचलन के प्रारुपों का आधार—

संचालन का प्रारूप निम्नांकित बातों पर निर्भर करता है।

(i) **संचलन के लिये उपलब्ध अवसर** —यह मुख्यतः मांग और पूर्ति तथा अतिरिक्त पूर्ति पर निर्भर करते हैं अगर कहीं मांग हो लेकिन पूर्ति के साधन न हों तो संचलन नहीं होगा। इसे दूसरे शब्दों में किसी एक स्थान विशेष की दूसरे स्थान विशेष के सन्दर्भ में उपयोगिता या निर्भरता कह सकते हैं। अगर पूर्ति की दशाएें उपलब्ध हैं और मांग नहीं है तब भी संचलन नहीं होगा।

(ii) **संचलन की लागत** संचलन का प्रारूप उस पर होने वाले खर्च से
भी प्रभावित होता है। यह खर्च मुद्रा, समय या प्रयास आदि के रूप में
हो सकता है। अगर दो स्थानों के मध्य संचलन लागत कम है, गति-
शीलता अधिक होगी, अगर लागत अधिक है तो गतिशीलता कम हो
जाती है।

(iii) **आकर्षक अवसरों की उपलब्धि**—अलग 2 स्थानों पर उपलब्ध
अवसरों की आकर्षकता भिन्न 2 होती है। अतः संचलन उन्हीं स्थानों
की ओर अधिक होता है जहां अवसरों की उपलब्धि अधिक आकर्षक हो।
उदाहरण के लिये एक मजदूर के लिए गतिशीलता के अवसरों की
आकर्षकता विस्तृत होती है अतः उसका संचलन अधिक व्यापक हो सकता
है जबकि एक संगीतज्ञ के लिये आकर्षक अवसरों की उपलब्धि अपेक्षाकृत
सीमित होती है। अतः दोनों प्रकार की गतिशीलता अवसरों की उप-
लब्धि से प्रभावित होती है।

इस प्रकार संचलन के द्वारा उद्गम और पहुंच के स्थान के मध्य का
सम्बन्ध स्पष्ट होता है। साथ ही उद्गम और पहुंच के स्थानों की स्थिति का
सापेक्षिक सम्बन्ध भी इसके द्वारा स्पष्ट होता है।

आर्थिक भू-दृश्य में संचलन एवं पारस्परिक क्रिया

[Movement and interaction in economic landscape]

संचलन एवं पारस्परिक क्रिया एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों एक
दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बंधित हैं। अतः इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है।
सचलन कारण (Cause) है जब कि पारस्परिक क्रिया उसका प्रभाव (Effect)
है। आर्थिक भू-दृश्य को स्वरूप देने का मुख्य आधार विभिन्न प्रकार के माल
व सेवाओं की मांग तथा मांग की पूर्ति से सम्बंधित है जिसे संचलन के रूप में
व्यक्त किया जाता है। संचलन से सम्बंधित अधिकांश मॉडल भौतिक शास्त्र
के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त पर आधारित है।

सर आइजक न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का नियम उनके द्वारा 1687 में
प्रतिपादित किया गया। इस नियम के अनुसार दो वस्तुएँ एक दूसरे को अपनी
मात्रा के सीधे अनुपात में व उनके मध्य की दूरी के वर्ग के विपरीत अनुपात में
आकर्षण रखती हैं। न्यूटन के इस मॉडल का सामाजिक विज्ञानों में सर्व प्रथम
उपयोग इ. जी. रेवेन्स्टेन[31] ने 1885 में किया जो इंगलैंड और वेल्स में
जनसंख्या के स्थानान्तरण के अध्ययन से सम्बन्धित था। उसने पाया कि कार्य-
कर्ताओं का स्थानान्तरण बड़े नगरों की ओर अधिक होता है और जैसे 2 दूरी
बढ़ती जाती है स्थानान्तरण की मात्रा घटती जाती है। जे. क्यू. स्टवर्ट[32] ने

गुरुत्वाकर्षण मॉडल के रूप में इसे 1947 में पुनः संशोधित किया। यह गुरुत्व मॉडल बताता है कि "दो स्थानों के मध्य पारस्परिक क्रिया उनके आकार के सीधे अनुपात में व उनके मध्य की दूरी के विपरीत अनुपात में होती है।" होडर एवं ली।*

आर्थिक भूगोल में विभिन्न अर्थ तंत्रों के आकार के अनुसार एवं साथ ही साथ विकास के स्तर के अनुसार पारस्परिक क्रिया कम या ज्यादा होती है लेकिन साथ ही अगर दोनों के मध्य दूरी बढ़ती जाती है तो यह आपसी क्रिया दूरी के अनुपात में कम होती जायगी। इसे इस सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

$$\text{पारस्परिक क्रिया (Ia.)} = \frac{\text{एक नगर की जन संख्या } (P_1) \times \text{ दूसरे नगर की जनसंख्या } (P_2)}{\text{दोनों नगरों के मध्य की दूरी } (d).}$$

यहाँ दूरी से तात्पर्य भौतिक दूरी ही नहीं है, बल्कि इसे लागत, समय, मनोवैज्ञानिक रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान आदि के रूप में लिया जा सकता है। अर्थात् जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है, प्रत्यक्ष ज्ञान में कमी होती जाती है आदि। इसके साथ ही दूरी को कितना मूल्य दिया जाय यह भी एक विवादास्पद विषय है फिर भी इस मॉडल का उपयोग कई विद्वानों ने अलग 2 तरह से संशोधित करके किया है।

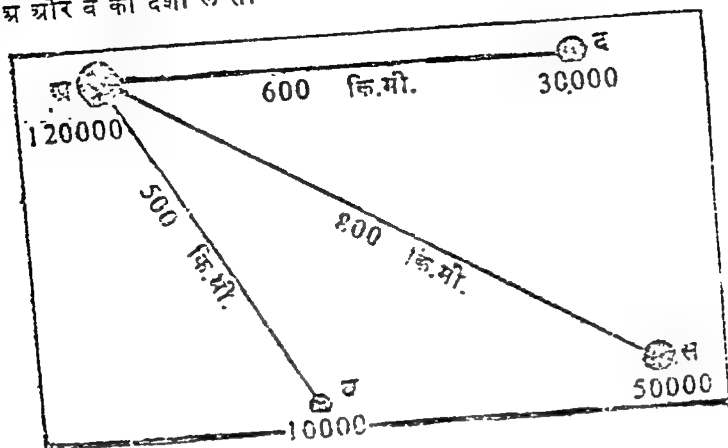
जैसा कि किसी अर्थ तंत्र के विभिन्न अंग व विभिन्न अर्थ तंत्र आर्थिक भू-दृश्यों का निर्माण करने में अलग 2 प्रकार से योगदान करते हैं लेकिन इनमें से कोई भी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं है अगर किसी एक अंग के कार्य में अन्तर आता है तो उसका प्रभाव विभिन्न अंगों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अवश्य पड़ता है। गुरुत्व मॉडल को निम्नांकित उदाहरण की सहायता से अधिक स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है—

चित्र संख्या 4.22 के अनुसार एक प्रदेश में अ, ब, स व द चार नगर है। अ की जनसंख्या 1,20,000 है ब की जनसंख्या 10,000 है। नगर स की जनसंख्या 50,000 है और द की जनसंख्या 30,000 है। यदि इनमें नगर अ और

* "The interaction between two places is directly proportional to their size or mass and inversely proportional to the distance between them."

Hodder, B. W. and Lee, R. (1974, p 124) Economic Geography, Methuen and Co. London.

ब के मध्य की दूरी 500 कि.मी. व अ स के मध्य की दूरी 800 कि मी. और अ द के मध्य की दूरी 600 कि.मी है तब इस मॉडल की सहायता के आधार पर इनमें होने वाली पारस्परिक क्रिया को ज्ञात किया जा सकता है। जैसे अ और ब की दशा लें तो—



चित्र संख्या 4.21

$$\text{अ ब की पा. क्रि} = \frac{\text{अ की जनसंख्या} \times \text{ब की जनसंख्या}}{\text{अ से ब की दूरी}}$$

$$= \frac{1,20,000 \times 10,000}{500} = 2,40,000$$

इसी प्रकार अ और स के मध्य 7,500,000 और अ द के मध्य 6,000,000 होगी। अगर सब दशाएँ समान रहें तो अ ब के मध्य अ द की तुलना में आपसी क्रिया $\frac{2}{5}$ ही होगी लेकिन इस मॉडल में आवश्यक संशोधन किया जा सकता है जैसे दूरी का वर्ग लेकर या मान बदल कर आवश्यक उपयोग किया जा सकता है डॉ. मालसे व पाठक[33] (1979) ने धूले व जलगांव के पृष्ट प्रदेश को सीमांकित करने के लिये इस मॉडल का उपयोग किया और पाया कि चालीस गांव भौगोलिक दृष्टि से धूले के निकट होते हुए भी उसका झुकाव जल गांव की ओर है जबकि जल गांव जिले के दो कस्बे, परोला व आमलनेर धूले नगर के प्रभाव क्षेत्र में है। दीक्षित[34] (1977) ने कानपुर नगर के प्रभाव क्षेत्र के सीमांकन की जांच करने के लिये गुरुत्व मॉडल के दो सूत्रों का उपयोग किया और दोनों में समानता पाई। साथ ही निष्कर्ष भी गुणात्मक विधि के समान पाये।

(1) Breaking point formula.

$$\frac{Dab}{1+\sqrt{\frac{Ma}{Mb}}}$$

Dalb = A और B नगर के मध्य दूरी

Ma = नगर A का आकार

Mb = नगर B का आकार

(2) Urban spread equation

$$Iij = \frac{Pi\,Pj}{Dij^2}$$

ij = दो नगर I व J

Pi Pj = दोनों नगरों की जनसंख्या

Dij. = दोनों शहरों के मध्य दूरी

इस प्रकार जहां हम इसका उपयोग नगरों का प्रभाव क्षेत्र निर्धारित करने में कर सकते हैं, वही कुछ भिन्नता लाकर शहरों का व्यापार क्षेत्र, अजायबघरों का प्रभाव क्षेत्र, महिलाओं द्वारा कपड़े खरीदने के स्थान आदि का प्रभाव क्षेत्र निर्धारित कर सकते हैं। लेकिन इस क्रिया में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि इच्छित नगरों के चारों ओर अन्य नगर या कस्बे भी होते हैं, वे पारस्परिक क्रिया को प्रभावित करते हैं। लेकिन उनका समीकरण में विचार नहीं किया जाता है। स्टोफर[35] (1940) नामक एक समाज शास्त्री के अनुसार हमें यह नहीं मानना चाहिये की कोई क्षेत्र पूर्ण वृत्ताकार होगा, उसके अनुसार $Mij = \{Nj/Nij\}$ K. मूल्य लिये होगा।

Mij = I और J के मध्य अनुमानित पारस्परिक क्रिया

Nj = J पर उपलब्ध अवसर

Nij = I व J के मध्यवर्ती क्षेत्र में उपलब्ध सुविधाएँ

K = constant

इस प्रकार किसी दी हुई भौगोलिक दूरी पर पारस्परिक क्रिया की मात्रा उस दूरी पर स्थित अवसरों की उपलब्धि से सीधे व मध्य में उपलब्ध अवसरों के विपरीत अनुपात में होती है। उलमन[36] (1956) ने भी इसी बात को स्पष्ट किया उसके अनुसार—

(1) पारस्परिक क्रिया के लिये दोनों स्थानों में मांग व पूर्ति का सम्बन्ध हो।

(2) पूरकता का पारस्परिक क्रिया पर प्रभाव मध्यवर्ती सुविधाओं के कारण संशोधित हो जाता है। अर्थात् मांग युक्त माल की पूर्ति के अन्य स्त्रोत होने पर पारस्परिक क्रिया संशोधित हो जाती है।

(3) अगर दोनों में पूरकता है और मध्यवर्ती सुविधाएँ भी नहीं है, फिर भी अगर परिवहन लागत बहुत अधिक है तो इसका प्रभाव भी पारस्परिक क्रिया पर पड़ता है।

इस प्रकार गतिशीलता या संचलन एवं पारस्परिक क्रिया मुख्यतः मांग एवं पूर्ति के अनुसार निर्धारित होती है, जिसे बहुधा जनसंख्या के आकार के अनुसार देखा जाता है, फिर भी दूरी का हल्का प्रभाव अवश्य पड़ता है।

REFERENCE

1. HARTSHORNE, R. (1949) The nature of Geography. Association of American Geographer, Washington, D. C. pp 158-190,
2. KAUSHIK, S.D. (1976) Arthik Bhugol Ke Saral Siddhant, Rastogi Pub. Meerut, pp. 11.
3. SINGH, J. S. and SINGH, K. N. (1980) Arthik Bhugol ke mooltatva, Tara publication, Varanasi, pp 12.
4. LLOYD, P. E. ann DICKEN, P. (1972) Location in space: A theoretical approach to economic geography. Harper International ed. New York, pp. 13.
5. CHRISTALLER, W (1933) Translated by C W. BASKIN (1966) as Central places in Southern Germany. Englewood Cliffs, N. J.
6. MANDAL R. B (1975) Central place Hierarchy in Bihar plain, The National Geographical Journal of India, Vol. XXI (2) pp. 120-126.
7. SAWANT, S. B. and BHOLE, A. S. (1980) Distribution, Centrality and Hierarchy of central places in the Indrayani Basin, Deccan Geographer, Vol. XVIII (June-Sept.) pp. 822-34.
8. SHRIVASTAVA, V. K. (1977) Periodic markets and rural development : Bahraich District, a case study. National Geographer, Vol. XII (1 June 77) pp. 47-55.
9. BERRY, B. J. L. et al. (1969) Policy implications of an urban location model for the Kanpur region in Regional perspective of Industrial and urban growth, the case of Kanpur. Macmillan & Co. Ltd. Bombay, pp 203-219.
10. KARR, N. R. (1960) Urban Hierarchy and Central Functions Around Calcutta in Lower West Bengal, India,

and their significance. Proceedings of the I. G. U. Symposium in urban Geography, London (Sweden) pp 253-274.

11. MAYFIELD, R. C. (1967) A central place Hierarchy in Northern India, Quantitative Geography part I, Illinois pp. 120-166.
12. BHATTACHARYA, B. (1972) Factors determining the central functions and Urban hierarchy in North Bengal, Geographical Review of India, Vol. XXXIV No. 4 pp. 327–338.
13. KRISHNAN, G. and CHANDRA, M. M. (1976) The system of service centres in the outer Himalayas, Ekistics, 248 (July) pp. 62–66.
14. RAO, V. L. S. P (1964) Towns of Mysore state, Asia pub House. pp. 36–51.
15. MUKHERJEE, S. P. (1968) Commercial Activity and Market Hierarchy in a part of Eastern Himalaya, Darjeeling, National Geographical Journal of India, Vol. XIV (June-Sept) pp. 186–199.
16. SINGH, R. L. (1955) Banaras, A study in Urban Geography, Banaras.
17. JAIN, N. G. (1971) Urban Hierarchy and Telephone service in Vidarbha (Maharastra) National Geographical Journal of India, Vol. XVII part 2-3 pp. 134-57.
18. DUTT, A. K. and BENERJEE, S. (1970) Transportation index in West Bengal : a means to determine central place hierarchy. National Geographical Journal of India, Vol. XVI Part 3-4 pp. 199–207.
19. LOSCH, A. (1954) The Economics of location, translated by W. H. WOGLOM and W. F. STOLPER, Yale University press, New Haven.
20. MANDAL, R. B. (1975) Ibid.

21. VON BOVENTER, E. (1962) Towards a unified Theory of spatial Economic Structure, Papers of the Regional Science Association, 10 pp. 163-87.

22. ISARD, W. (1956) Location and space-economy, M. I. T. Press, New York, chapter 11 pp. 254-287.

23. VON THUNEN, J. H (1826) Translated as Von Thunen's Isolated state by C. M. Wartenberg, edited by P Hall, (1966), Pergamon Press, London.

24. HORVATH, R. J. (1969) Von Thunen's Isolated state and the area around Addis Ababa, Ethiopia, Annals of the Association of American Geographers 59, 308-323.

25. LOSCH, A. (1954) Ibid p. 38.

26. SHAFI, M. (1977) Assessment of VON THUNEN'S Land use analysis in India, The Geographer, Vol. XXIV No. 1 (Jan.) pp. 1-10.

27. CHISHOLM, M. (1962) Rural settlement and land use, Hutchinson, London.

28. AHMAD, E. (1952) Rural settlement types in Uttar Pradesh (United Provinces of Agra and oudh) Annals of the Association of American Geographers Vol. 42 pp. 232.

29. MANDAL, R. B. (1980) Models in land utilization, in R. B. MANDAL and V. N. P. SINHA (eds.) Recent trends and concepts in Geography, concept Pub. comp. New Delhi pp 279-299.

30. Ibid. pp. 279-299.

31. RAVENSTEIN, E. G. (1885) The Laws of migration, Journal of the Royal statistical Society, Vol. 48 pp 167-233

32. STEWART, J. Q. (1947) Emperical mathematical Rules governing the distribution and equilibrium of population, Geographical Review, 37 pp. 461-485.

33. MALSHE, P.T. and PATHAK, A.N. (1979) A study of the immediate Umland of Dhule and Jalgaon, The Deccan Geographer, Vol. XVII (June-Sept.) pp. 615-630.

34. DIXIT, R. S. (1977) on the delimitation of the Umland *of a Metropolish: Kanpur a case study, National Geogra*-pher, Vol. XII No. 1 (June 77) pp. 77-92.

35. STOUFFER, S. A. (1940) Intervening opportunities : A Theory relating mobility and distance, American Sociological Review 5 pp. 845–867.

36. ULLMAN, E. L. (1956) The role of transportation and the bases for spatial interaction, in W. L. Thomas Jr (ed.) Man's role in changing the face of the Earth, University of Chicago press, Chicago pp. 862-880.

जटिलताओं से युक्त वास्तविक भू-दृश्य
(ANISOTROPIC SURFACE)

पिछले अध्याय में हमने सरलीकृत मॉडल में केवल एक ही चर-दूरी-के आधार पर मांग और पूर्ति से उत्पन्न आर्थिक भू-दृश्यों के प्रतिरूपों को देखा और पाया कि सब बातों के समान रहते हुए भी दूरी के बढ़ते प्रभाव से सरलीकृत भू-दृश्य में किस तरह जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। वास्तविक जगत में अनेक चर साथ 2 कार्य करते हैं। उससे उत्पन्न भू-दृश्य जटिल से जटिलतर होता जाता है। आर्थिक भूगोल के विभिन्न भौतिक तत्व-भू आकार, खनिज, जलवायु, मिट्टी की उर्वरता, ऊर्जा संसाधन, वनस्पति आदि काफी विषमता एवं विविधता लिये हुए है अगर हम इन विविध तत्वों के अलग 2 और एक दूसरे के साथ भिन्न 2 संयोजन से उत्पन्न प्रभावों का अध्ययन करें, तो आर्थिक गतिविधियों पर इनके प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते हैं, चाहे शिल्प उद्योगों की स्थिति निर्धारण हो या कृषि कार्यों में भूमि का उपयोग, संसाधनों की किस्म एवं उनकी उपलब्धि में स्थानिक भिन्नता, आर्थिक गतिविधियों एवं उनकी स्थिति के निर्धारण पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है। यहाँ हम विभिन्न संसाधनों की किश्म एव उनके विषम वितरण से उत्पन्न प्रभावों का अध्ययन करेंगे।

औद्योगिक कच्चे माल का वितरण—

उद्योगों में काम आने वाले विभिन्न प्रकार के कच्चे माल यत्र-तत्र बिखरे हुए पाये जाते हैं। किसी उद्योग में काम आने वाले विभिन्न प्रकार के कच्चे माल एक साथ एक ही स्थान पर कम ही उपलब्ध होते हैं, कहीं 2 एक दो या तीन प्रकार के कच्चे माल पास 2 उपलब्ध हो सकते हैं, तो कहीं काफी दूरी पर स्थित होते हैं। कुछ ऐसे पदार्थ हैं जो सर्वत्र सुलभ हो जाते हैं यथा—वायु, मिट्टी, पानी आदि लेकिन कुछ पदार्थ किसी स्थान विशेष पर ही उपलब्ध होते है ऐसे पदार्थों को स्थानीय पदार्थ (Localized Material) कहते हैं जैसे लोहा, कोयला, पेट्रोलियम आदि।

पिछले अध्याय में क्रिस्टलर[1] व लॉश[2] के अनुसार प्रतिपादित विचारों से उत्पन्न व्यवस्था, सर्वत्र सुलभ पदार्थों से सम्बन्धित माल के उत्पादन या तृतीयक सेवाओं (Tertiary activities) की स्थिति-निर्धारण के विश्लेषण के लिये उपयुक्त है लेकिन जो उद्योग स्थानीय माल का उपयोग करते हैं उनके लिये परिवहन-लागत, सम्पूर्ण लागत का एक महत्वपूर्ण अंग होती है। उद्योगों के लिये विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध कच्चे माल को एकत्रित करना पड़ता है। इस पर परिवहन खर्च लगता है। यह परिवहन खर्च उस वस्तु की उत्पादन

लागत का महत्वपूर्ण भाग होती है जो उस वस्तु के सम्पूर्ण मूल्य के ढांचे को बहुत प्रभावित करती है इसका प्रभाव उद्योगों की स्थिति पर पड़ता है इस सम्बन्ध में अल्फ्रेड वेबर[3] के विचार (Alfred Weber) बहुत महत्वपूर्ण है।

उद्योगों के स्थानीकरण पर वेबर* के विचार—

अल्फ्रेड वेबर एक जर्मन अर्थ शास्त्री था, जो 1868 में एर्फर्ट (Erfurt) नगर में पैदा हुआ था। उसने 1904 से 1907 तक प्राग विश्वविद्यालय में व 1907 से 19:3 तक हीडल बर्ग विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। 1909 में उसने उद्योगों के स्थानीयकरण के बारे में अपना विचार अपनी पुस्तक में स्पष्ट किया जिसका अंग्रेजी संस्करण 1929 में 'थ्योरी ऑफ लोकेशन ऑफ इन्डस्ट्रीज' (Theory of Location of Industries) के नाम से शिकागो विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ। यह इस विषय के कुछ पहलूओं पर अव [illegible] क सन्दर्भ ग्रन्थ है। इसमें परिवहन लागत के तत्व को बहुत ओर महत्व दिया गया है। वेबर के विश्लेषण को समझने के लिये उसने कु मान्यताएं स्वीकार की, जिस पर उसका यह विचार आधारित है।

वेबर की मान्यताएँ

(1) जिस क्षेत्र या प्रदेश में उद्योग की स्थापना करनी है वह एक अलग एकाकी स्वतन्त्र इकाई है जो एक ही प्रशासन के अधीन है तथा उसमें सभी जगह एक समान जलवायु, प्राकृतिक बनावट, एक ही जातीयता वाली जनसंख्या व एक समान तकनीकी चातुर्य है।

(2) एक समय में एक ही वस्तु के उत्पादन पर ध्यान दिया जा रहा है। यदि एक ही प्रकार की वस्तुएँ, अलग 2 गुणों वाली है तो उन्हें भिन्न 2 वस्तुएँ, माना जायगा।

(3) कच्ची सामग्री के स्त्रोत मालूम है और उनकी स्थिति के बारे में पूरा ज्ञान है।

(4) श्रम, निश्चित प्रदेशों में उपलब्ध है, वेबर की मान्यता है कि श्रम कई स्थानों पर उपलब्ध है तथा आवश्यक संख्या में पूर्व निर्धारित मजदूरी पर निश्चित रूप से उपलब्ध है।

(5) उत्पादित वस्तु के उपभोग के क्षेत्र (बाजार) की स्थिति के बारे में भी पूरा ज्ञान है।

---

* वेबर से पहले एक अन्य जर्मन गणितज्ञ लोन्हार्ट भी वेबर के समान कुछ निष्कर्षो पर पहुंचा था जिसका उपयोग भी उसने किया।

(6) परिवहन लागत केवल भार व दूरी के अनुपात में बढ़ती है भू आकारों की भिन्नता आदि से परिवहन खर्च की वृद्धि भी या तो भार या दूरी में वृद्धि करके सम्मिलित कर ली गई है।

वेबर ने अपने विचारों में कुछ पारिभाषिक शब्दों का भी उपयोग किया है जो इस प्रकार है—

(1) **सर्वत्र सुलभ पदार्थ** (Ubiquitous Material)—वे पदार्थ जो सर्वत्र उपलब्ध हैं तथा सभी स्थानों पर समान मूल्य पर उपलब्ध है। जैसे वायु, मिट्टी आदि।

(2) **स्थानीयकृत पदार्थ** (Localised Material)—वे पदार्थ जो किसी स्थान या क्षेत्र विशेष में ही उपलब्ध हैं। लोहा, कोयला, सोना आदि।

(3) **शुद्ध पदार्थ** (Pure Material)—वे पदार्थ जिनका वजन उत्पादन प्रक्रिया में घटता नहीं है जैसे कपड़े का वजन धागे के वजन के बराबर ही होता है।

(4) **मिश्रित या अशुद्ध पदार्थ** (Gross Materials)—ऐसे स्थानीय पदार्थ जिनका वजन उत्पादन प्रक्रिया में कम हो जाता है, मिश्रित पदार्थ कहलाते हैं जैसे–बाक्साइट से एल्युमीनियम का उत्पादन करने की प्रक्रिया में वजन कम हो जाता है। ईंधन जैसे कोयला चरम सीमा का मिश्रित पदार्थ है जिसका थोड़ा भी वजन उत्पादित वस्तु में नहीं होता है।

(5) **पदार्थ सूचकांक** (Material Index)— $\frac{\text{मिश्रित पदार्थ का भार}}{\text{तैयार माल का भार}}$ अर्थात् यह उत्पादित वस्तु व स्थानीयकृत मिश्रित पदार्थ के अनुपात को व्यक्त करता है। ऐसी वस्तुयें जो शुद्ध पदार्थ से बनती है और जिनका वजन बराबर रहता उनका पदार्थ सूचकांक हमेशा 1 होता है। तथा मिश्रित पदार्थों से उत्पन्न वस्तुओं का पदार्थ सूचकांक हमेशा 1 से अधिक होता है। जैसे घीया पत्थर से पाउडर बनाने पर पदार्थ सूचकांक लगभग 1 होता है जब कि गन्ने से शक्कर बनाने पर पदार्थ सूचकांक लगभग 10 होता है।

(6) **स्थानीयकरण भार** (Locational Weight)—प्रति इकाई उत्पादित वस्तु के लिए कच्ची सामग्री का परिवहन भार एवं उत्पादित वस्तु को ले जाने का परिवहन भार सब मिलाकर स्थानीयकरण भार कहलाता है। सर्वत्र उपलब्ध होने वाले पदार्थों का उपयोग करने वाले उद्योगों में यह भार 1 होता है क्योंकि केवल उत्पादित वस्तु का ही भार परिवहित

करना पड़ता है। यदि शुद्ध पदार्थ से कोई वस्तु तैयार होती है तो स्थानीयकरण भार 2 होगा क्योंकि कच्ची सामग्री लाने का व ,उत्पादित वस्तु को ले जाने का दोनों का बराबर भार परिवहित करना पड़ता है।

(7) **आइसोडापान** (Isodapan)—यह बराबर परिवहन लागत के बिन्दु पथ को दर्शाने वाली रेखाऐं हैं। स्मिथ[4] के अनुसार ये सम लागत रेखाऐं (Cost Isopleth) या लागत समुच्च रेखाऐं (Cost Contours) कही जा सकती है।

इन्हीं मान्यताओं और पारिभाषिक शब्दों के आधार पर वेबर ने परिवहन लागत का उद्योग की स्थिति पर प्रभाव स्पष्ट किया।

पहली दशा—एक ही बाजार एवं एक ही कच्चा माल:—

यह माना जाय कि एक उद्योगपति एक वस्तु का उत्पादन करना चाहता है जिसके लिये एक ही कच्चे माल की है और उत्पादित वस्तु को एक ही बाजार में बेचता है। अब अगर चित्र सं 5 1 के अनुसार अ स्थान पर कच्चा



चित्र संख्या 5 1

माल प्राप्त है और ब स्थान पर इससे उत्पादित माल को बेचा जाता है तब उद्योग कहाँ पर स्थापित होगा ? वेबर ने इसकी निम्नांकित सम्भावनाऐं व्यक्त की हैं।

[1] अगर कच्चा माल सभी जगह उपलब्ध है तब उद्योग की स्थापना ब पर होगी क्योंकि यहां पर कच्चा माल उपलब्ध है और उत्पादित माल का परिवहन खर्च भी नहीं लगेगा अर्थात् परिवहन लागत न्यूनतम होगी। जैसे पानी, मिट्टी सर्वत्र उपलब्ध है तब मिट्टी के बर्तन या बर्फ उद्योग।

[2] अगर शुद्ध सामग्री का उपयोग किया जाता है तो उद्योग अ या ब या अ ब के मध्य कहीं पर भी स्थापित हो सकता है क्योंकि हर स्थिति में परिवहन खर्च व दूरी बराबर होगी। इस विचार की लोगों ने यह आलोचना की है कि अगर अ और व के मध्य उद्योग स्थापित किया जाता है तो माल को उतारने व पुन: बाजार में भेजने के लिये चढ़ाने का अतिरिक्त खर्च लगेगा। साथ ही अ से व को सीधे माल ले जाने का खर्च अ से बीच के स्थान व बीच के स्थान से ब तक लेजाने की अपेक्षा कम होता है अत: बीच की स्थिति कैसे उपयुक्त हो सकती है ? वेबर ने पहली कठिनाई को कोई महत्व नहीं दिया और दूसरी आपत्ति संभवत: वेबर की छठी मान्यता से दूर हो जाती है। जैसे—धागे से कपड़ा बनाने का उद्योग।

[3] अगर शुद्ध माल सर्वत्र उपलब्ध है तो उद्योग व पर (उपभोग के स्थान पर) स्थापित होगा क्योंकि शुद्ध पदार्थ बिना किसी प्रभाव के होगा तब सर्वत्र उपलब्धता के कारण व पर उद्योग स्थापित करने से परिवहन लागत न्यूनतम होगी। जैसे कपड़ा उद्योग।

[4] अगर मिश्रित पदार्थ का उपयोग होता है तब उद्योग कच्चे माल के स्रोत पर होगा जैसे गन्ने से शक्कर बनाने का उद्योग गन्ने के स्रोत पर स्थापित करना लाभदायक होगा क्योंकि लगभग 10 टन गन्ने से 1 टन भाग ही शक्कर बनाने के काम आता है। अगर ऐसी दशा में गन्ने के स्रोत से उद्योग कहीं अन्यत्र स्थापित किया जाता है तो $\frac{9}{10}$ अनुपयुक्त पदार्थ का परिवहन खर्च व्यर्थ ही लगेगा, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि एक ही बाजार व एक ही पदार्थ की दशा में वे सभी पदार्थ जिनका पदार्थ सूचकांक 1 से अधिक है उनसे सम्बन्धित उद्योग उद्गम पर स्थापित होंगे जब कि शुद्ध पदार्थ वाले बाजार या उद्गम या दोनों को जोड़ने वाली रेखा पर कहीं भी स्थापित हो सकते हैं।

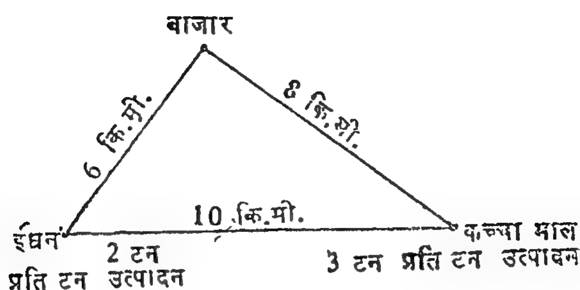
दूसरी दशा—एक बाजार व दो कच्चे पदार्थ—

माना कि एक वस्तु के उत्पादन में दो प्रकार के कच्चे पदार्थ काम में लाये जाते हैं और दोनों का मूल्य एक समान है लेकिन दोनों पदार्थ अलग 2 स्थानों पर उपलब्ध हैं तथा उपभोग का केन्द्र (बाजार) अलग स्थित है तब उद्योग की स्थापना की निम्नांकित संभावनाएँ हो सकती हैं:—

[1] अगर दोनों ही माल सर्वत्र उपलब्ध हैं तब उद्योग बाजार के निकट स्थापित होगा क्योंकि यहां परिवहन लागत न्यूनतम होगी।

[2] अगर दोनों माल शुद्ध हैं व निश्चित स्थान पर उपलब्ध हैं तब उद्योग बाजार के निकट स्थापित होगा क्योंकि दोनों माल सीधे उपयोग के लिये उत्पादन केन्द्र पर ले जाने से न्यूनतम परिवहन लागत लगेगी।

[3] अगर मिश्रित कच्चा माल (भार खोने वाले पदार्थों) का उपयोग किया जाता है तब स्थिति भिन्न होगी एवं अधिक जटिल होगी। मान लिया जाय कि एक उद्योग के लिए एक कच्चे माल व एक यांत्रिक शक्ति की आवश्यकता है दोनों ही अलग 2 स्रोतों से प्राप्त किये जाते हैं तथा एक ही बाजार को बना हुआ माल भेजा जाता है इस स्थिति में चित्र 5.2 के अनुसार यह ज्ञात किया जा सकता है कि कौनसा स्थान उद्योग की स्थापना के लिये उपयुक्त रहेगा। ऐसी दशा में (चित्र के अनुसार) शक्ति का स्रोत न्यूनतम परिवहन लागत बिन्दु है अतः उद्योग यहीं पर स्थापित करना उपयुक्त होगा। प्रत्येक स्थिति में टन-कि.मी. इस प्रकार होंगे।



चित्र संख्या 5.2

[1] बाजार की स्थिति—

ईंधन लागत = 18 टन कि.मी. (3 टन 6 कि.मी. तक)
कच्चे माल की लागत = 16 टन कि.मी. (2 टन 8 कि.मी. तक)
यहां पर बाजार की लागत न होने से कुल लागत = 34 टन कि. मी.

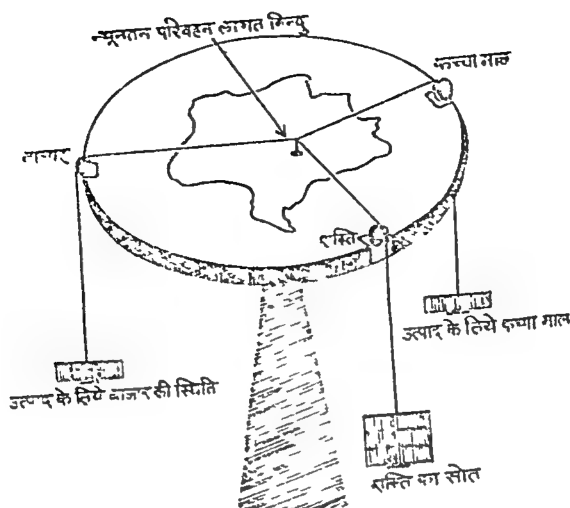
[2] ईंधन के स्त्रोत पर स्थिति—

कच्चे माल की लागत = 20 टन कि.मी. (2 टन 10 कि.मी. तक)
बाजार तक उत्पाद की लागत = 6 टन कि.मी. (1 टन 6 कि.मी. तक)
यहां ईंधन पर कोई लागत नहीं आयगी कुल लागत = 26 टन कि.मी.

[3] कच्चे माल के स्त्रोत पर—

ईंधन की लागत = 30 टन कि.मी. (3 टन 10 कि.मी. तक)
बाजार तक उत्पादित वस्तु लागत = 8 टन कि.मी. (1 टन 8 कि.मी. तक)

यहां कच्चे माल की लागत नहीं आयगी अतः कुल लागत = 38 टन कि.मी. तीनों दशाओं में सबसे कम खर्च ईंधन के स्त्रोत पर होने से उद्योग की स्थापना का उपयुक्त स्थान है। अगर इसमें परिवर्तन की कोशिश की जायगी तो परिवहन लागत बढ़ जायगी। ऐसी स्थिति में वेबर के अनुसार स्थिति निर्धारण वहुभुज (Locational Polygon) का उपयोग भी स्थिति ज्ञात करने में सहायता कर सकता है। इसके लिये परिवहन लागत का न्यूनतम बिन्दु ढूंढने में यांत्रिक मॉडल वेरीग्नन (Varignon Frame) फ्रेम का उपयोग किया जा सकता है। इसमें चित्र 5.3 की तरह तारों की सहायता से घिर्रियों पर भार, दूरी आदि का सम्वन्ध तैयार किया जाता है। ये सभी तार एक बिन्दु पर जुड़े होते हैं यह विन्दु जहां पर सापेक्षिक भार से संतुलित हो जाता है (ठहर जाता है) वहीं आदर्श स्थिति ज्ञात हो जाती है साथ को तालिका माल के प्रकार व पदार्थ सूचकांक के आधार पर प्रभाव वताती है। इसमें मुख्यतः बाजार का ही अधिक



चित्र संख्या 5.3

महत्व दिखाया गया है वेबर ने कच्चे माल पर अधिक जोर दिये जाने की बहुधा आलोचना की है।

शिल्प उद्योगों की स्थिति पर पदार्थ के प्रकार का प्रभाव

पदार्थ का प्रकार जो काम में लिया गया	पदार्थ सूचकांक	स्थिति		
		पदार्थ के स्त्रोत पर	मध्यवर्ती	बाजार
सर्वत्र उपलब्ध पदार्थ				+
1 शुद्ध पदार्थ	1	=	=	=
1 शुद्ध पदार्थ + 1 सर्वत्र सुलभ ,,	<1			+
>1 शुद्ध पदार्थ	1			+
>1 शुद्ध पदार्थ + 1 सर्वत्र सुलभ पदार्थ	<1			+
1 अशुद्ध पदार्थ	>1	+		
1 अशुद्ध पदार्थ + 1 सर्वत्र सुलभ पदार्थ	>1	+		
>1 अशुद्ध पदार्थ	>1	→		
शुद्ध पदार्थ + अशुद्ध पदार्थ + सर्वत्र सुलभ पदार्थ				→

(वेबर के अनुसार)

+ से तात्पर्य निश्चित स्थिति = समान संभावित स्थिति है।
→ विशेष प्रकार की स्थिति की ओर आकर्षण को प्रदर्शित करता है।

वेवर द्वारा स्थिति की समस्याओं को सुलझाने में सर्वत्र सुलभ पदार्थ व स्थानीय पदार्थ व शुद्ध पदार्थ एवं मिश्रित पदार्थों के अनुसार प्रभाव बिल्कुल ठीक है। लेकिन वास्तविक दशाओं में उद्योगों के स्थानीयकरण में पदार्थ सूचकांक कहां तक उपयोग में आता है? इस सम्बन्ध में 1955 में डब्ल्यू. स्मिथ[5] ने 1948 की गणना के आंकड़ों के आधार पर ब्रिटेन के 65 उद्योगों का विश्लेषण किया। उसने पाया कि प्राथमिक उद्योगों में शुरू में भार कम होने वाले पदार्थों व उत्पादन स्थिति में घनिष्ट सम्बन्ध हैं जैसे—चुकन्दर का पदार्थ सूचकांक=8 है। दुग्ध व्यवसाय का 6 व कच्चा लोहा उद्योग का 3 से 4 है। ये सब उद्योग कच्चे माल पर आधारित उद्योग हैं। साथ में दी हुई तालिका में स्मिथ ने बताया है कि कितने उद्योग पूर्णतः माल के स्त्रोत पर स्थापित थे। कुछ कच्चे

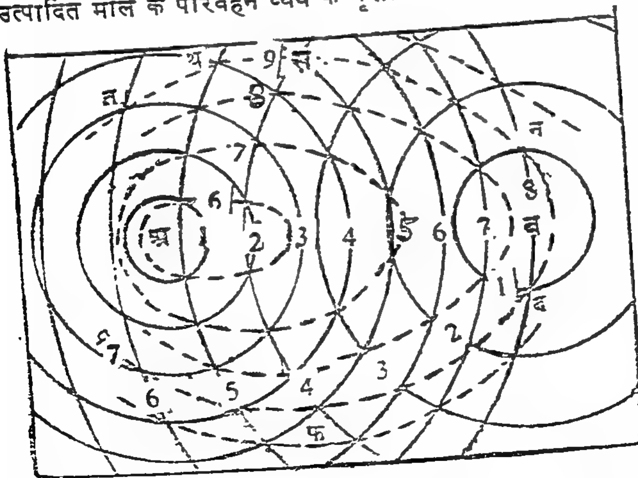
स्थिति	पदार्थ सूचकांक				
	>5	2–5	1–2	<1	कुल
पदार्थ के स्त्रोत पर	2	4	16	—	22
आंशिक पदार्थ ,,	—	4	5	3	12
पदार्थ के स्त्रोत पर नहीं	—	8	12	11	31
कुल	2	16	33	14	65

माल के स्थान पर व अन्यत्र भी स्थित है जो वेवर के विचारको सही सिद्ध करते हैं। लेकिन कुछ उद्योगों का माल के स्त्रोत से अलग स्थापित होने का कोई संतोषजनक कारण ज्ञात नहीं हो सका। स्मिथ ने इसमें कुछ अपनी तरफ से संशोधन, कोयले को पदार्थ सूचकांक निकालने में से हटाकर किया। इसी प्रकार बाद में केनेली[6] (Kennelly-1954), क्रेग[7] (Craig-1957), लिंडबर्ग[8] (Lindberg-1953) आदि ने भी उक्त विचारों की अपने अध्ययन से पुष्टि की है। वेवर ने बहुत ही साधारण लेकिन बहुत उपयोगी भविष्यवाणी का मॉडल बनाया। यद्यपि इसमें लचीलापन नहीं है जो कि अधिक जटिल परिस्थितियों में लागू किया जा सके। शुक्ला[9] (1980) ने मध्य भारत के पठारी भाग के चीनी उद्योग के अध्ययन के आधार पर बताया कि वेवर की शब्दावली के अनुसार यह उद्योग पदार्थ सूचकांक वाला है अतः अधिक विस्तृत क्षेत्र में फैलने योग्य नहीं है।

श्रम के खर्च का महत्व—वेबर ने उपर्युक्त दशाओं में परिवहन लागत को अधिक महत्व दिया और उसी के अनुसार कई स्थितियों की संभावनाएं व्यक्त की गई लेकिन वेबर ने श्रम के खर्च को भी स्थानीयकरण में महत्व दिया। इसमें संदेह नहीं कि श्रम के खर्च में बचत करके परिवहन के अधिक खर्च की समस्या दूर की जा सकती है व इस बचत के कारण उद्योग उक्त दशाओं से हटाकर भी अन्यत्र स्थापित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में वेबर ने आइसोडापान का विचार प्रतिपादित किया जिससे स्थिति को ज्ञात किया जा सकता है। जैसा कि न्यूनतम परिवहन लागत की स्थिति निश्चित स्थानों पर ही हो सकती है अगर इस विन्दु (न्यूनतम परिवहन लागत विन्दु) से हटकर कहीं पर उद्योग स्थापित किया जाता है तो परिवहन लागत बढ़ जायगी। इसे उस स्थान पर उपलब्ध सस्ते श्रम से कम किया जा सकता है।

आइसोडापान मॉडल (Isodapan Model)—

प्रस्तुत चित्र 5.4 में अ स्थान पर कच्चा माल उपलब्ध है तथा बाजार का स्थान ब है। कल्पना करें कि कच्चे माल का परिवहन व्यय, उत्पादित वस्तु के परिवहन व्यय का दुगना (पदार्थ सूचकांक अधिक होने से) है ऐसी दशा में उद्योग की स्थिति कच्चे माल के स्थान पर या अ पर होगी। कच्चे माल का परिवहन व्यय, बने हुए उत्पादित माल के परिवहन व्यय का दुगुना है। अतः कच्चे माल व उत्पादित माल के परिवहन व्यय के वृत्तों में भी यही सम्बन्ध होगा अर्थात् ब स्थान पर बने वृत्तों का अर्द्ध व्यास अ स्थान पर बने वृत्तों के अर्द्ध व्यास का दुगुना होगा। यदि किसी कारण से उद्योग स पर स्थापित होता है तो स से ब तक



चित्र सख्या 5.4

उत्पादित वस्तु का परिवहन व्यय 4 इकाई (4 गुना) होगा तो अ से स तक कच्चे माल का परिवहन व्यय 5 इकाई होगा। अर्थात् कुल 9 इकाई उत्पादन व्यय होगा। इस प्रकार अ स्थान की अपेक्षा स स्थान पर उद्योग स्थापित होने पर

न्यूनतम परिवहन लागत से 3 इकाई अधिक व्यय होगा। त थ द ध न प फ आदि सभी ऐसे स्थान हैं जहां उद्योग स्थापित करने पर तीन इकाई अतिरिक्त परिवहन व्यय पड़ेगा। इन बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा ही आइसोडापान (Isodapan) कहलाती है जिसका मान 9 है। अगर इस रेखा (Isodapan) पर उद्योग स्थापित करने में 3 इकाई श्रम की लागत में बचत की जा सके तो उद्योग इस रेखा पर कहीं पर भी स्थापित किया जा सकता है इससे बाहर किसी स्थान को चुनना अनुपयुक्त होगा। इस प्रकार उद्योगपति श्रम या अन्य प्रकार की लागत में कहीं बचत की स्थिति देखता है तो वहां भी वह उद्योग स्थापित कर सकता है। वेबर ने आइसोडापान का विचार व उद्योगों की स्थापना में श्रम के प्रभाव के बारे में कोई विशेष नई बात नहीं बताई। लेकिन यह तकनीक बताती है कि इस सैद्धान्तिक व्यवस्था में नये चरों का उपयोग हो सकता है जिससे जटिलताएँ बढ़ती हैं और हम वास्तविकता के निकट आते हैं।

समूहीकरण या समूहन का प्रभाव (Agglomeration)—

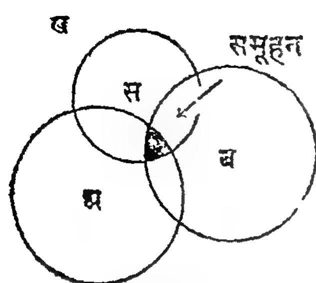
जिस प्रकार वेबर ने उद्योगों की स्थापना में श्रम का प्रभाव दर्शाया है, उसी प्रकार समूहन का प्रभाव भी महत्वपूर्ण माना है। वेबर के अनुसार समूहन तीन प्रकार के होते हैं।

[1] कारखाने का विस्तार करने से—जिस के कारण बडे पैमाने पर उत्पादन होने से लाभ उत्पन्न होते हैं।

[2] एक ही उद्योग के कई कारखाने एक ही स्थान पर स्थापित होने से। जिसके कारण तकनीकी सुविधाओं में विकास होता है तथा उत्पादित वस्तु को वेचने की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

[3] विभिन्न प्रकार के उद्योगों के एक स्थान पर स्थापित होने से—इसके कारण उद्योगों के लिये सामूहिक सामान्य सुविधाएँ एक ही प्रकार के विभिन्न उद्योगों की स्थापना की अपेक्षा अधिक होती है जैसे परिवहन सुविधा, विद्युत सुविधा, करों की सुविधा आदि।

वेबर के अनुसार अतिरिक्त परिवहन व्यय होने पर भी समूहन की सुविधा से लाभ मिलने पर उद्योग की स्थापना सर्वोत्तम स्थान से हटाकर की जा सकती है। जहां समूहन से प्राप्त लाभ परिवहन खर्च की वृद्धि से अधिक या बराबर हो। चित्र *5.5* के अनुसार तीन त्रिभुज हैं, प्रत्येक में एक ऐसा बिन्दु है जो



चित्र संख्या 5.5

परिवहन खर्च की दृष्टि से सर्वोत्तम है इन बिन्दुओं को केन्द्र मान कर आइसोडापान खींचे गये हैं जिनमें प्रत्येक का मान 5 है। इस दशा में कारखाने सर्वोत्तम बिन्दुओं से हटकर उस क्षेत्र में किसी भी बिन्दु पर स्थापित हो सकते हैं जो 5 मान वाले तीनों आइसोडापान वृत्तों के बीच में पड़ता है। बशर्ते समूहन से उत्पन्न लाभ 5 इकाई, परिवहन खर्च के बराबर या उससे अधिक हो यदि समूहन (समूहीकरण) में वृद्धि होती जाय तो उससे उत्पन्न लाभ भी उसी अनुपात में बढ़ता जायेगा या एक निश्चित दशा में स्थिर हो सकता है, लेकिन किसी भी परिस्थिति में समूहन का लाभ तभी प्राप्त होगा जबकि एक साथ कई उद्योगपति एक ही स्थान पर उद्योग स्थापित करने का निर्णय करें। अतः श्रम की तरह समूहन के प्रभाव को भी वेबर ने स्वीकार किया। इसके कारण उद्योग की स्थापना सर्वोत्तम स्थिति से हटकर समूहन के केन्द्रों पर हो सकती है।

वेबर के विचारों की आलोचना—

सैद्धान्तिक दृष्टि से वेबर के उद्योगों के स्थानीयकरण पर विचार स्पष्ट है लेकिन वेबर के विचारों की आलोचना भी हुई है जो इस प्रकार है—

[1] माल भाड़े की दर सदैव दूरी के अनुपात में नहीं बढ़ती है, जैसा कि वेबर ने माना है।

[2] कच्चे माल व उत्पादित माल पर एक समान माल भाड़ा (परिवहन खर्च) नहीं लगता है।

[3] वेबर ने आर्थिक तत्वों के प्रभाव को बहुत अधिक महत्व दिया है, जबकि प्रकाशाराव[10] (1942) ने उद्योगों के स्थानीयकरण पर भौगोलिक तत्वों के प्रभाव को महत्वपूर्ण बताते हुए वेबर की मान्यता को अस्वीकार किया। डॉ. दयाल[11] (1964) ने भी भारत के सीमेन्ट, लोहा-स्पात उद्योगों के स्थानीयकरण पर भौगोलिक तत्वों के प्रभाव के महत्व पर जोर दिया।

[4] वेबर का सम्पूर्ण विश्लेषण कच्चे माल के स्त्रोत एवं बाजार के केन्द्र को निश्चित विन्दु मान कर हुआ है जबकि वन्य उत्पादन एवं कृषिगत कच्ची सामग्री व उत्पादित माल का क्षेत्रीय विस्तार होता है।

[5] अधिक मूल्य युक्त कच्ची सामग्री, कम मूल्य वाली कच्ची सामग्री की अपेक्षा अधिक स्थानान्तरण के योग्य होती है। जैसे ताम्बा, स्पात की

अपेक्षा अधिक मंहगा होता है अतः ताम्बे के उपभोक्ता ताम्र शोधन शालाओं के पास स्थापित नहीं होते हैं जैसे कि इस्पात के उपभोक्ता इस्पात की मिलों के पास में।

[6] वेबर ने केवल परिवहन लागत को महत्वपूर्ण माना, उत्पादन प्रक्रिया की लागत को नहीं। जब कि वास्तव में अभीष्टतम स्थिति इष्टतम उत्पादन स्तर पर निर्भर करती है।

[7] वेबर ने संभावित मांग एवं पूर्ति के स्थानिक परिवर्तनों के प्रभावों को भी कोई महत्व नहीं दिया।

[8] वेबर का विश्लेषण पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की दशा में न्यूनतम लागत बिन्दु को ही अधिकतम लाभ बिन्दु प्रदर्शित करता है जबकि वास्तविक दशा में ऐसा नहीं होता है श्रम और समूहन को भी कच्चे माल व उत्पादन के समान माना है जो अवास्तविक है।

[9] लेखक का विचार है कि उद्योगों के स्थानीयकरण में आर्थिक व भौगोलिक तत्वों के अतिरिक्त राजनैतिक प्रतिष्ठा, सामाजिक सम्मान व अन्य मानवीय कारण भी महत्वपूर्ण प्रभावक तत्व है। मिश्र में हलवान का स्पात उद्योग इसका उदाहरण है जहां न तो स्थानीय रूप से कोयला एवं न ही लोह अयस्क उपलब्ध है। लोह अयस्क 800 Km. दूर स्थित अस्वान के पूर्व से प्राप्त होता है कोयला विदेशों से आयात होता है तथा बन्दरगाह से भी 160 Km दूर स्थित उद्योग तक कोयला लाना अधिक खर्चीला होता है। इसके अलावा उद्योग भी छोटा है, फिर भी मिश्र सरकार ने केवल आत्म सम्मान की दृष्टि से इसे स्थापित किया है।

इसी प्रकार का उदाहरण पाली का सूती वस्त्र उद्योग है जिसकी स्थापना का आधार मुख्यतः मारवाड़ में तत्कालीन समय में सूती वस्त्र उद्योग न होने से जोधपुर महाराजा द्वारा प्रतिष्ठा का विषय बनाने के कारण हुआ।

उत्पादक का निवास स्थान के प्रति मोह भी महत्वपूर्ण रूप से स्थानीयकरण को प्रभावित करने वाला तत्व है इसका कारण अधिकतम लाभ प्राप्त करने का ही मुख्य उद्देश्य न होकर उत्पादक का संतोषप्रद आय प्राप्त करना हो सकता है ऐसी दशा में इष्टतम से कम उपयुक्त स्थिति भी पर्याप्त होती है। इसके अतिरिक्त उत्पादक के अपने निवास स्थान पर विकसित सम्बन्ध, निवास की सुविधा, वहां पर स्थापित सम्पत्ति उस स्थान से भावात्मक लगाव, अनुकूलतम स्थिति से दूरी व अनिश्चितता आदर्श स्थिति पर उद्योग स्थापित करने में बाधा उपस्थित करते हैं।

स्थानीयकरण के सिद्धान्त वर्तमान के संदर्भ में

आजकल की फर्में या सम्बन्धित संस्थान कार्य के कई स्थानों से सम्बन्धित होते हैं। इनका संगठन स्थानीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय या वहुराष्ट्रीय हो सकता है। आज कल वहु राष्ट्रीय कम्पनियां इतनी विशालता लिये है कि जिनकी आय किसी छोटे देश के वार्षिक वजट से भी अधिक होती है। इनमें हजारों की संख्या में नौकर, ग्राहक व शेयर होल्डर्स होते हैं। इनके कई प्लांट विश्व के कई देशों में स्थापित है। ऐसी दशा में उनकी स्थानीयकरण सम्बन्धी समस्याऐं सामान्य उद्योगों की स्थानीयकरण से सम्बन्धित समस्याओं से भिन्न होती है क्योंकि—

(1) फर्मों में श्रम का क्रियात्मक विभाजन—

आजकल की विशालकाय फर्मों में प्रशासनिक कार्य, वास्तविक शिल्प उद्योग की स्थिति से भिन्न स्थान पर स्थित होते हैं फर्म का मुख्य ऑफिस, शोध कार्यालय, गोदाम, उत्पादक इकाई आदि की स्थिति के लिये अलग 2 प्रकार का वातावरण चाहिये, अतः आज स्थिति की समस्याऐं वहुपक्षीय हो गई हैं। जैसे भीलवाड़ा सिंथेटिक्स की उत्पादक इकाई भीलवाड़ा में है जबकि इसका मुख्य कार्यालय दिल्ली में है।

(2) उत्पावन की जटिलता—

औद्योगिक उत्पादन एक टीम वर्क की तरह होता है आज के उत्पादक कार्यों में एक संयोजन इकाई (Assembly Unit) के कई ठेकेदार व ठेकेदारों के उप ठेकेदार होते हैं जिनसे माल प्राप्त करके एकत्र कर उत्पादन किया जाता है। आज एक फर्म का उत्पादन दूसरे का कच्चा माल होता है। अतः वस्तु के उत्पादन की दशा ज्ञात करना कठिन है।

(3) श्रम विभाजन—

आज के उद्योगों में श्रम का विभाजन एवं विशिष्टीकरण चरम सीमा पर पहुंच गया है लेकिन श्रम का और अधिक विभाजन होने से कार्य क्षमता वढेगी यह कहना उपयुक्त नहीं है।

(4) परिवहन लागत —

परम्परागत सिद्धान्तों में परिवहन लागत एवं अन्य प्रकार की लागत को कम करने के प्रयत्न किये गये हैं जो स्थानीयकरण को प्रभावित करते है आधुनिक परिवेश में उद्योगों का ढांचा, माल ढ़ोने की क्रिया व परिवहन तकनीक मे भारी परिवर्तन होने के कारण भौतिक दूरियां इतनी महत्वपूर्ण नही रह गई है जो आज की विशालकाय अर्थ व्यवस्था की स्थिति को प्रभावित कर सके। आज परिवहन लागत व परिवहन के साथ 2 दूर संचार व व्यक्तिगत यात्रा भी

महत्वपूर्ण हो गई है। आज भारी मात्रा में माल ठेकेदारों से संस्थान को फिर फैक्ट्री, गोदाम, थोक विक्रेता, फुटकर विक्रेता के पास से होता हुआ ग्राहक तक जाता है। अतः परिवहन लागत को अन्य भागों में बांट दिया जाता है तथा अत्याधिक गतिशीलता के कारण परिवहन लागत को भुला देते हैं या कम महत्व दिया जाता है।

स्मिथ[13] का स्थानिक लागत वक्र
(SMITH'S SPACE COST CURVE)

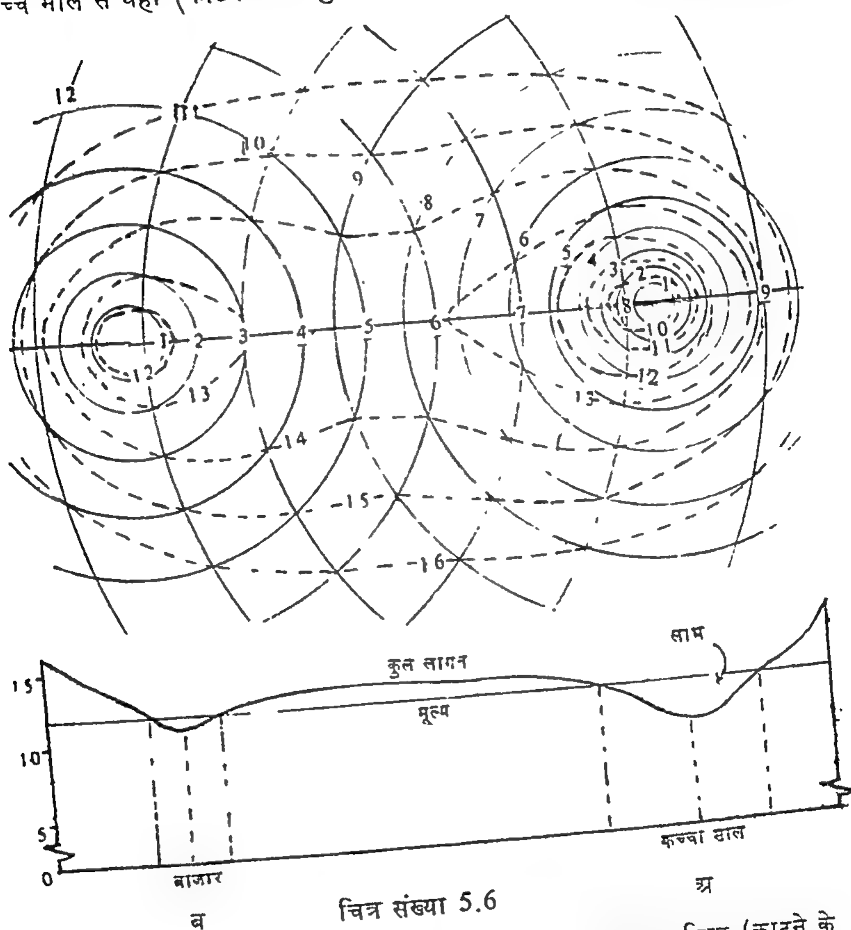
उद्योगों की स्थिति निर्धारण में लागत व मूल्य, आधार भूत अध्ययन का विषय है। इनकी सीमाओं में भिन्नता से (मूल्य व लागत के अन्तर की) लाभप्रद उत्पादन लिया जा सकता है इन्हीं सीमाओं में कोई व्यवस्थापक कहीं पर भी उद्योग को स्थापित कर सकता है, यद्यपि उससे लाभ की मात्रा, मूल्य व लागत के सन्दर्भ में अलग 2 स्थानों पर अलग 2 हो सकती है।

स्मिथ ने वेबर के विचारों का ही उपयोग उद्योगों की स्थिति के भौगोलिक अध्ययन के लिये एक मॉडल तैयार करने में किया। उसने 1966 में प्राप्त मूल्य व लागत खर्च की स्थिति को सरलतम रूप में उद्योगों की स्थिति के लिये प्रस्तुत किया जो स्थिति के निर्धारण सम्बन्धी निर्णय को समझने का बहुत उपयोगी साधन है स्मिथ ने विभिन्न विचारों का मिश्रित स्वरूप रखा है और इसकी विशेषता यह है कि यह विचार सैद्धान्तिक की अपेक्षा वास्तविक दशाओं के अधिक निकट है जिसका व्यावहारिक रूप से अधिक उपयोग है।

स्मिथ की तकनीक (मॉडल) का आधार वेबर द्वारा विकसित आइसोडापान है। उसके गौण कारक, जैसे श्रम की लागत, को भी स्थानीयकरण ढ़ांचे पर पड़ने वाले प्रभाव को देखने के लिये शुद्ध रूप से परिवहन लागत को न्यूनतम किया। वेवर के अनुसार एक आइसोडापान कुल परिवहन लागत के समान स्थानों को जोड़ने वाली रेखा होती है। स्मिथ के अनुसार आइसोडापान सम लागत (Cost Isopleth) रेखायें या लागत कन्टूर्स, (Cost Contours) कही जा सकती है इन्हें कुल सम लागत रेखाएं (Equal total cost lines) कह सकते हैं इनको इस प्रकार तैयार करते है।

सर्व प्रथम समान परिवहन लागत की रेखाएं खींची गई है इन्हें सम यात्रा लागत रेखाएं (Isotims or Isovectures) कहते हैं जो प्रत्येक कच्चे माल के स्त्रोत से व प्रत्येक बाजारी केन्द्र से खीची जाती है। अगर सभी तरफ गतिशीलता समान हो तो ये संकेन्द्रीय वृत होती है तब जहां ये एक दूसरे को काटती है उन रेखाओं के मान के बराबर के केन्द्र विन्दु ज्ञात किये जाते हैं और उन्हें (बिन्दुओं को) जोड़ने पर जो रेखा बनेगी वह आइसोडापान (Isodapan)

होगी । जो कि वस्तु के उत्पादन पर होने वाले कुल परिवहन खर्च को बतायगी। चित्र 5.6 में जैसे कच्चे माल के केन्द्र अ से बाहर की 7 की सम परिवहन लागत (Isotims) रेखा व बाजारी केन्द्र ब से बाहर की 8 की सम परिवहन लागत (Isotims) रेखा जहां एक दूसरे को काटती है वह यह बताती है कि कच्चे माल से यहां (काटने के बिन्दु तक) की परिवहन लागत 7 इकाई है और



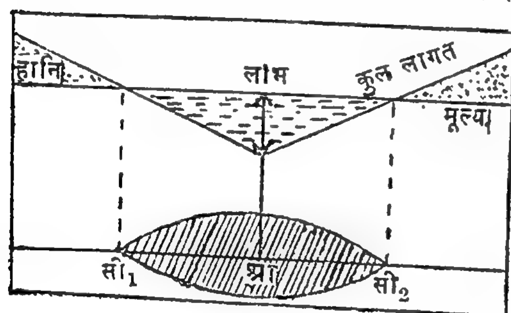
चित्र संख्या 5.6

उस माल को बाजार तक पहुंचाने की परिवहन लागत इस बिन्दु (काटने के बिन्दु) से 8 इकाई है अर्थात् वस्तु पर कुल परिवहन व्यय 15 इकाई हुआ ऐसे सभी 15 मान वाले (काटने के बिन्दु) बिन्दुओं को जोड़ने वाली रेखा 15 मान वाली आइसोडापान होगी इस प्रकार सभी अलग 2 मान वाली आइसोडापान खींची जायगी । इससे कुल परिवहन लागत का एक धरातल तैयार हो जायेगा और इस धरातल पर न्यूनतम परिवहन लागत का बिन्दु भी ज्ञात हो जायेगा। प्रस्तुत चित्र में यह अ पर होगा । अब इन आइसोडापान को सामान्य समोच्च

रेखाओं की तरह पार्श्व चित्र (Cross Section) में बदला जाता है तो उसके अनुसार जो परिणाम ज्ञात होते हैं, उन्हें स्मिथ ने दो प्रकार का बाताया है।

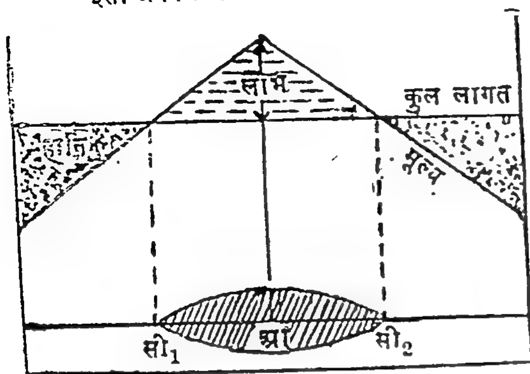
(1) सम लागत रेखाओं (Isodapan) के पार्श्व चित्र से एक स्थानिक लागत वक्र (Space cost curve) बनता है इसका सबसे नीचे का बिन्दु न्यूनतम परिवहन लागत बिन्दु होता है। इसमें ढ़ाल की तीव्रता प्रदर्शित करती है कि यहां स्थिति उपयुक्त है, जबकि धीमा ढ़ाल कम उपयोगी स्थिति को बताता है।

(2) स्थानिक लागत वक्र (Space cost curve) से लाभ की सीमान्त क्षेत्रीय स्थिति ज्ञात होती है। वस्तु के उत्पादन की लागत अलग 2 स्थान पर अलग 2 होती है जो उत्पादन के भिन्न 2 तत्वों के प्रभाव के कारण व बाजार तक पहुंचाने की लागत की भिन्नता के कारण होती है। मांग तथा मूल्य भी अलग 2 क्षेत्रों में अलग 2 होते हैं अर्थात् इनमें भी भिन्नता पाई जाती है। इसलिये कुल आय भी भिन्न 2 स्थानों पर भिन्नता लिये होती है। सर्वोत्तम स्थिति वही है जहां लागत पर अधिकतम आय या लाभ प्राप्त हो। चित्र 5.7-9 में स्पष्ट किया गया है कि लागत व मूल्य दोनों स्थिर हैं जो किसी भी फर्म के द्वारा परिवर्तित नहीं किया जाता है। क्षेत्र में उत्पादन भी समान है। अब अगर मांग में भिन्नता आती है तो क्षेत्र में मूल्य में भी अन्तर आता है चित्र 5.7 में लागत व मूल्य को लम्बवत् रेखा से तथा दूरी को क्षितिजवर्ती रेखा से दिखाया गया है। इस चित्र में मांग समान होने के कारण सभी जगह मूल्य बरावर है लेकिन उत्पादन लागत अलग 2 स्थानों पर अलग 2 है इस दशा में 'आ' अभिष्टतम स्थिति है तथा सी$_1$ व सी$_2$ लाभ की सीमांत स्थिति है सी$_1$ व सी$_2$ के मध्य भी अगर उद्योग स्थापित किया जायेगा, तब भी लाभ रहेगा। अत: उद्योग की स्थिति वेबर के न्यूनतम परिवहन लागत बिन्दु 'आ' की अपेक्षा वास्तविकता के अधिक नजदीक होगी। जो एक बिन्दु न होकर एक क्षेत्र के रूप में होगा।



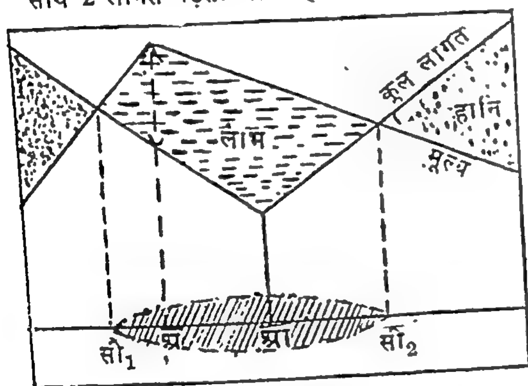
चित्र संख्या 5.7

इसी प्रकार अगर चित्र 5.8 के अनुसार लागत को स्थिर माना जाय लेकिन मांग और उसी अनुपात में मूल्य अलग 2 स्थानों पर अलग 2 हो तब भी सर्वोत्तम स्थिति 'आ' पर ही होगी तथा सी$_1$ व सी$_2$ सीमान्त स्थितियां होगी। अतः मांग और पूर्ति को स्थिर मान कर आदर्श (सर्वोत्तम) व सीमांत स्थितियों का विचार



चित्र सं. 5.8

लागू किया जा सकता है। चित्र 5.9 के अनुसार 'आ' विन्दु से दूरी बढ़ने के साथ 2 लागत बढ़ती जाती है जब कि मांग, जो मूल्यों के रूप में प्रदर्शित है अ विन्दु पर अधिकतम है 'आ' विन्दु पर लागत न्यूनतम है अतः यह सर्वोत्तम स्थिति है जहां अधिकतम लाभ का स्थान है। लेकिन सत्यता यह है कि मांग अ बिन्दु पर अधिकतम है अतः उद्योग-पति अगर अपना उद्योग 'आ' पर लगता है तो यहां



चित्र सं. 5.9

उसे लाभ अधिक प्राप्त होगा लेकिन कुल आय यहां पर कम होगी क्योंकि यहां मांग कम है लेकिन अ पर उद्योग लगाता है तो अधिक माँग के कारण कुल आय अधिक होगी (यद्यपि लाभ कम होगा)।

स्मिथ का यह विचार मूल रूप में रास्ट्रॉन[14] (Rawstron) द्वारा 1958 में प्रस्तुत किया गया। सीमान्त क्षेत्र का विचार सन्तोषप्रद (Sub optinal) स्थिति के बिचार से सम्वन्धित है जो यह वताता है कि आदर्श या सर्वोत्तम स्थितियां सीमित होती हैं जिन्हें ढूंढ़ना आसान कार्य नहीं है। अतः रॉस्ट्रान के अनुसार फर्म का लाभ व हानि का खाता यह स्पष्ट कर देता है कि फर्म सीमान्त से वाहर स्थित है या नहीं। इस स्थिति में उद्योगपति न्यूनतम लागत विन्दु से थोड़ा हटकर भी अगर उद्योग स्थापित करता है तब भी वह अस्तित्व में बना रह सकता है।

स्थानीय संसाधनों का स्थानिक अर्थ व्यवस्था पर प्रभाव

किसी भी अर्थ व्यवस्था का आधार आस पास के भौगोलिक वातावरण में फैले विभिन्न प्रकार के पदार्थ होते हैं जिनका वितरण भी असमान होता है। उद्योग का स्थानीयकरण उद्योग में लगने वाले कच्चे माल एवं उस वस्तु की बाजार में मांग की विभिन्नता पर निर्भर करता है। कच्चे माल पर आधारित उद्योग हो, चाहे बाजार पर आधारित उद्योग हो, वे वहीं पर स्थापित होते हैं जहां (1) अधिकतम ग्राहकों की संख्या हो,

(2) न्यूनतम लागत पर ग्राहकों की सेवा की जा सके, तथा

(3) अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके।

उद्योग की स्थापना के लिये स्थिति का आकर्षण उस उद्योग की लागत पर निर्भर करता है। लेकिन शिल्प उद्योगों व तृतीयक सेवाओं की स्थिति में महत्वपूर्ण अन्तर होता है। शिल्प उद्योगों में कच्चे माल को एकत्रित करना, उससे उत्पादन करना व वितरण करना आदि का खर्च महत्वपूर्ण है। अतः केन्द्रीय स्थान व्यवस्था (Central place system) की जैसी कल्पना क्रिस्टलर[15] ने की है, वैसा स्वरुप वास्तविक दशा में नहीं पाया जाता है, बल्कि उसमें कई दृष्टियों से परिवर्तन आ जाता है। अतः इस परिवर्तन के निम्न कारण हैं—

(1) **पदार्थ सूचकांक:**—जिन औद्योगिक पदार्थों (कच्चे माल) का पदार्थ सूचकांक 1 से अधिक होता है वे केन्द्रीय स्थानों पर न होकर कच्चे माल के स्त्रोत पर स्थापित होते हैं अतः केन्द्रीय स्थान व्यवस्था भंग हो जाती है।

(2) **शुद्ध कच्चा माल**—जिन उद्योगों में शुद्ध कच्चा माल काम में लिया जाता है वे उद्योग केन्द्रीय स्थानों पर स्थापित न होकर बाजार या उपभोग के केन्द्र पर स्थापित होते हैं।

(3) **तृतीयक सेवाऐं**—इनमें कम परिश्रम वाले लागत तत्वों का उपयोग होता है अतः इनकी स्थिति पर उत्पादन स्त्रोत का महत्व कम होता है इनका सेवा का क्षेत्र भी व्यापक होता है।

(4) **पूर्व स्थापना**—अगर किसी केन्द्रीय स्थान व्यवस्था में कोई उद्योग स्थानीय माल पर स्थापित हो जाता है तब उस पर केन्द्रीय स्थान व्यवस्था का कम प्रभाव पड़ता है। उद्योगपति ऐसे केन्द्रीय स्थानों पर थोक या फुटकर व्यापार का बाजार (एजेन्सी) स्थापित कर दूरी के प्रभाव को कम कर देते हैं।

(5) **स्थानीय पदार्थ**—कई पदार्थ कुछ स्थानों पर ही उपलब्ध होते हैं अतः इन पर आधारित उद्योग स्थानीय मांग या पूर्ति पर आधारित नहीं होते हैं,

वहां स्थानीय जनसंख्या के लिए कुछ निम्न स्तर की सेवाएँ धीरे 2 विकसित होती है। इस कारण भी केन्द्रीय स्थान व्यवस्था भंग होती है।

(6) **उत्पादन तकनीक में परिवर्तन**—संसाधनों का प्रयोग एक समय या एक युग के लिए होता है इसके बाद परिवर्तन हो सकता है। जैसे—

[1] संसाधन स्त्रोत समाप्त हो जाये,
[2] मांग में परिवर्तन आ जाये,
[3] संसाधनों का उपयोग आर्थिक दृष्टि से महंगा होने लगे,
[4] किसी नई उत्पादन तकनीक से पदार्थ नूचकांक वदल जाये,

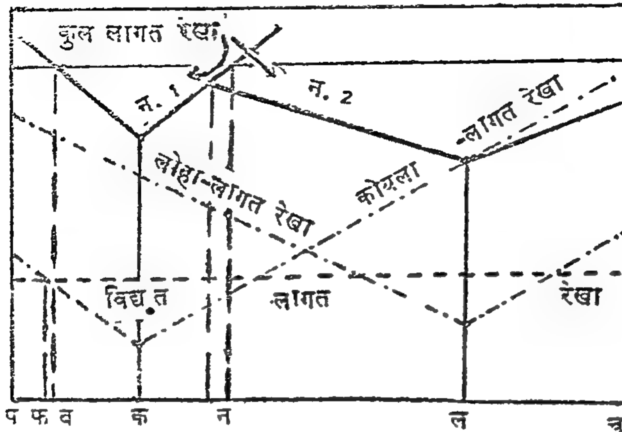
इनके परिणामस्वरूप स्थानिक अर्थ व्यवस्था में परिवर्तन आता रहता है। और अर्थ तंत्र की विकसित क्रमबद्धता भंग होने लगती है। जैसे लोहे स्पात उद्योग में भयंकर परिवर्तन आये हैं। प्रारम्भिक रूप से यह उद्योग कोयला क्षेत्रों पर आधारित था पहले एक टन कच्चा लोहा तैयार करने के लिए 8-10 टन कोयला काम आता था। 19 वीं शदी के मध्य यह मात्रा 4 टन, उत्तरार्द्ध (1873) में यह 2.55 टन, 1938 में यह 1.67 टन रह गई। अतः यह उद्योग कोयले के बजाय लौह अयस्क के क्षेत्रों की ओर आकर्पित हुआ लेकिन जब से स्क्रेप लोहे (पुराना टूट फूट का लोहा) का अधिक उपयोग होने लगा इससे न केवल लोहे के उपयोग में बल्कि, ईंधन के उपयोग में भी कमी आने लगी व यह उद्योग बाजार की ओर आकर्पित होने लगा क्योंकि स्क्रेप लोहा इन्हीं प्रमुख लोहे के बाजारों से प्राप्त होने लगा। इससे परिवहन लागत में भी बचत होने लगी।

(7) **स्थानापन्नता**—दूसरा उदाहरण ईंधन पर आधारित उद्योगों का है प्रारम्भ में ये लकड़ी पर आधारित थे। बाद में जल शक्ति के केन्द्रों पर स्थापित होने लगे। कोयले के उपयोग के बाद उद्योग कोयला क्षेत्रों पर केन्द्रित हुये। इस शताब्दि में गतिशील शक्ति के साधन—विद्युत, गैस, पेट्रोल के कारण उद्योगों का शक्ति के केन्द्रों पर निर्भर रहना बिलकुल नगण्य सा हो गया। कुछ ही उद्योग. जो बहुत अधिक शक्ति का उपभोग करते हैं, वे शक्ति केन्द्रों के निकट है जैसे—एल्यूमिनियम, रसायन उद्योग आदि।

इस प्रकार समय के साथ परिवर्तन होते रहते हैं और क्षेत्रीय (सरलीकृत आर्थिक मॉडल) व्यवस्था में भी परिवर्तन होते हैं जिससे अधिक से अधिक जटिलताएँ आती जाती हैं। अतः किसी भी स्थान पर किसी समय की स्थानिक अर्थ व्यवस्था का स्वरूप उसके पूर्व के कार्यों के एकत्रीकरण का परिणाम होती है।

स्मिथ का स्थानिक लागत वक्र स्थानीय पदार्थों की जगह सर्वत्र सुलभ पदार्थों की स्थानापन्नता के प्रभाव को स्पष्ट करने का महत्वपूर्ण साधन है।

चित्र संख्या 5.10 के अनुसार एक उद्योग दो स्थानीय पदार्थों (Localized Materials) का उपयोग करता है जैसे लौह- अयस्क ल पर उपलब्ध है और कोयला क पर उपलब्ध है और सर्वोत्तम (श्रेष्ठतम) स्थिति कोयला की उपलब्धि के स्त्रोत पर है तब कुल लागत की वक्र रेखा, लागत वक्र रेखा नम्बर 1 से प्रदर्शित की



चित्र संख्या 5 10

गई है। क कोयले का स्त्रोत होने से इसकी लागत दूरी के साथ 2 तेजी से बढ़ती है इसे कोयला लागत रेखा के द्वारा दर्शाया गया है लोहा ल पर होने से इसकी लागत भी दूरी के अनुसार तेजी से बढ़ती है इसे लोहा–लागत रेखा द्वारा दर्शाया गया है। अब इस क्षेत्र में यदि अणु विद्युत शक्ति अपेक्षाकृत सस्ती व समान दर पर सर्वत्र सुलभ होती है, इसको विद्युत लागत रेखा द्वारा दर्शाया गया है, इसके परिणामस्वरूप न तक विद्युत लागत रेखा कोयले की लागत रेखा से नीचे रहती है और न से च तक विद्युत कोयले से सस्ती है व फ न के मध्य कोयला विद्युत से सस्ता है, इस स्थानापन्नता के दो प्रभाव स्पष्ट हैं—

(1) कुल लागत की कमी का क्षेत्र व न से बढ़कर व च तक हो जाता है अतः इस क्षेत्र के मध्य में अगर उद्योग स्थापित करते हैं तो लाभप्रद स्थिति होगी दूसरे शब्दों में अगर व च के मध्य लाभ का क्षेत्र होने के कारण उद्योग इस मध्य कहीं भी स्थापित किया जा सकता है।

(2) अब, क ही सर्वोत्तम स्थिति का केन्द्र नहीं रह जाता है और न्यूनतम लागत का केन्द्र क से ल पर स्थानान्तरित हो जाता है, जो लौह-अयस्क का स्त्रोत है। यहां उद्योग स्थापित करने पर कुल लागत वक्र रेखा नं० 2 के समान होगी।

स्थानीय पदार्थों का कृषि-अर्थ व्यवस्था पर प्रभाव

जिस तरह स्थानीय पदार्थ नगरीय केन्द्रों व औद्योगिक केन्द्रों की सरलीकृत व्यवस्था को भंग कर देते हैं, वैसे ही मिट्टी, जलवायु एवं धरातल का ढ़ाल

आदि की विषमता कृषिगत उत्पादन को सीधे व अन्य प्रकार की अर्थ व्यवस्थाओं को परोक्ष रूप से प्रभावित करती है। भौतिक वातावरण की क्षेत्रीय भिन्नता पौधों एवं पशुओं के वितरण की सीमा निर्धारित करती है, यद्यपि वास्तविक वितरण मानवीय सूझ-बूझ तथा अन्य उपक्रमों पर आधारित होते हैं। सामान्यत: फसलों व पशुओं के लिये विशेष स्तर का तापमान, आर्द्रता, पोषक तत्व एवं अन्य बातें आवश्यक हैं। यह अलग 2 क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की फसलों व पशुओं के लिये अलग 2 मात्रा में उपलब्ध होने पर वहां सर्वोत्तम (अनुकूलतम) दशाएें कही जा सकती हैं, लेकिन सर्वोत्तम से कुछ न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध दशाओं में भी फसलों व पशुओं का विकास संभव है। फसलों की दशा में सर्वोत्तम दशा से तात्पर्य न्यूनतम लागत पर अधिकतम पैदावार लेने से है।

यद्यपि तकनीकि विकास के कारण उत्तरी ध्रुव के आस पास के भागों में फलों का उत्पादन संभव हो गया है। नवीन तकनीक के आधार पर ही ड्वार्फ किश्म का गेहूं अधिक ठंडे प्रदेशों में उगाया जा सकता है लेकिन आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद उत्पादन नहीं होता है। इस वैज्ञानिक युग में नई खाद के रूप में कृत्रिम उर्वरक, वर्ण संकरित बीजों की किश्में व विशेष नस्ल के वर्ण संकरित पशुओं से कृषि क्षेत्रों की सीमाएें काफी विस्तृत हुई हैं, फिर भी ये क्षेत्र सर्वोत्तम (अनुकूलतम) क्षेत्रों की तुलना में काफी पीछे है।

विश्व के विस्तृत क्षेत्र कृषिगत उत्पादन के लिये आर्थिक दृष्टि से अलाभप्रद दशाओं वाले हैं। विश्व के विस्तृत उच्च अक्षांसीय भागों में फैले ठंडे रेगिस्तान तापमान की कमी के क्षेत्र हैं, जहां कृषि उत्पादन आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी है। उपोष्ण कटिबन्धीय उष्ण रेगिस्तानों में कम वर्षा व अधिक वाष्पीकरण प्रमुख बाधा है। कहीं हिमपात, कहीं पर शीत लहरों का प्रभाव कही मूसलाधार वर्षा, कहीं कोहरा, कहीं अत्यधिक गर्म हवाओं का स्थानीय प्रभाव देखा जाता है इनके कारण सफलों का उत्पादन प्रभावित होता है।

मिट्टी की दशाएें, मिट्टी की बनावट, जल प्रवाह, तापमान, उर्वरता, जल ग्रहण क्षमता आदि कई बातो पर निर्भर करती है। ऐसे ही धरातल का स्वभाव भी महत्वपूर्ण प्रभावक तत्व है। अत्यधिक उच्चावच या ढ़ाल वाला धरातल कृषि उत्पादन की दृष्टि से प्रतिकूल होता है। संक्षेप में, जलवायु, मिट्टी व धरातल का ढ़ाल आदि से सम्बन्धित विभिन्न तत्व फसलो के अधिकतम एवं न्यूनतम उत्पादन के लिये उत्तरदायी हैं। जैसे 2 सर्वोत्तम दशाओं में कमी आती है वैसे ही उत्पादन कम होने लगता है।

फसलों के लिये जलवायु की आदर्श दशाएें—

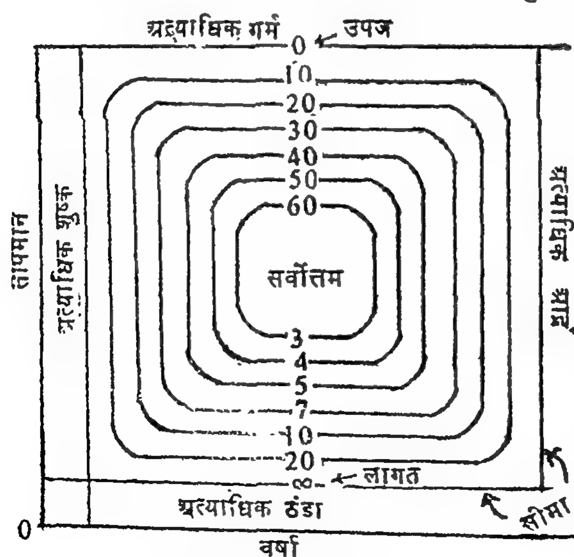
विभिन्न पारिस्थितिकी विशेषज्ञ किसी विशेष प्रकार के पौधे के सफल

उत्पादन के लिये आवश्यक कुछ विशिष्ठ न्यूनतम तापमान, आर्द्रता, मिट्टी की पोषकता व अन्य दशाओं को निश्चित करते हैं। विश्व के सभी क्षेत्रों या प्रदेशों में ये न्यूनतम दशाएें नहीं पाई जाती हैं। अतः उत्पादन के लिये किसी क्षेत्र में कुछ भौतिक सीमाएें (आदर्श दशाएें या आदर्श से कम दशाएें) होती हैं, वहीं उत्पादन किया जा सकता है।

किसी विस्तृत क्षेत्र या प्रदेश में एक बहुत छोटा क्षेत्र या कभी 2 मात्र एक बिन्दु हो, किसी विशेष प्रकार के पौधे के उत्पादन के लिये न्यूनतम आवश्यक सुविधाओं से युक्त होता है, जहां उपलब्ध सभी भौतिक विशेषताएें एक साथ मिलकर पौधे की वृद्धि में अधिकतम सुविधाएें प्रदान करती हैं। ऐसा क्षेत्र या बिन्दु उस पौधे के लिये या फसल उत्पादन के लिये श्रेष्ठतम या अनुकूलतम (Optima) कहलाता है।

वास्तव में यह भौतिक सीमा और श्रेष्ठतम स्थिति हमेशा स्थायित्व युक्त नहीं होती है, बल्कि समय के साथ 2 तकनीकी विकास के कारण बदलती रहती है। तकनीकी विकास के कारण भूमि की क्षमता, भूमि का उपयोग व अन्य लागत तत्वों में परिवर्तन आता है। जैसे शीघ्र पकने वाले गेहूं की किश्में या अधिक शुष्कता सहने वाले चौपायों की नस्लें इस प्रकार के तकनीकी विकास के उदाहरण हैं।

इस श्रेष्ठतम भौतिक सीमा के क्षेत्र या बिन्दु से ज्यों 2 दूर जाते हैं न्यूनतम आदर्श (श्रेष्ठतम) दशाओं में परिवर्तन होने लगता है और उस फसल का क्रमशः उत्पादन गिरने लगता है और अन्त में एक सीमा ऐसी आती है कि उस फसल विशेष के लिये उत्पादन की दशाएें समाप्त हो जाती हैं और उस फसल का उत्पादन नही

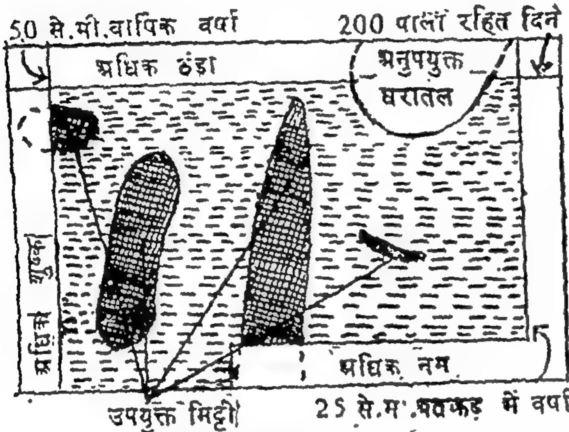


चित्र संख्या 5.11

हो सकता है। जैसा चित्र संख्या 5.11 में दर्शाया गया है। चित्र में फसलों

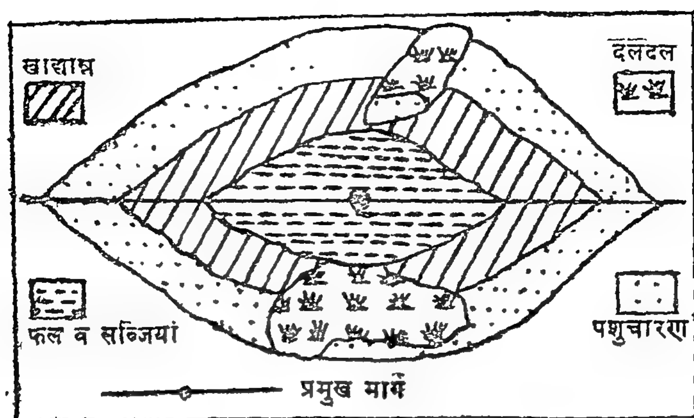
का उत्पादन सर्वोत्तम क्षेत्र या बिन्दु पर, तापमान व वर्षा के आधार पर, दर्शाया गया है। बीच का क्षेत्र श्रेष्ठतम दशा वाला है और जैसे 2 बाहर की ओर आते हैं, दशाएँ कम से कम अनुकूल होती जाती हैं और अन्त में शून्य हो जाती हैं, जहां फसल का उत्पादन लेना संभव नहीं है।

मेकार्टी एवं लिन्डबर्ग[16] ने संयुक्त राज्य अमेरिका के कपास क्षेत्र का उदाहरण दिया चित्र संख्या 5.12 कपास उत्पादन की प्राकृतिक सीमाओं व अनुकूलतम दशाओं वाले क्षेत्र को प्रकट करता है जो वर्षा की मात्रा और ताप-मान एवं उत्पादन की अवधि पर आधारित है। ऐसे ही तत्वों के आधार पर फसलों के उत्पादन के अनुकूल क्षेत्र (विस्तृत क्षेत्र) और उसमें अनुकूलतम क्षेत्र (सर्वोत्तम क्षेत्र) ज्ञात किये जा सकते हैं। अन्य उदाहरणों में ब्राजील का साओपोलो राज्य का कॉफी उत्पादक क्षेत्र, भारत में कश्मीर-घाटी में पाम्पोर-केशर उत्पादक क्षेत्र है।



चित्र संख्या 5.12

इस प्रकार उक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भौतिक पर्यावरण कृषि उत्पादन के अन्य कई कारकों की तरह उत्पादन लागत को प्रभावित करने वाले तत्वों में महत्वपूर्ण तत्व हैं। इसके कारण सरलीकृत आर्थिक भू-दृश्य का प्रतिरूप अव्यवस्थित (भंग) हो जाता है और वह अधिक जटिल हो जाता है। ये ही जटिलताएँ हम वास्तविक दशाओं में देखते हैं। जैसा कि चित्र संख्या 5.13 से स्पष्ट है कि दलदलीप्रदेश कृषि के अनुपयुक्त है व पशुचारण दलदलीप्रदेश के नीचे खाद्यान्न के क्षेत्र में स्थित है अतः यहां खाद्यान्न की अपेक्षा पशुचारण अधिक उपयुक्त है दोनों ही दशाओं में खाद्यान्न व पशुचारण के सामान्य क्षेत्रों का प्रतिरूप भंग हो गया है। इसके अतिरिक्त नगर से जाने वाले मार्ग के सहारे भी कृषि व अन्य प्रकार का भूमि उपयोग लम्बाई में अधिक बढ़ गया है।



चित्र संख्या 12

यही अव्यवस्थित प्रतिरूप हम वास्तविक दशाओं में देखते हैं अतः जितना अधिक वैषम्य किसी क्षेत्र के संसाधनों मे होगा, उतना ही अधिक सरलीकृत प्रतिरूप भंग होकर उस क्षेत्र की अर्थ व्यवस्था को जटिल से जटिलतर बनायेगा। इसीलिये वास्तविक दशाओं में हमें इतनी जटिलताएँ दिखाई देती है।

REFERENCE-5

1. CHRISTALLER, W. (1933) Die centralen orte in Suddeutschland. Translated by C W. BASKIN (1966) as Central places in Southern Germany. Englewood Cliffs, N. J.
2. LOSCH, A. (1954) Economics of location, Yale University Press. New Haven, cantt.
3. WEBER, A (1909) Theory of the location of industries. University of Chicago Press, Chicago.
4. SMITH, D. M. (1966) Atheoretical framework for geographical studies of industrial location, Economic Geography 42, pp 95-113.
5. SMITH, W. (1955) The location of industry, Transactions of the institute of British Geographers 21, pp. 1-18.
6. KENNELLY, R. A. (1954) The location of the Maxican steel industry in R. H T. SMITH, E. J. TAAFFE and L. J. KING (eds.) Readings in Economic geography Rand Mc Nally, Chicago, pp. 126-157.

7. CRAIG, P. G. (1957) Location factors in the development of steel centres, Papers and proceedings, Regional Science Association 3, pp, 249-265.

8. LINDBERG, O (1953) An Economic-Geographic study of the Swedish paper industry, Geografiska Annaler 35, pp. 28–40.

9. SHUKLA, S. K. (1980) Sugar industry in the Madhya Bharat plateau : a case study. The Deccan Geographer, Vol. XVIII (Jan.–June) pp. 746-759.

10. RAO, V. L. S. P. (1942) The geographers and the localization of industries, Journal of the Madras Geographical Association. 17 (3)

11. DAYAL, P. (1964) Industrial location in India, Transactions of the Indian council of Geographers. 1.

12. SMITH, D. M. (1966) Ibid.

13. RAWSTRON, E. M. (1958) Three principles of industrial location. Transactions of the Institute of British Geographers 25, pp 135-142.

14. CHRISTALLER, W. (1933) Ibid.

15. Mc CARTY, H. H. and LINDBERG, J. B. (1966) A perface to economic geography, Englewood cliffs, N. J.

६

अर्थव्यवस्था में लागत तत्व

(COST FACTOR IN ECONOMIC SYSTEM)

किसी भी अर्थतंत्र में चाहे उद्योगपति हो या किसी कृषि फार्म का मालिक, सभी अपने लिये अधिकतम लाभ की प्राप्ति चाहते हैं। अतः अर्थ व्यवस्था के स्थानीयकरण में यह लाभ की प्राप्ति महत्वपूर्ण आधार होती है जिसके कारण अर्थ व्यवस्था-प्रतिरूप अलग 2 क्षेत्रों में अलग 2 तरह का व अलग 2 स्तर का विकसित होता है। लेकिन लाभ की प्राप्ति सभी स्थानों पर समान नहीं होती है, यह कहीं कम होती है व कहीं अधिक होती है। यह निम्न दो बातों पर निर्भर करती है। (1) जहां आय में समानता हो व लागत में भिन्नता हो तो प्राप्त लाभ में भी भिन्नता होगी।

(2) लागत में समानता हो व आय में भिन्नता हो तब भी प्राप्त लाभ में भिन्नता होगी।

लेकिन बहुधा यह भी होता है कि व्यवस्थापक का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना न होकर लागत को न्यूनतम करना होता है, यह कैसे हो सकता है ? हम यह जानते हैं कि सभी प्रकार के उत्पादन पर लागत दो प्रकार की होती है:—

[1] **परिवहन लागत**—इसमें दो प्रकार की परिवहन लागत होती है (क) कच्चे माल को उत्पादन स्थान पर लाने की परिवहन लागत (ख) उत्पादित वस्तु को उपभोक्ताओं तक पहुंचाने की परिवहन लागत।

[2] **उत्पादन-प्रक्रिया की लागत**—इसमें श्रम की लागत, भूमि की लागत कच्चे माल की लागत, भवन की लागत, उपकरणों की लागत, पूंजी की लागत आदि सम्मिलित की जाती हैं।

सर्व प्रथम हम परिवहन लागत से सम्बन्धित विषय का विस्तृत विवेचन करेंगे। इसके बाद में उत्पादन प्रक्रिया की लागत का विवेचन करेंगे।

परिवहन लागत

(Transportation Cost)

सभी प्रकार की अर्थ व्यवस्थाओं में गतिशीलता आधार भूत तत्व है अगर हम सरलीकृत मॉडल की सारी सीमाएँ हटा दें तो आर्थिक गतिविधियों के स्थानिक प्रतिरूप पर परिवहन का प्रभाव स्पष्ट देख सकते हैं।

यातायात मार्गों की स्थिति एवं जाल—

सामान्यत: सभी प्रकार की गतिशीलता मार्गों के सहारे ही होती है, जिसके कारण इनमें अपने आप जटिलता बढ़ती जाती है। जैसा कि हमने

सरलीकृत मॉडल में देखा है, दो स्थानों के मध्य न्यूनतम परिवहन लागत, उन दोनों स्थानों को जोड़ने वाली सीधी रेखा के सहारे होती है। मार्ग किसी अर्थ-तन्त्र को उसके विभिन्न अंगों से जोड़ते हैं व साथ ही दूसरे अर्थ तन्त्र से भी जोड़ते हैं जो सभी प्रकार के यातायात के मार्गों के रूप में व दूर संचार की लाइनों के सहारे संभव होता है।

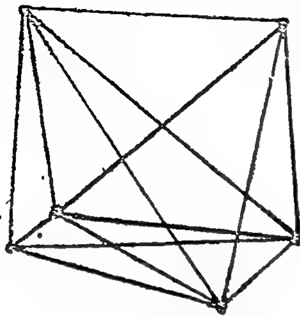
मार्गों का स्वरूप सबसे सरलतम रूप में 'एकल मार्ग' (Single route) के रूप में होता है जो किन्हीं दो स्थानों को जोड़ने वाली सीधी रेखा के रूप में मिलता है। लेकिन वास्तविक दशाओं में धरातल की कई विषमताएँ हैं, जिनका प्रभाव मार्गों की स्थिति पर पड़ता है। पर्वत शृंखलाएँ, दलदल, जलाशय, पठार, नदियां आदि मार्गों की स्थिति व गतिशीलता के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते हैं। अत: सभी मार्ग सीधी रेखा में न होकर बल्कि इससे कुछ हटकर (टेढ़े मेढ़े) होते हैं। इन पर भौतिक स्वरूप का प्रभाव जितना हम परम्परागत रूप से मानते आये हैं उतना वास्तव में नहीं होता है। एपलटन (1963) ने यह पाया कि 'प्राकृतिक मार्ग' केवल साधन है, साध्य नहीं है। ये केवल परिवहन के विकास के लिये अवसर पैदा करते हैं लेकिन मार्गों के लिये मांग कम ही उत्पन्न करते हैं। यातायात के मार्गों की स्थिति पर आधार भूत प्रभाव वास्तविक या सम्भावित मांग का अधिक पड़ता है जब एक बार मार्ग की मांग उत्पन्न हो जाती है, तो उसकी पूर्ति के लिये मार्गों के बनने की प्रक्रिया शुरू होती है। यहां यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि मार्गों की लागत पर धरातल की विषमता का प्रभाव अवश्य पड़ता है। अत: दुर्गम प्रदेशों में मार्ग बनाने की लागत उससे होने वाले लाभ के रूप में देखी जाती है यातायात की सुविधाएँ देने व मार्ग बनाने में लागत दो बातों पर निर्भर करती है।

[1] **मार्गों की स्थायी लागत**—यह मार्गों के निर्माण पर होने वाली लागत है यह लागत मार्ग की लम्बाई व धरातल की प्रकृति पर निर्भर करती है।

[2] **मार्गों की गतिशील लागत**—यह बदलती रहती है। यह मार्गों की लम्बाई व उस पर ढोये जाने वाले माल की मात्रा पर निर्भर करती है।

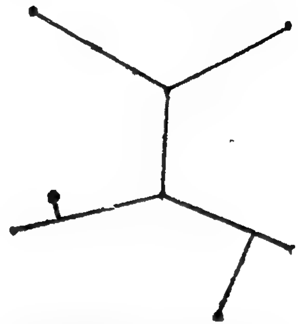
इस प्रकार मार्गों के प्रकार व जाल को स्थायी लागत व गतिशील लागत की आनुपातिक भिन्नता, अलग 2 स्थानों में अलग रूप से निश्चित करती है। संलग्न चित्र संख्या 6.1 में एक सरलीकृत प्रदेश है जिसमें 6 नगरीय केन्द्र हैं। इसमें प्रत्येक केन्द्र दूसरे से सीधे जुड़ा हुआ है। अत: यह मार्गों की अधिकतम दूरी को बताता है। बंगे[2] (Bunge) ने इसे उपयोग करने वाले के लिये न्यूनतम

लागत वाला मार्ग (Least-cost-to-user) बताया है लेकिन इस दशा में यह स्पष्ट है कि मार्गों की रचना में अधिकतम खर्च आयेगा। लागत को कम करने का स्वरूप चित्र 6.2 में दिखाया गया है। इसमें मार्गों के निर्माण में



उपयोग में कम लागत

चित्र संख्या 6.1



बनाने में कम लागत

चित्र संख्या 6.2

न्यूनतम खर्च (Least-cost-to-builder) आयेगा क्योंकि मार्गों की दूरी न्यूनतम है। लेकिन कोई भी दो केन्द्र सीधे नहीं जुड़े हैं इसलिये इन मार्गों का उययोग करने वालों पर अतिरिक्त खर्च आयेगा। जहां नगर सघन रूप में होंगे, वहां पर चित्र 6.1 के अनुसार मार्गों का जाल विकसित होगा, जबकि दूर 2 फैले नगरों के मध्य में चित्र 6.2 के अनुसार मार्गों का जाल विकसित हो जायेगा।

यह मॉडल बहुत ही सरलीकृत है, क्योंकि यह सीधे न्यूनतम दूरियों से सम्बन्धित है। यह सैद्धान्तिक अधिक है लेकिन इस प्रकार का स्वरूप वास्तविक दशाओं में प्राप्त करना कठिन है। इन पर धरातलीय विषमताओं, राजनैतिक सीमाओं एवं अन्य कई तत्वों का प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि वायुमार्ग भी बिल्कुल सीधे नहीं होते हैं उन पर भी हवा की दिशा एवं वायु भार का प्रभाव पड़ता है। अतः मार्गों की स्थिति वास्तव में सीधी रेखाओं के बजाय कुछ अलग हटकर होती है। यह हटाव दो प्रकार का होता है।

[1] धनात्मक हटाव (Positive Deviation)

[2] ऋणात्मक हटाव (Negative Deviation)

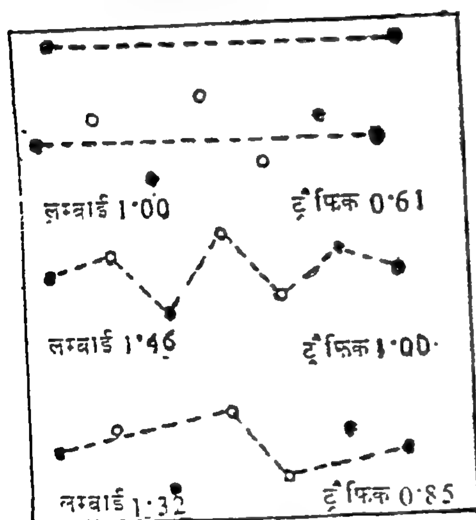
(1) धनात्मक विचलन (Positive Deviation)—

वेलिंगटन[3] ने (1887) इस सम्बन्ध में मेक्सिको में किये गये अध्ययनों के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकाले। उसकी समस्या रेल मार्ग की लम्बाई को कम से कम करना व साथ ही वहन क्षमता को अधिकतम करना था। उसने तीन मुख्य व्यवस्थाएँ रखीः—

[1] अगर बीच के सभी नगर समान उत्पादन क्षमता वाले हैं और समान दूरी पर स्थित हैं, तब यातायात की मात्रा उन केन्द्रों के वर्ग के अनुपात में होगी।

[2] अगर मध्य के केन्द्र सभी ग्रामीण कस्बे हैं और अन्य रेल्वे की प्रतिस्पर्द्धा नहीं है तो कस्बों के स्टेशन, कस्बों से दूर होंगे और इससे प्राप्त कुल आय में प्रति मील 10% की कमी हो जायगी।

[3] अगर मध्य के केन्द्र बड़े औद्योगिक नगर हैं और अगर दूसरी रेल्वे लाइन भी है, तब आय में कमी अधिक होगी। अगर नगर स्टेशन के केन्द्र से दूर स्थापित होते हैं तो आय 25% कम हो जायगी।



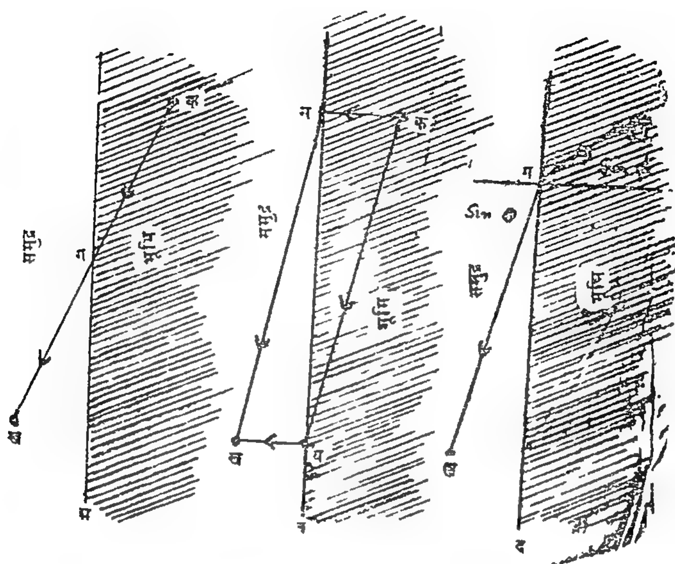
चित्र संख्या 6.3

चित्र 6.3 में अगर हम यह माने कि दो स्थानों के मध्य सीधी दूरी 1.0 है तथा अधिकतम परिवहन की मात्रा मध्यवर्ती कस्बो व औद्योगिक केन्द्रों से 1.0 है तब प्रथम प्रकार की परिवहन व्यवस्था में माल की मात्रा घटकर 0.61 रह जायगी अगर दूसरे प्रकार का यातायात का जाल विकसित हो तो रेल्वे लाइन की लम्बाई अधिकतम 1.46 हो जायगी तथा अगर दोनों के बीच की स्थिति की तरह यातायात का जाल विकसित हो तो माल की मात्रा 0.86 हो जायगी, जबकि रेल्वे लाइन की लम्बाई 1.32 होगी। इस प्रकार यहां धनात्मक विचलन से तात्पर्य मार्ग की लम्बाई बढ़ाकर अधिकतम माल भाड़ा प्राप्त करने से है।

(2) **ऋणात्मक विचलन** (Negative Deviation)—

इस से तात्पर्य मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाने से है या अत्याधिक लागत के क्षेत्रों से दूरी को कम करना है। लॉस[4] ने इसके लिये आवर्तन के नियम (Law of refraction) का उपयोग किया। चित्र 6.4 में Snell's Law का सरलीकृत स्वरूप सियर्स व जेमेनस्की[5] (1964, p. 842) ने प्रदर्शित किया

है। प्रस्तुत मॉडल में मुख्य समस्या क से ख तक समुद्री-स्थल मार्ग ज्ञात करना

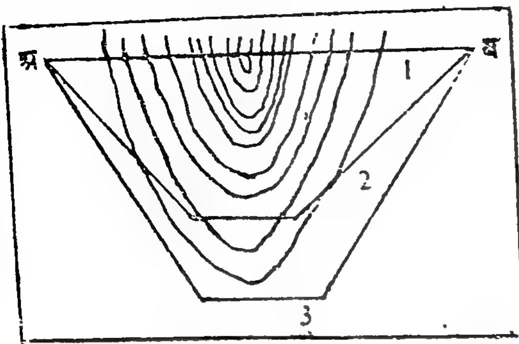


चित्र संख्या 6 2

है ताकि क से ख तक सस्ती लागत से माल पहुंचाया जा सके व नया बन्दरगाह तट रेखा पर स्थापित किया जा सके। हम यह मानकर चलते हैं कि स्थल परिवहन लागत जलीय-परिवहन लागत से अधिक मंहगी है। अगर जल परिवहन लागत F_1 है तथा स्थल परिवहन लागत F_2 है, तब लॉस के अनुसार बन्दरगाह की स्थापना, $f_1 \text{ Sin } \theta - f_2 \text{ Sin } \phi = O$ जहां होगा, वहीं होगी। जबकि θ व ϕ वे कोण हैं जो दो यातायात मार्ग किसी तटीय केन्द्र पर बनाते है। जितनी ज्यादा स्थलीय परिवहन लागत होगी उतना ही अधिक यह केन्द्र स की ओर खिसकेगा। अगर जलीय परिवहन लागत अधिक है तब यह केन्द्र द की ओर खिसकेगा।

अतः वंदरगाह बनाने की उपयुक्त स्थिति 'ग' पर है। डेका[6] (1974) ने गणितीय विधि से लॉश के उपर्युक्त नियम की व्याख्या करते हुए बताया कि इस प्रकार की दशाऐं सामान्य की अपेक्षा विशिष्ट अधिक है। प्राथमिक दशा में उसका विचार पूर्णतः सही है लेकिन वास्तव में यह इतना सरल नहीं है, जैसा लॉश ने बताया। फिर भी किसी दशा में इसका प्रभाव कम नही होता है। इस प्रकार की दशाऐं अत्याधिक सैद्धान्तिक है जो सरलीकृत दशाओं में ही सम्भव है।

इसी तरह 6.5 के अनुसार एक अन्य उदाहरण अ और ब केन्द्रों के मध्य पर्वतीय प्रवेश है। दोनों के मध्य न्यूनतम दूरी के मार्ग से (सीधे मार्ग से) माल ले जाने पर कुल लागत का अधिकांश भाग पर्वतीय क्षेत्र की ऊंचाई एवं चौड़ाई से तय होता है। ऐसी दशा में लॉश के अनुसार परिवहन मार्ग का



चित्र संख्या 6.5

उसी तरह आवर्तन होता है जैसे प्रकाश की किरणों का। इसमें सीधे मार्ग से परिवहन लागत अधिक होगी, जबकि आवर्तित मार्ग से (लम्बे मार्ग से) जो अपेक्षाकृत कम ऊंचाई पर होकर जाता है यह अपेक्षाकृत सस्ती होगी। व्यावहारिक रूप में इसका अच्छा उदाहरण उत्तरी अमेरिका के पूर्वी व पश्चिमी तट के मध्य व्यापार का है। 19 वीं शदी में उच्च पर्वतीय क्षेत्रों को पार करने की अपेक्षा समुद्री मार्ग, जो कि 9200 मील तक अधिक लम्बा (हार्न अन्तरीप से होकर) था, व्यापार होता था। बाद में पनामा नहर बन जाने से यह व्यापार नहर से होने लगा, जो सीधे मार्ग की अपेक्षा अधिक सस्ता पड़ता है।

ऐसे ही राजनैतिक सीमाओं के सहारे भी मार्गों की स्थिति में परिवर्तन आ जाता है। वहां सीमा के समानान्तर मार्ग अधिक विकसित होते हैं जबकि सीमा के आर पार कम। जैसे भारत-पाक सीमा पर, U.S.A. व कनाड़ा सीमा पर। भारत पाक सीमा पर बाघा के द्वारा ही आर पार मार्ग विकसित है अगर कोई व्यक्ति बाड़मेर से हैदराबाद (सिंध) जाना चाहे तो ऐसा बाघा-चौकी के द्वारा ही संभव है। यद्यपि बीच की सीमा रेखा के सहारे दोनों ओर मार्ग विकसित हैं लेकिन यहां राजनैतिक कारणों से मार्गो की स्थिति में विचलन देखा जा सकता है। इस प्रकार सरलीकृत मॉडल में भौतिक व मानवीय तत्वों के प्रभाव से जटिलताएं आ जाती हैं जो कुछ धनात्मक होती हैं और कुछ ऋणात्मक। सभी प्रकार की आर्थिक गतिविधियां मार्गों से जुड़ी होती हैं। इस जटिलता से सरलीकृत स्वरूप में काफी भिन्नता आ जाती है लेकिन स्थानीयकरण के सिद्धान्त उनमें अन्तर्निहित होते हैं।

यातायात का विकास एवं उसका स्थानिक प्रभाव

किसी भी आर्थिक तंत्र की जीवन रेखा विकसित एवं सक्षम यातायात होती है क्योंकि इसके कारण क्षेत्रीय दूरियां कम होती हैं। माल व मनुष्यों को

सस्ती दर व शीघ्रता से पहुंचाने की आवश्यकता के कारण यातायात तकनीक में परिवर्तन आये हैं जिसके परिणाम स्वरूप विश्व सिकुड़ता जा रहा है तथा आर्थिक तंत्रों के क्षेत्रीय विस्तार में परिवर्तन हुये हैं और हो रहे हैं।

एक आर्थिक तंत्र या इसके किसी अंग द्वारा अपनी पहुंच के क्षेत्र को बढ़ाने के लिये यातायात की मांग रखी जाती है। अगर मांग पर्याप्त होती है तो इसकी पूर्ति के साधन खोजे जाते हैं। इन खोजों में जो अधिक सफल होती हैं तब उनसे नये यातायात का विकास होता है। इस प्रकार के नये विचार पूर्णतः नये होते हैं या पहले वाले में संशोधन होता है जिसके परिणाम स्वरूप यातायात की गति तेज होती है व दो स्थानों के मध्य लगने वाला समय कम हो जाता है या इस सुविधा के कारण दो स्थानों के मध्य माल के आदान प्रदान की मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार एक चक्रीय व्यवस्था स्थापित हो जाती है।

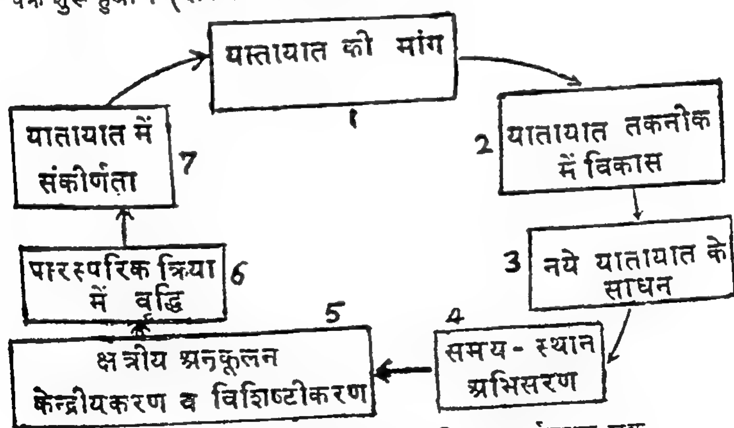
कई विद्वान 19 वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति को, विशेषकर इसकी प्रारम्भिक दशा को, यातायात की क्रान्ति मानते हैं। भाप के एंजिन के आविष्कार के पूर्व परिवहन लागत अधिक थी तथा यातायात की क्षमता (गति व भार ढ़ोने की) भी कम थी। अधिकांश माल जल यातायात से ढ़ोया जाता था। इसी कारण अधिकांश नगर तटीय भागों में विकसित हुये। 18 वीं शदी में भाप के एंजिन के आविष्कार एवं 19 वीं शदी में इसके उपयोग के कारण पहले जलीय व बाद में स्थलीय यातायात का विकास हुआ। इससे यातायात के क्षेत्र में कई सुधार आये, जो अब तक चल रहे हैं। 19 वीं शदी में यातायात का विकास रेल्वे के फैलने पर आधारित था एवं 20 वीं शदी में यातायात में फिर क्रान्ति आई। पहले आँटोमोबाइल व बाद में वायु यातायात एवं पाइप लाइनों का विकास हुआ। विशेष रूप से आँटोमोबाइल सर्वत्र सुलभ यातायात का साधन बनता गया। इस प्रकार जैसे 2 यातायात में विकास होता गया, उसकी क्षमता में व साथ ही गति में सुधार होता गया। जिससे न केवल यातायात की सुविधाऐं ही बढ़ी हैं, बल्कि यातायात की औसत लागत भी कम हुई है। जेनेल[7] (Janelle) ने इसे समय-स्थानिक अभिसरण (Time-space convergence) नाम दिया है। यह समय-स्थानिक सम्बन्ध प्रमुख यातायात की खोजों के साथ 2 तेजी से बदला है। इन सब परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप आर्थिक गतिविधियां भी परिवर्तित हुई एवं अर्थ व्यवस्था में भी क्षेत्रीय पुनर्गठन हुआ है। जो निम्न प्रकार से हैं—

[1] उत्पादन का स्थानिक ढ़ांचा छितरेपन की अपेक्षा अधिक संगठित हो गया।

[2] अर्थ व्यवस्था की स्थितियों में उनकी आधार भूत स्वाभाविक किश्म के कारण अन्तर बढ़ा।

[3] भौगोलिक विशिष्टीकरण एवं स्थानिक विस्तार दोनों के स्तर में वृद्धि हुई।

प्रारम्भिक अवस्था में जबकि परिवहन लागत अधिक थी उत्पादन व वितरण का कार्य करने वाली इकाईयां छितरी हुई थीं, वे धीरे 2 अधिक लाभ के क्षेत्रों में केन्द्रित होने लगी। अतः यातायात के विकास के साथ 2 बाजारी क्षेत्र भी बढ़ते गये। इसी प्रकार पूर्ति के क्षेत्र भी विस्तृत हुये, जिससे कृषि की दृष्टि से अधिक दूरी पर भी उत्पादन लाभप्रद होने लगा। तुलनात्मक लाभ के कारण उत्पादन में विशिष्टीकरण होने लगा। पहले फलों का उत्पादन नगर के निकट होता था, अब यातायात की तेज गति एवं अन्य वैज्ञानिक साधनों के विकास से उन स्थानों में फल उगाये जाने लगे, जहां प्राकृतिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त दशाएँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार यातायात के विकास से भौतक तत्वों का सापेक्षिक महत्व बढ़ता गया। जहां प्रारम्भ में मांग की पूर्ति स्थानीय रूप से होती थी, वहीं अब अधिक उच्च स्तर पर एवं विस्तृत क्षेत्र में आपसी आदान प्रदान होने लगा है। इस प्रकार उत्पादन में विशिष्टीकरण एवं अधिक स्थानिक केन्द्रीयकरण से न केवल आपसी क्रिया बढ़ी, बल्कि इसके परिणाम स्वरूप यातायात में विकास की नई मांग उत्पन्न हुई, क्योंकि पुराना यातायात का जाल अधिक संकीर्ण एवं अनुपयुक्त होने लगा और फिर मांग के अनुसार पुनः नया चक्र शुरू हुआ। (देखिये चित्र संख्या 6.6)।

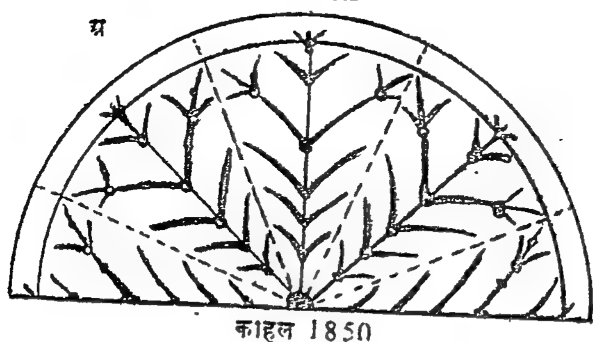


यातायात में विकास के साथ स्थानिक पुनर्व्यवस्था चक्र

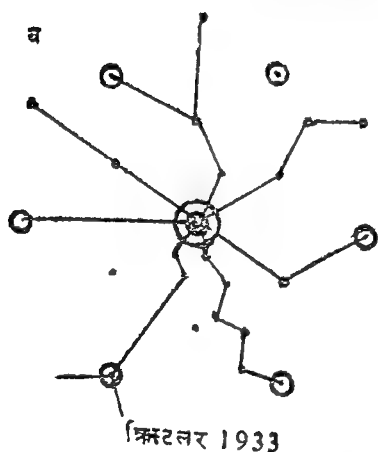
चित्र संख्या 6.6

यद्यपि परिवहन तंत्र आर्थिक भू दृश्य का आवश्यक एवं स्थायी तत्व है लेकिन इसके बारे में वॉन थूइनेन व वेबर जैसे प्रमुख स्थिति-सिद्धान्तवेत्ताओं ने कुछ नहीं बताया। फिर भी 19 वीं शदी के मध्य में जर्मन भूगोल वेत्ता कोल[7] (J. G. Kohl, 1850) ने अपने आदर्श नगर-प्रदेश में बसावों की सेवा के लिये शाखा-जाल (Branching net work) का क्रम तैयार किया जैसा कि

चित्र संख्या 6.7 (अ) में दर्शाया गया है। उसके विचारों को लगभग एक शताब्दी बाद में क्रिस्टलर[8] (1933) ने चित्र ब में अपनी शहरी व्यवस्था में प्रयुक्त किया दोनों में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार है।



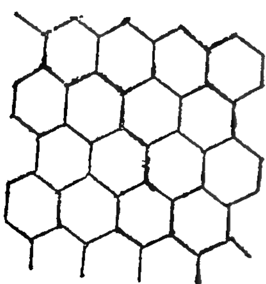
काहल 1850



क्रिस्टलर 1933

(i) परिवहन जाल पदानुक्रमीय है, जिसमें कुछ अधिक प्रयुक्त होने वाले मार्ग होते हैं और कई कम प्रयुक्त होने वाले पोषक मार्ग होते हैं।

(ii) परिवहन जाल शाखा संरचना वाला होता है, जिसमें शाखा-कोण (Branching angle) प्रवाह से सम्वंधित होता है। मुख्य मार्ग और सहायक मार्ग के मध्य का विचलन कोण (Angle of departure) शाखा के आकार के विपरीत सम्बन्ध रखता है अर्थात् अगर मुख्य मार्ग के प्रवाह के अनुपात में शाखा मार्ग पर प्रवाह कम होता है तो विचलन कोण बड़ा होगा।



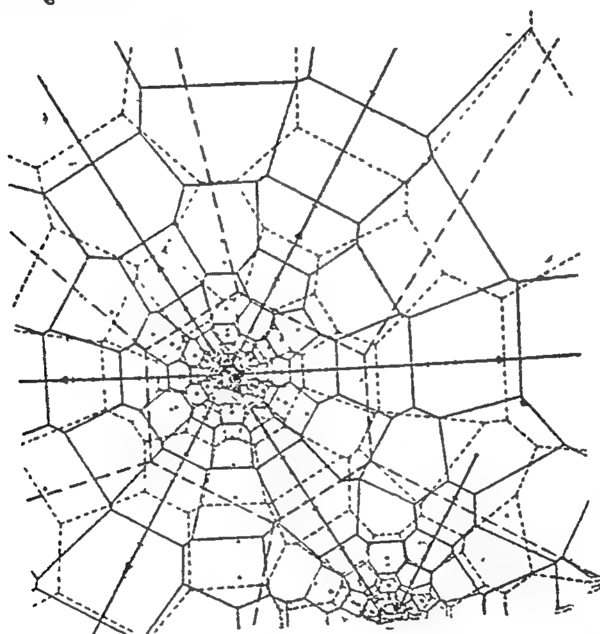
वेक मैन 1952

चित्र संख्या 6.7

(iii) शहर से जाने वाले प्रमुख मार्गों की संख्या भी शोध का विषय रही है। एक आन्तरिक केन्द्र से जाने वाले मार्गों की संख्या वहुधा 6 होती है। वहुत कम शहर तीन से कम व 8 से ज्यादा मार्गों वाले होते हैं।

प्रमुख गणितज्ञ मार्टिन वेकमैन[10] (1952) ने चित्र स में बताया कि अगर एक प्रदेश में

जनसंख्या का घनत्व समान है तथा एक मार्ग बनाने की लागत सर्वत्र समान है, तब आदर्श परिवहन व्यय षट्कोणीय मधु मक्खी के छत्ते के प्रारूप (Hexagenal Honey-comb pattern) की होगी। कोहल व बैकमैन के विचारों में दो मुख्य भिन्नताएँ हैं। (i) कोहल का प्रदेश सीमित (वास्तव में वृत्ताकार) है और केन्द्र में अधिक जनसंख्या का घनत्व है अपेक्षाकृत सीमावर्ती भागों के। जबकि बेकमैन के प्रदेश में सर्वत्र जनसंख्या का घनत्व समान है तथा प्रदेश लगातार है। उसके कोई सीमा नहीं है। (ii) अगर हम बेकमैन के मॉडल को संशोधित करें और उसमें अधिक जनसंख्या का घनत्व सम्मिलित करें तथा वृत्ताकार सीमा बनाये तो यह कोहल के जाल के समान होगा। इन दोनों के मध्य की छूटी हुई कड़ियों को आइजार्ड[11] (1956) ने चित्र संख्या 6 8 में



चित्र संख्या 6.8

दर्शाई है। जहां दो केन्द्रों के सहारे मधु मक्खी के छत्ते की तरह की परिवहन व्यवस्था विकसित हुई है।

सड़कों रेल्वे मार्गों, नहरों आदि के विकसित होने से आर्थिक वृद्धि एवं प्रादेशिक विकास में भी परिवर्तन आये। कुछ क्षेत्रों में इन साधनों का विकास अधिक हुआ, जब कि कुछ में कम। इस प्रकार के आन्तरिक परिवहन के विकास पर अध्ययन टाफे, मॉरिल व गॉल्ड[12] (1963) ने किया। यह नाइजीरिया व घाना में परिवहन के विकास पर आधारित था [साथ ही ब्राजील, ब्रिटिश पूर्वी

अफ्रीका व मलाया के अध्ययन पर आधारित था] इन्होंने क्रमिक रूप से विकास की निम्न अवस्थाएँ वताईं।

प्रथम अवस्था—संकल्पनात्मक प्रदेश के तट पर छितरे हुए छोटे वन्दरगाह व व्यापारिक केन्द्र हैं। प्रत्येक छोटे वन्दरगाह का एक छोटा सा पृष्ट प्रदेश होता है, लेकिन तट के सहारे आपसी सम्पर्क वहुत कम हैं। कभी कभी मछली पकड़ने वाली नौकाएँ व व्यापारियों के आने से सम्पर्क होता है। ऐसी दशा घाना व नाईजीरिया में 15 वीं से 19 वीं शदी तक पाई गई, जहां वहां के मूल निवासी यूरोपीय व्यापारिक केन्द्रों के आस पास फैले थे।*

द्वितीय अवस्था—इस अवस्था में महत्वपूर्ण परिवहन मार्गों का विकास हुआ। ये मार्ग आन्तरिक भागों की ओर विकसित हुये। इनका विकास आन्तरिक भागों में स्थित व्यापारिक केन्द्रों तक हुआ लेकिन विकास में भिन्नता के कारण वन्दरगाह आन्तरिक केन्द्रों की अपेक्षा अधिक विकसित हुये। इससे स्थानीय पृष्ट प्रदेश व कर्णवत् मार्गों का भी विकास हुआ। इसे भी घाना व नाइजीरिया में पाया गया इसके तीन मुख्य कारण वताये।

[1] तटीय प्रशासकीय केन्द्रों को राजनैतिक व सैनिक दृष्टि से आन्तरिक केन्द्र से जोड़ा गया जैसे घाना में राजद्रोहियों के अशान्त क्षेत्र की राजधानी कुमेशी तक पहुंचने के लिये।

[2] शोषण योग्य खनिजों का उपयोग करने के लिये—जैसे नाईजीरिया के एनुगू कोयला क्षेत्र का उपयोग करने हेतु।

[3] कृषि उत्पादनों को निर्यात के लिये प्राप्त करने हेतु - जैसे नाईजीरिया में अक्रा के उत्तरी क्षेत्र से कोको प्राप्त करने के लिये।

यद्यपि मार्गों के विकास में उक्त विभिन्न कारण महत्वपूर्ण रहे, फिर भी अफ्रीकी रेलों के विकास का मुख्य आधार खनिजों का शोषण रहा। कई क्षेत्रों में यह अवस्था अब भी चल रही है।

तृतीय अवस्था—इस अवस्था में सहायक मार्गों का विकास हुआ। यह कार्य वन्दरगाहों व आन्तरिक व्यापारिक केन्द्रों द्वारा व्यापार के हथियाने व

---

* टॉफे, मोरिल व गॉल्ड (1963) द्वारा यातायात के विकास से सम्वन्धित चित्रों की स्वीकृति प्राप्त न होने से पाठक विभिन्न सन्दर्भ-ग्रन्थों में चित्र देख सकते हैं यथा—

1. LLOYD, P E. and DICKEN, P. (1972) Location in space : A theoretical approach to Economic geography. pp 90.
2. HAGGETT, P. et. al. (1977) Locational Models pp. 93.

विकसित करने के कारण हुआ। इन केन्द्रों के मध्य में कुछ नये केन्द्रों का विकास हुआ।

घाना और नाइजीरिया में 1920 से ही इस प्रकार के मार्गों के विकास को विभिन्न मानचित्रों से दर्शाया।

चतुर्थ अवस्था—इस अवस्था में सम्बद्धता और सम्पर्क अधिक बढ़े एवं कुछ क्षेत्रों में मार्गों की सघनता बढ़ी। अधिक महत्व के केन्द्रों के मध्य में अधिक महत्व के मार्गों का विकास हुआ। घाना के दक्षिण में भारी यातायात के मार्गों का विकास इस अवस्था को प्रकट करता है।

इस प्रकार यह मॉडल बहुत उपयोगी है जो यातायात-मार्गों के विकास को स्पष्ट करता है लेकिन इस मॉडल का उपयोग करते वक्त दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(i) पश्चिमी अफ्रीका के बाहर यह कितना उपयोगी है।

(ii) विभिन्न अवस्थाओं में विभाजन कितना तर्क संगत है?

रोस्टोव[13] के मॉडल की तरह ही इस मॉडल का काफी उपयोग किया गया, लेकिन यह मॉडल विकासशील देशों के लिये अधिक उपयुक्त है। इसी तरह विकसित देशों में जहाँ यातायात का जाल पहले ही स्थापित हो चुका है वहां विभिन्न प्रकार की क्षेत्रीय भिन्नताएँ लिये हुए परिवहन का विकास प्रभावित हुआ है। हगेट[14] ने एक विकसित अर्थ व्यवस्था में मार्गों के जाल को अलग प्रकार के मॉडल से स्पष्ट किया।

प्रथम दशा— इस दशा में अच्छा विकसित यातायात का जाल छोटे 2 गांवों को जोड़ता है। इस प्रकार के मार्ग या तो साधारण मार्ग या व्यापारिक मार्ग हो सकते हैं। अविकसित देशों के विपरीत यहां अपेक्षाकृत अधिक सघन सड़कें फैली होती हैं।

द्वितीय अवस्था—पूर्व स्थापित सडकों के जाल पर अधिक उच्च स्तरीय मार्गों का जाल विकसित हो जाता है लेकिन कुछ ही केन्द्रों को सीधा सम्पर्क उपलब्ध होता है। यह प्रदेश की आर्थिक वृद्धि के साथ ही कुछ केन्द्रों को सीधा मार्ग सुलभ होने की अवस्था है।

तृतीय अवस्था—तीसरी अवस्था में आपसी क्रिया अधिक होती है जिससे अधिक उच्च स्तरीय मार्गों का जाल विकसित होता है और कुछ महत्वपूर्ण केन्द्र सीधे मार्गों द्वारा व अधिक सक्षम मार्गों से जोड़ दिये जाते हैं जबकि छोटे और मध्यम केन्द्र उप मार्गों या सहायक मार्गों से जुडे रहते हैं।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी क्षेत्र में यातायात के जाल की सघनता निम्न बातों पर निर्भर करती है:—

[i] उस क्षेत्र या प्रदेश की जनसंख्या का घनत्व,
[ii] उस क्षेत्र या प्रदेश में माल या मनुष्यों के लाने, ले जाने की मात्रा,
[iii] उस क्षेत्र का जनसंख्या का जीवन स्तर,
[iv] पूंजीगत संसाधनों की उपलब्धि,
[v] प्रति स्पर्द्धात्मक व्यवस्था आदि।

भारत में परिवहन जाल के प्रारुप का विश्लेषण मुख्यतः गुणात्मक प्रवृति का है जो परिवहन जाल से बहुत कम सम्बन्धित है। स्मिथ[15] (1968) ने भारत में परिवहन जाल के विकास का मॉडल प्रस्तुत किया। उसने विभिन्न उपलब्ध उपागमों का मिश्रण करते हुए पाया कि केवल सैद्धान्तिक चरों (Variables) यथा–दूरी नगरीय जनसख्या, समीपतम पड़ोसी प्रभाव आदि के आधार पर इच्छित परिणाम प्राप्त नही किये जा सकते हैं। संतोषप्रद परिणाम के लिये कुछ अनुभवाश्रित चरों (Empirical Variables) यथा–जनसंख्या-घनत्व, सैनिक गतिविधियां तथा निर्यात के लिये उत्पादन आदि को सम्मिलित करना महत्वपूर्ण है। स्मिथ का यह मॉडल भारत के रेल्वे जाल के सन्दर्भ मे तैयार किया गया था।

इसी तरह सिंह[16] (1972) ने ग्रामीण परिवहन जाल का मॉडल बिहार के भोजपुर मैदानी भाग के परिवहन जाल के आधार पर प्रस्तुत किया। सिंह ने ग्रामीण यातायात के क्षेत्र व उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए एवं पूर्व में विकसित मॉडलों की समीक्षा करते हुए बताया कि सैद्धान्तिक मॉडलों में पूर्व अनुमानित (कल्पित) दशाओं को स्वीकार किया गया है, जबकि अनुरूपता मॉडल (Simulation model) विभिन्न सांस्कृतिक दशाओं के लिये स्वयं सिद्ध है। वे अन्तः प्रदेशीय परिवहन जाल के लिये कुछ उपयोगी है, लेकिन ग्रामीण परिवहन जाल के लिये उपयोगी नहीं है क्योंकि गांव शदियों पूर्व स्थायित्व प्राप्त कर चुके हैं। अतः सिंह ने कुछ प्रारम्भिक भूमिका के आधार पर अपना मॉडल प्रस्तुत किया।

प्रारम्भिक भूमिका—

(i) केन्द्रीय स्थान यातायात-जाल के लिये केन्द्र विन्दु के रूप में सेवा करते हैं।

(ii) ग्रामीण यातायात इस प्रकार हो कि वह केन्द्र स्थानों की स्थिति के लाभ में वृद्धि करे। यह कार्य नगर या केन्द्र के पृष्ट प्रदेश में स्थित ग्रामों में पहुंच की सुविधाएं प्रदान करने से हो सकता है।

(iii) ग्रामीण यातायात का जाल आवश्यक रूप से सड़कों का जाल है ।

(iv) सड़कें पदानुक्रम में व्यवस्थित होनी चाहिये जो कि उनके मध्यवर्ती केन्द्रों के स्तर से मिलती जुलती हो, जो सभी मौसम में प्रयुक्त स्थानीय ग्रेवल रोड, मेटल्ड रोड हो तथा इसी तरह ऊपर की ओर श्रेणीकृत हो । इन बातों को ध्यान में रखते हुए निम्न मॉडल प्रस्तुत किया—

(i) केन्द्रीय स्थानों, वृद्धि केन्द्रों को पहचानना, उनका पदानुक्रम एवं सम्बन्धित पृष्ट प्रदेश ज्ञात करना ।

(ii) केन्द्रीय स्थानों और गांवों के बीच में इच्छित संचलन रेखाओं को ढूंढना जैसा कि बैलगाड़ी के रास्ते व पगडंडियों के द्वारा बताया गया है ।

(iii) विभिन्न इच्छित संचलन रेखाओं को सम्मिलित करना ताकि अधिकतम दूरी तक अच्छी पहुंच हो ।

(iv) दो या अधिक केन्द्र स्थानों के बीच लम्बे मार्ग को चुनना या दो अन्तः प्रदेशीय सड़कों को मेटल्ड रोड से विकसित करने के लिये जोड़ना ।

(v) धरातलीय घर्षण को ध्यान में रखते हुए इनके प्लान को व्यवस्थित करना ।

(vi) नई सड़कों के जंक्शन पर व शेष ग्रामीण सड़कों पर स्थानीय केन्द्रों के उदय को दृष्टिगत रखना ।

(vii) स्थानीय केन्द्रों को छोटी सड़कों से जोड़ना ।

(viii) उपस्थित मार्गों से साम्य रखते हुए स्थानीय केन्द्रों व गांवो को जोड़ने वाली नई सड़कों को दृष्टिगत रखते हुए उन्हें ग्रामीण सड़कों में बदलना । अर्थात् नई सड़कें इस प्रकार बनाई जाय ताकि वे समय के अनुसार कम से कम खर्च द्वारा विकसित की जा सके ।

यातायात के विकास के कारण यद्यपि स्थानिक दूरियां कम हुई, समय में बचत हुई तथा परिवहन लागत में भी कमी आई लेकिन ये परिवर्तन सर्वत्र समान न होकर कहीं कम तो कहीं ज्यादा हुए । इस प्रकार मार्गों का जाल भी कहीं कम व कहीं अधिक विकसित हुआ, विशेष कर अधिक महत्व के नगरीय केन्द्रों के सहारे अधिक विकास हुआ, जिसके परिणामस्वरूप बीच 2 में कम महत्व के स्थानों पर अन्य केन्द्र विकसित होते गये । यह परिवर्तन विकसित व अर्द्ध विकसित दोनों ही प्रकार की अर्थ व्यवस्था में हुआ ।

संक्षेप में यातायात के विकास के कारण अर्थ व्यवस्था के स्थानिक विस्तार, अर्थ तन्त्रों में आन्तरिक एवं बाह्य आदान प्रदान में वृद्धि, प्रादेशिक विकास की

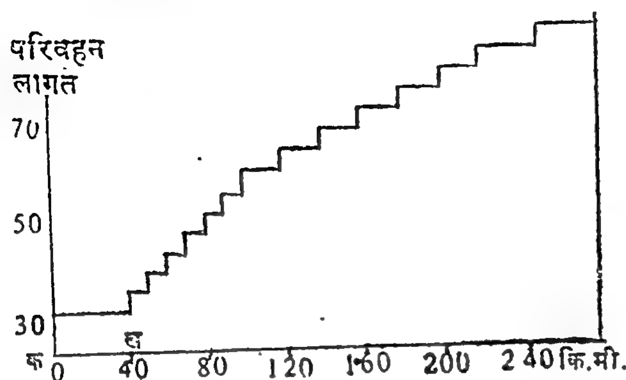
प्रक्रिया का शुरू होना, आदि कई परिवर्तन आये निकट के क्षेत्रों का महत्व कम हो गया क्योंकि उनमें पहुंचने में अधिक समय लगता है जबकि दूर के क्षेत्र अधिक नजदीक आये। जैसे जयपुर से बम्बई पहुंचने में वायुयान से जितना समय लगता है उसकी अपेक्षा जयपुर से भीलवाड़ा पहुंचने में अन्य साधनों से अधिक समय लगता है। जो अधिक निकट हैं।

परिवहन लागत का ढांचा—(The Structure of Transportation Cost)

दूरी बढ़ने पर कम लागत—सरलीकृत आर्थिक भू-दृश्य में हमने देखा कि जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है उसी अनुपात में परिवहन लागत बढ़ती है। जैसे 5 मील पर जितनी परिवहन लागत होती है। 10 मील पर उसकी दुगुनी, 15 मील पर तिगुनी, 20 मील पर चौगुनी व 25 मील पर पांच गुनी परिवहन लागत हो जाती है लेकिन वास्तविक दशाओं में ऐसा नहीं होता है। यह लागत दूरी के अनुपात में नहीं बढ़ती है। इसका मुख्य कारण परिवहन सुविधाओं की स्थिर लागत है जो दूरी से प्रभावित न होकर उस पर होने वाले खर्चों के अनुसार वसूल की जाती है। इस प्रकार के खर्चों में पूंजी पर ब्याज, उपकरणों व यन्त्रों के रख रखाव का खर्च, ह्रास की लागत आदि सभी वसूल की जाती है। इसके अतिरिक्त उतारने चढ़ाने आदि का खर्च भी होता है। कुल मिलाकर प्रतिमील परिवहन लागत दूरी के बढ़ने के साथ 2 आनुपातिक रूप से न बढ़कर गिरती जाती है। अन्य खर्चों से कम दूरी पर लागत अधिक होती है जैसे एक टन माल को 5 कि.मी. दूर ले जाने पर उस पर अन्य खर्चे (परिवहन लागत के अतिरिक्त) उतने ही होते हैं जितने कि उसे 5 के बजाय 100 कि.मी. दूरी पर उतारा जाय। तब अतिरिक्त खर्चे दूरी बढ़ने के कारण उस दूरी पर फैल जाते हैं। एक टन माल पर अन्य खर्चे 5 कि.मी. पर 25 रु० होने पर प्रति मील 5 रु० हो जायेंगे जबकि यही खर्च 100 कि.मी. की दूरी पर मात्र 0.25 रु० ही रह जायेंगे अतः कम दूरी पर परिवहन की कुल लागत ज्यादा होती है जबकि अधिक दूरी पर आनुपातिक रूप से न बढ़कर कम ही बढ़ती है क्योंकि वाहन लम्बी यात्रा के कारण बेकार कम रहता है। इसके विपरीत शहरों में चलने वाले रिक्शा, तांगा, ऑटो रिक्शा अधिक लागत वसूल करते हैं क्योंकि या तो बेकार पड़े रहते हैं या खाली चलते हैं।

दूरी कटिबंधीय परिवहन लागत—लगभग सभी प्रकार की माल-भाड़े की व्यवस्थाएँ दूरी कटिबंधीय लागत वाली होती हैं, जिनमें दूरी बढ़ने के अनुसार लागत दर कम होती जाती है लेकिन यह वक्र रेखा कि तरह नहीं होती है, बल्कि सीढ़ी के समान होती है। प्रत्येक मार्ग के सहारे अलग 2 दर के समूह बन जाते हैं। इसमें प्रत्येक समूह में एक ही प्रकार की माल भाड़े की दर

होती है । उदाहरण के लिये हम एक नियंत्रण विन्दु क मानते हैं चित्र 6.9 में हम क विन्दु से ख विन्दु की दूरी 40 मील पाते हैं इस दूरी में सबसे कम परिवहन लागत है इसके बाद 40 से 100 किमी. की दूरी तक



चित्र संख्या 6.9

प्रति 10 कि.मी. के हिसाब से भाड़ा बढ़ता है फिर आगे 100 से 220 कि.मी. तक की दूरी में प्रति 20 कि.मी. के हिसाब से भाड़ा बढ़ता है इससे परिवहन लागत वक्र रेखा के रूप में न होकर सीढ़ीनुमा होती है इसी प्रकार 40 कि.मी. से पहले वाले भाग में रेलों की अपेक्षा ट्रकों का भाड़ा कम होता है लेकिन आगे यह रेल भाड़े से बढ़ जाता है । जल यातायात की प्रारम्भिक परिवहन लागत ट्रक व रेल से अधिक है लेकिन अधिक दूरी बढ़ने पर कम हो जाती है देखिये चित्र सं. 6.10 ।

परिवहन माध्यमों में प्रतिस्पर्द्धा—जहां केवल एक ही प्रकार का परिवहन साधन होता है वहां उसका एकाधिकार होने के कारण परिवहन लागत ऊंची होती है, लेकिन जहां कई प्रकार के साधन होते हैं वहां आपस में भाड़े की दर में प्रतिस्पर्द्धा होती है । जिसके परिणामस्वरूप परिवहन लागत कम हो जाती है । जैसे शिकागो से न्यूयार्क रेल भाड़े की दर पहले अधिक थी लेकिन जब सेंट लॉरेन्स जहाजी नहर बन गई तो प्रतिस्पर्द्धा बढ़ गई, परिणामस्वरूप कुछ वस्तुओं की भाड़े की दरों में रेलों को कमी करनी पड़ी ।

यातायात की सघनता—जहां मार्गों पर सघन यातायात होता है वहां भाड़े की दर अपेक्षाकृत कम होती है, जहां मार्गों पर यातायात कम होता है वहां पर भाड़े की दर अधिक होती है ।

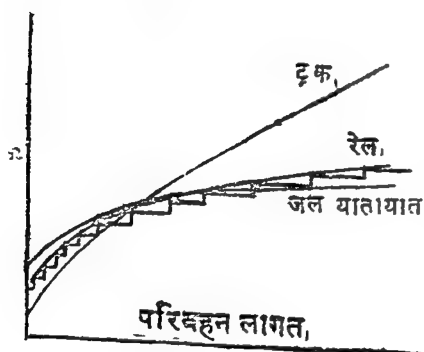
माल ले जाने की दिशा—जहां मार्गों पर जाने व आने दोनों ही दिशा में माल मिलता है वहां भाड़े की दर कम होती है, लेकिन जहां वापसी में खाली आना पड़े तो भाड़े की दर अधिक होती है ।

माल का आयतन—माल जितना हल्का व अधिक आकार का होगा

उस पर भाड़ा उतना ही अधिक होगा व माल जितना भारी व संगठित होगा उस पर लागत सापेक्षिक दृष्टि से कम होगी।

यातायात की मांग का लचीलापन—अधिक मूल्यमान वस्तुएँ अधिक परिवहन लागत सहन कर सकती है जबकि कम मूल्यवान वस्तुएँ कम। क्योंकि अधिक मूल्यवान वस्तुएँ अधिक सुरक्षा एवं सेवा चाहती है, इसलिये अधिक लागत पड़ती है, लेकिन कम मूल्य की वस्तुएँ भी उतना ही खर्च मांगती है लेकिन कभी 2 इन पर लगा हुआ खर्च भी पूरा नहीं लिया जाता है।

खराब होने व खोने आदि को जोखिम—जो माल अधिक टूटने फूटने वाला या जल्दी खराब होने वाला है, जैसे कांच का सामान, सूक्ष्मयंत्र, उपकरण, दूध, सब्जियां या फल आदि। अतः इनको जल्दी पहुंचाने के लिये या सुरक्षित पहुंचाने में खर्च बढ़ जाता है। इनकी पेकिंग भी खर्चे को बढ़ा देती है या इन्हें विशेष उपकरणों से भेजा जाता है जैसे रेफ्रिजीरेशन से। अतः इनके लिये विशेष प्रकार की सेवाएँ उपलब्ध करानी पडती हैं व इनका खर्च बढ़ जाता है, इसके अतिरिक्त ले जाने वाले की विश्वसनीयता (साख) भी परिवहन लागत को बढ़ा देती है।



चित्र संख्या 6.10

यातायात का माध्यम-यातायात के माध्यम का भी परिवहन लागत पर प्रभाव पड़ता है। सड़क परिवहन कम दूरी के लिये, रेल परिवहन मध्यम दूरी के लिये व जल यातायात लम्बी दूरी के लिये सस्ता होता है। देखिये चित्र 6.10।

यातायात के साधन का आकार—एक सीमा तक वाहन के आकार व परिवहन लागत में भी निश्चित सम्बन्ध होता है। अलग 2 प्रकार के साधनों में इससे पैमाने की बचतें भिन्न 2 रूप से प्राप्त की जाती है। एक लाख टन ड्रॉट के एक टेंकर में प्रति टन किलोमीटर लागत 16000 टन ड्रॉट के टेंकर की 38% ही होती है। संक्षेप में परिवहन लागत—

(1) दूरी पर निर्भर करती है,

(2) गति पर निर्भर करती है,

(3) सुरक्षा, पेकिंग, चेकिंग व चढ़ाने उतारने पर निर्भर करती है,

(4) माल ले जाने वाले साधन पर निर्भर करती है।

(5) मार्ग जिस पर माल ढ़ोया जाता है उस पर निर्भर करती है। यह निम्न बातों पर निर्भर करता है—

[a] मार्ग की दूरी जिस पर माल ले जाना है।

[b] माल ले जाने वाले यातायात के साधन पर,

[c] मार्ग में आने वाली बाधाओं पर,

[d] माल की प्रकृति पर।

सस्ता परिवहन निम्न बातों पर निर्भर करता है—

(1) बिना बाधा के लम्बी दूरी तक परिवहन,

(2) माल ले जाने वाले साधन का बड़ा आकार,

(3) जहां तक संभव हो लम्बे व समतल मार्ग का उपयोग,

(4) लाने व ले जाने में दोनों तरफ से पूरा माल उपलब्ध होना,

(5) समय का महत्व न हो।

यातायात में तेज गति निम्न प्रकार से प्राप्त की जा सकती है—

(1) नये व आधुनिक शक्तिशाली वाहनों का उपयोग करने से,

(2) दोहरे मार्ग बनाने से,

(3) भरपूर माल की उपलब्धि, ताकि समय पर माल पहुंच सके,

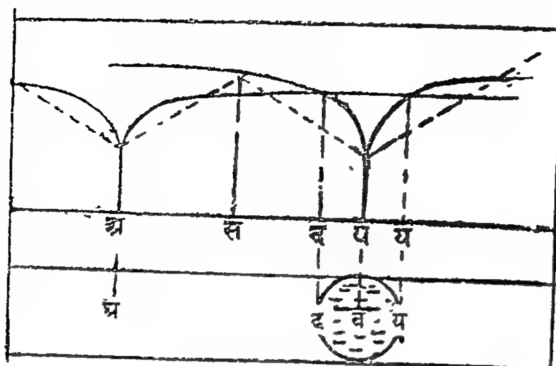
(4) इलेक्ट्रोनिक उपकरणों की सहायता,

(5) माल पहुंचाने के स्थान पर उपलब्ध सुविधाओं से।

आर्थिक गतिविधियों की स्थिति पर परिवहन लागत का प्रभाव

परिवहन-लागत विशेषकर माल भाड़े की दर व उसका दूरी से सम्बन्ध अधिक जटिलताएँ उत्पन्न करता है जो कि अब तक बताये गये स्थानीयकरण के प्रारुप को प्रभावित करता है। अधिक दूरी तक माल ले जाकर डालने की प्रवृत्ति से, कम दूरी की अपेक्षा अधिक दूरी तक माल ले जाया जाता है इससे अधिक दूरी पर माल खरीदने व बेचने के कारण बाजार भी विस्तृत होता है एवं माल की पूर्ति का क्षेत्र भी विस्तृत होता है। इस प्रवृत्ति से धीरे 2 उत्पादक अपने प्रतिद्विन्दी के बाजारी क्षेत्र को भी आक्रान्त करने लगता है। चित्र 6.11 के अनुसार अगर परिवहन लागत दूरी के अनुपात में है तो अ और ब के मध्य का बाजारी क्षेत्र स तक होगा लेकिन अगर वास्तविक परिवहन लागत के अनुसार देखा जाय तो परिवहन लागत, दूरी की वृद्धि के अनुपात में कम होती जाती है।

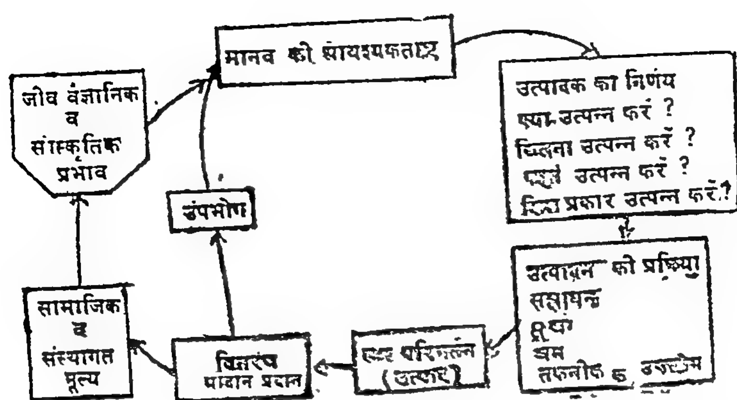
तो अ अपने बाजारी क्षेत्र को द तक पहुंचा सकता है और अपने मूल्यों को गिराकर य तक पहुंचा सकता है जबकि ब का बाजारी क्षेत्र एकाकी रह जायगा। यद्यपि ब, अ की अपेक्षा उस क्षेत्र में अधिक निकट है फिर भी ब का बाजारी क्षेत्र द ब य के मध्य सीमित रह जायगा। यहां हम वेबर के अनुसार विचार करें तो पाते हैं कि कम दूरी पर या माल के स्रोत व बाजार के मध्य उद्योग स्थापित करते हैं तो कम दूरी के कारण भाड़े की दर अधिक हो जायगी जबकि लम्बी दूरी पर माल ले जाने पर वास्तव में लागत कम पड़ेगी।



चित्र संख्या 6.11

उत्पादन लागत
(PRODUCTION COST)

उत्पादन की प्रक्रिया मानव की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से शुरू होती है। मानव की आवश्यकताएें जीव वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक कारणों से उत्पन्न होती हैं जिसके कारण ही उत्पादन-प्रक्रिया का आधार तैयार होता है। उत्पादक विभिन्न प्रकार के निर्णय लेता है कि उसे क्या उत्पन्न करना है ? कितनी मात्रा में उत्पादन करना है ? किस प्रकार से उत्पादन करना है ? और कहां पर (स्थिति) उत्पादन करना है ? तब वह विभिन्न उत्पादक तत्वों को उत्पादन-प्रक्रिया में लगाता है। इसमें प्राकृतिक संसाधनों, पूंजी, श्रम व तकनीकी ज्ञान का उपयोग करता है, जिससे लागत तत्वों का रुपान्तरण होकर उत्पादन होता है यह उत्पादन उपभोक्ताओं को वितरित किया जाता है जो इसका उपभोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये करते हैं, लेकिन वितरण एवं उपभोग सामाजिक व अन्य संस्थागत मूल्यों पर व उत्पादित वस्तु की अच्छाई या बुराई पर निर्भर करता है। उत्पादक की रूचि, सामाजिक व संस्थागत मूल्यों को प्रभावित करती है। जिससे मानव की इच्छा व मांग भी प्रभावित होती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रक्रिया बड़ी जटिल है। जो उत्पादन, वितरण एवं उपभोग की पारस्परिक, निर्भरता को स्पष्ट करती है। इस सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया को चित्र संख्या 6.12 द्वारा सरल रूप में स्पष्ट किया गया है।



चित्र संख्या 6.12

जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि वस्तु की उत्पादन लागत में कुल परिवहन लागत एवं उत्पादन-प्रक्रिया की लागत सम्मिलित होती है। पिछले पृष्ठों में हमने परिवहन लागत का प्रतिरूप व उसके अर्थ व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया। यहां हम उत्पादन-प्रक्रिया जन्य लागत का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

किसी भी उत्पादन व्यवस्था में किसी भी वस्तु का उत्पादन, विभिन्न लागत तत्वों को साथ लाने की प्रक्रिया है। ये सभी लागत तत्व सम्मिलित रूप में रूप परिवर्तन कर उत्पाद बनते हैं। दूसरे शब्दों में लागत तत्वों को (Inputs) जिस प्रक्रिया से उत्पाद में बदला जाता है उसे उत्पादन प्रक्रिया या उत्पादन का कार्य कहते हैं। इसे संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

उ = सं श्र. पूं. त.

उ = व्यवस्था का उत्पादन

सं. = सभी प्रकार के भौतिक संसाधन

श्र = उत्पादन-प्रक्रिया में काम में लिया गया श्रम

पू. = उत्पादन प्रक्रिया में लगी पूंजी

त = उत्पादन-प्रक्रिया में अपनाई गई तकनीक या विधि

इस प्रक्रिया का परिणाम उत्पादन होता है, जिसमें श्रम, पूंजी, तकनीकी ज्ञान, संसाधनों का समिश्रण है। इसके फलस्वरूप वस्तु का मूल्य परिवर्तित होता है। यह एक बहुत ही सरलीकृत सूत्र है, लेकिन इसके विभिन्न अंग अत्यन्त जटिलताओं से युक्त है इसलिये इनका सम्मिलित प्रभाव और भी अधिक जटिलतम हो जाता है। यहां हम इन सभी तत्वों का अलग-अलग विस्तृत अध्ययन करेंगे।

1. **भौतिक संसाधन**—यहां संसाधनों से तात्पर्य भूमि व भूमि पर उपलब्ध सम्पूर्ण संसाधन है जैसे चट्टानें, मिट्टियां, खनिज, जल, वनस्पति, प्राणी वर्ग, विभिन्न गैसे आदि प्राकृतिक रूप से उपलब्ध हैं। हमने अध्याय 5 के अध्ययन में पाया कि वास्तविक दशाओं में उपलब्ध भौतिक संसाधनों की किस्म एवं उनके वितरण में काफी विषमता पाई जाती है। इनका प्रभाव उद्योगों व कृषि उत्पादन की अर्थ व्यवस्था की स्थिति को एवं उत्पादन को भी नियंत्रित करता है। कृषि उत्पादन में भूमि संसाधन गति हीन है लेकिन इसका उपयोग उतना ही विविधता लिये हुए है। उद्योगों में काम आने वाले संसाधन अधिक विविधता वाले हैं, अतः उनका प्रभाव अर्थ व्यवस्था पर उतना ही अधिक विभिन्नताओं से युक्त है। इन तत्वों को एकत्रित करने व उत्पादित वस्तु को बाजार तक पहुंचाने में परिवहन लागत महत्वपूर्ण होती है। इसका प्रभाव अर्थ-व्यवस्था पर स्पष्ट देखा जा सकता है। भौतिक संसाधनों का एक दूसरे के साथ भिन्न 2 रूप से संयोजन करने पर इसका, प्रभाव उत्पादन प्रक्रिया, उत्पादन लागत, उत्पादन एवं उत्पादन व्यवस्था की स्थिति पर भिन्न 2 रूप में देखा जा सकता है। यहाँ सरलीकृत मॉडल की तरह सभी दशाओं को समान मान कर चलते हैं और प्रत्येक तत्व के अध्ययन के लिये इन सीमाओं को हटाकर स्थिति पर पड़ने वाले प्रभाव को देखते हैं। सबसे पहले हम श्रम का अध्ययन करेंगे।

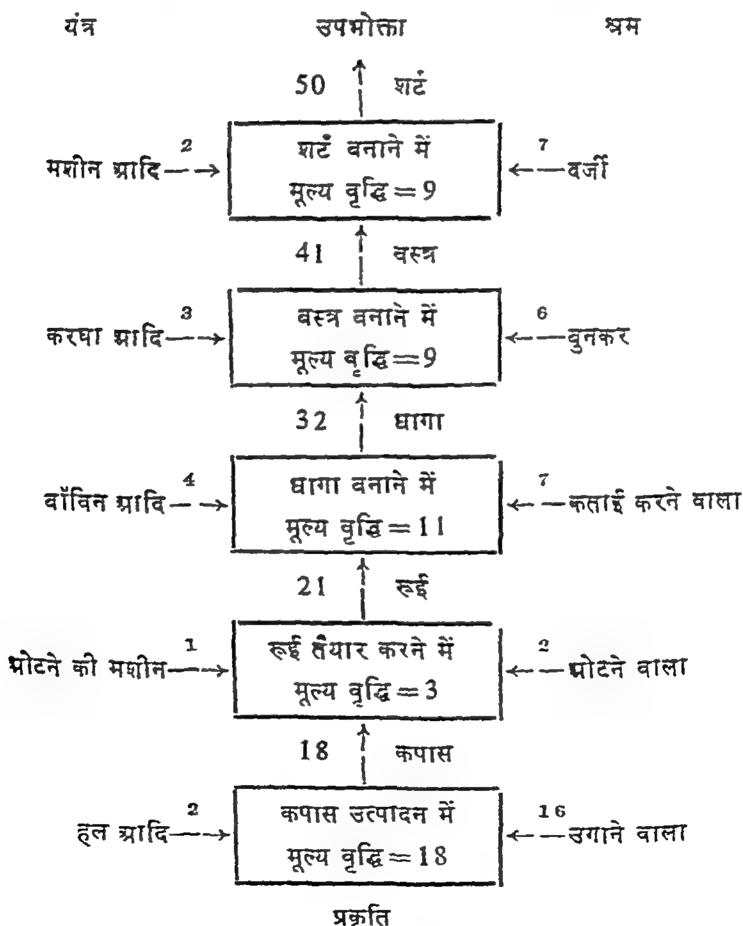
श्रम
(Labour)

सभी प्रकार की मानवीय गतिविधियों में श्रम आवश्यक है लेकिन यह अलग 2 प्रकार की आर्थिक गतिविधियों में अलग 2 दशाओं में भिन्न 2 प्रकार का होता है। एक ही प्रकार की आर्थिक गतिविधि में भी उसके आकार के अनुरूप श्रम में भिन्नता पाई जाती है। कहीं एक दो व्यक्तियों की आवश्यकता होती है तो कहीं पर कई व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। जैसे 2 अर्थ-व्यवस्था का आकार (स्तर) बड़ा होता जाता है श्रम के विभाजन की प्रक्रिया चालू रहती है और श्रम की आवश्यकता अधिक स्पष्ट होती जाती है।

श्रम के कारण वस्तुओं का मूल्य भिन्नता लिये होता है। वास्तव में किस प्रकार एक वस्तु का मूल्य परिवर्तित होता है, यह एक शर्ट (कमीज) के उत्पादन के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार कपास उत्पादन से लेकर उपभोक्ता तक पहुंचने में श्रम की लागत जुड़ती जाती है।

सामान्य रूप में प्राकृतिक सुविधाओं की उपलब्धि में कपास के बीज उगाये जाते हैं। कपास के उत्पादन में हल की आवश्यकता होती है जिसे मनुष्य प्रकृति से प्राप्त लकड़ी से तैयार करता है। मान लीजिये कि एक निश्चित मात्रा

में कपास उगाने के लिये 16 घंटे श्रम की आवश्यकता होती है तथा हल का उपयोग होने से उसका मूल्य ह्रास 2 घंटे लगता है तब कपास उत्पादन का श्रम मूल्य 16+2=18 घंटे होगा। अब अगर कपास से रूई बनाई जाती है तो ओटने का श्रम 2 घंटे व मशीन का ह्रास मूल्य 1 घंटा, कुल 21 घंटे होगा। रूई की कताई की जाती है तो इसमें 7 घंटे और लगेंगे तथा 4 घंटे कताई की मशीन के मूल्य ह्रास के होंगे। तब धागे का मूल्य 32 घंटे होगा। कताई के 11 घंटों में 18 घंटे कच्ची कपास का मूल्य जुड़ जायेगा तब धागा बुनकर को भेजा जायगा बुनकर के बुनाई का समय 6 घंटे व उसके करघे का मूल्य ह्रास 3 घंटे और जुड़ जायगा, तब बुने हुए वस्त्र का मूल्य कुल 41 घंटे हो जायगा,



(संख्याएँ श्रम के घंटे प्रदर्शित करती है)

चित्र संख्या 6.13

तब शर्ट बनाने वाले का समय 5 घंटे व उसकी मशीनों आदि का मूल्य ह्रास के 2 घंटे और जुड़ जायेंगे। इस प्रकार कुल मूल्य 50 घंटे हो जायेगा। अगर एक श्रम घंटे का मूल्य एक रुपया हो तो इस प्रकार सम्पूर्ण शर्ट पर 50 रुपये की लागत आयेगी। इस प्रकार शर्ट का मूल्य इसके उत्पादन में आवश्यक श्रम की मात्रा को स्पष्ट करता है। देखिये चित्र 6.13।

श्रम का स्थानिक-प्रति रूप—सामान्यतः श्रम का क्षेत्रीय वितरण असमानता लिये होता है। अगर हम कल्पना करें कि श्रम सभी स्थानों पर असीमित रूप से, समान मात्रा में, समान क्षमता वाला है, तब यह अर्थ व्यवस्था के स्थानीयकरण पर कोई प्रभाव नहीं डालता है। वास्तविक दशाओं में हम श्रम का असमान वितरण पाते हैं तथा क्षेत्रीय दृष्टि से श्रम की आवश्यकता भी भिन्नता लिये होती है। मानव की प्रवृत्ति किसी स्थान विशेष पर समूहन की होती है. अतः किसी स्थान विशेष पर प्रारम्भिक शुरुआत के लाभ से व विशाल पैमाने पर उत्पादन की बचतों के कारण, वहां विशेप प्रकार के श्रम की मांग स्थानीय रूप से उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार पूर्ति में भी भिन्नता पाई जाती है। बदलते समय के अनुसार श्रम की मांग एवं पूर्ति में बहुत अधिक परिवर्तन आये हैं। यह परिवर्तन अन्य स्थिति निर्धारक तत्वों-संसाधन, पूंजी, उत्पादन का पैमाना, मांग और पूर्ति–की अपेक्षा श्रम के क्षेत्र में अधिक आये हैं। इसके फलस्वरूप विश्व के कई देशों में नियोजन व बेकारी की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। अतः इन समस्याओं को हल करने के लिये निर्णय इस प्रकार लेने चाहिये जो श्रम की मांग व पूर्ति के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित हों। श्रम की मांग और पूर्ति के मध्य भिन्नता मुख्यतः उत्पादन की मांग, उत्पादकता–लागत एवं श्रम की गतिशीलता के तत्वों से सम्बन्धित है। वास्तविक दशाओं में श्रम का हम असमान वितरण देखते हैं लेकिन अगर यह असीमित या अबाध रूप से गतिशील है तब यह भी स्थानीयकरण पर कोई प्रभाव नहीं डालता है क्योंकि मांग के क्षेत्र पर पूर्ति के क्षेत्रों से पूर्ति होने पर संतुलन की दशा आ जायगी।

वास्तविक दशाओं में श्रम न तो असीमित रूप से गतिशील है और न ही उसकी कुशलता व क्षमता में समानता होती है। इसी के कारण यह अर्थ व्यवस्था के स्थानीयकरण पर प्रभाव डालता है।

मांग का स्तर—किसी भी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में मांग का स्तर श्रम की मांग व पूर्ति को प्रभावित करता है। किसी वस्तु के उत्पादन में परिवर्तन, उत्पादकता में परिवर्तन की मांग से आता है। इसके लिये श्रमिकों की संख्या में परिवर्तन करना होता है। इसी प्रकार अगर किसी क्षेत्र में श्रम की

कमी होने पर तालाबन्दी होती है, तो श्रम की पूर्ति व बेकारी बढ़ जाती है, जिसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है।

प्रत्यक्ष परिवर्तन—किसी भी क्षेत्र में नियोजन का स्तर उस क्षेत्र के उत्पादन पर निर्भर करता है। अब अगर किसी क्षेत्र में मांग के स्तर की पूर्ति के लिये अतिरिक्त श्रम की आवश्यकता है तो इसे श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करके पूरा किया जा सकता है या अस्थाई रूप से समयोपरि (Overtime) या अल्प समय (Short time) कार्यकर्त्ता लगाये जा सकते हैं। कई फर्मों में समयोपरि कार्य करना एक 'स्तर' माना जाता है। क्योंकि श्रम की मांग में उतार चढ़ाव के समय अतिरिक्त श्रम की नियुक्ति, सर्वोपरि श्रम की अपेक्षा मंहगी होती है क्योंकि—

(1) वेतन के अलावा बीमा, चिकित्सा, बोनस, प्रॉविडेण्ट फण्ड आदि देने पड़ते हैं। (2) इसीप्रकार आकस्मिक रूप से जैसे कृषि में फसल काटने के समय, छुट्टियों में जाने वाले कर्मचारियों के समय में, निर्माण कार्यों में पूरे समय कार्य करने वाले श्रमिकों को कुछ निश्चित समय तक नियुक्ति दी जा सकती है। (3) आधार अशंकालिक आकस्मिक श्रम हो सकता है जैसे प्रतिदिन का हिसाब का लेखा जोखा रखने वाले, सफाई करने वाले, पानी भरने वाले कुछ समय के लिये अलग 2 नियुक्त किये जा सकते हैं।

अप्रत्यक्ष परिवर्तन—प्रत्येक आर्थिक गतिविधि अन्य कई गतिविधियों से सम्बन्धित होती है व उन पर निर्भर भी होती है। अतः उनमें होने वाले परिवर्तन भी श्रम के स्वरूप को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।

श्रम की लागत में भिन्नता—वास्तविक दशाओं में श्रम की लागत में काफी भिन्नता पाई जाती है। यह मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करती है।

(अ) वेतन, मजदूरी व अन्य सुविधाएें,

(ब) उत्पादन क्षमता

उक्त दोनों बातें स्थानिक रूप से काफी असमानता लिये हुये है। साथ ही इनमें समय, स्थान व परिस्थिति के अनुसार भिन्नता पाई जाती है। ये दोनों ही श्रम की लागत को वहुत प्रभावित करते हैं। अगर हम सरलीकृत मॉडल में देखें तो हमें केन्द्रीय स्थान व अन्य स्थानों पर श्रम की मांग में भिन्नता मिलती है। इसी प्रकार श्रम की पूर्ति में भी सामाजिक, आर्थिक व मानवीय कारणों से काफी विविधताऐं मिलती हैं। येह श्रम के सस्ते व मंहगे, उत्पादक व अनुत्पादक, कुशल व अकुशल, स्त्री श्रमिक व पुरुष श्रमिक के रूप में होती है। इसी प्रकार उत्पादन क्षमता भी स्थान, समय, सामाजिक व आर्थिक स्तर के कारण काफी जटिलता लिये होती है।

वेतन एवं मजदूरी—स्थानिक दृष्टि से श्रम की मांग एवं पूर्ति में काफी भिन्नता पाई जाती है । । इसी कारण वेतन एवं मजदूरी में भी भिन्नता पाई जाती है, जबकि मांग एवं पूर्ति में असंतुलन होता है । अगर श्रम की गतिशीलता में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है, तो यह असंतुलन थोड़े समय के लिये होता है और शीघ्र ही यह असंतुलन समाप्त हो जाता है । लेकिन श्रम असीमित रूप से गतिशील नहीं होता है । यद्यपि इस सदी में श्रम का स्थानान्तरण कम मजदूरी के ग्रामीण क्षेत्रों से अधिक मजदूरी के नगरीय क्षेत्रों की ओर हुआ है लेकिन इसके लिए कुशलता आवश्यक है । अन्यथा इस प्रकार की श्रम की गतिशीलता, मजदूरी के अन्तर को कम नहीं कर पाती है । फिर भी लम्बी दूरी की श्रम की गतिशीलता, काफी जटिल व्यवहार को बताती है । अतः वेतन और मजदूरी की स्थानिक भिन्नता निम्न बातों पर निर्भर करती है ।

(1) श्रम उत्पादन का गतिशील तत्व नहीं होता है ।

(2) औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन की मांग में आय का लचीला पन ।

(3) श्रम के अनुपात में पूंजी लगाने की भिन्नता ।

(4) श्रमिकों की उत्पादकता में भिन्नता ।

(5) श्रमिकों का भिन्न 2 जीवन स्तर ।

उत्पादकता—ये सभी तत्व स्थानिक रूप से वेतन एवं मजदूरी में भिन्नता लाते हैं । यह भिन्नता प्रदेशों में ही नहीं, क्षेत्रों में, राज्यों में शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में व यहां तक कि एक ही नगर या ग्राम में भी पाई जाती है । इसी कारण वेतन व मजदूरी के स्तर में भिन्नता पाई जाती है लेकिन एक उद्योगपति के लिये श्रम की लागत उतनी महत्वपूर्ण नहीं है, जितनी कि श्रमिकों की उत्पादन क्षमता । अगर नगर अ में ब की अपेक्षा मजदूरी 5% कम है लेकिन अगर ब के श्रमिकों की उत्पादन क्षमता अ की अपेक्षा 10% अधिक है तब उद्योगपति अधिक मजदूरी के स्थान पर उद्योग स्थापित करेगा । लेकिन उत्पादन क्षमता की भिन्नता स्थायी नहीं होती है । यह व्यवस्थापक की कार्य कुशलता, उपकरणों एवं यन्त्रों की श्रेष्ठता व प्रशिक्षण की भिन्नता के कारण होती है । ऐसी स्थिति में प्रशिक्षण-कार्यक्रमों द्वारा उत्पादन क्षमता बढ़ाई जा सकती है. लेकिन इन कार्यों से भी श्रम की लागत बढ़ती है ।

उत्पादकता को प्रभावित करने वाले तत्व—

(1) प्राचीन काल में जबकि अधिक दूरी तक श्रम का स्थानान्तरण संभव नहीं था, तब दूर से आने वाले श्रमिकों की उत्पादकता कम होती थी ।

(2) श्रमिकों को अगर समय पर भोजन आदि की पूर्ति होती है, तो उत्पादकता ठीक रहती है अन्यथा उत्पादकता घट जाती है।

(3) स्त्री मजदूरों की अपेक्षा पुरुष मजदूरों की उत्पादन क्षमता अधिक होती है।

(4) श्रमिकों का शिक्षा स्तर भी उत्पादकता को प्रभावित करता है, शिक्षित श्रमिक की उत्पादन क्षमता अशिक्षित श्रमिक की अपेक्षा अधिक होती है।

(5) जहां औद्योगिक सम्बन्ध अच्छे हैं अर्थात् मालिक व मजदूरों के मध्य अच्छे सम्बन्ध हैं, उत्पादकता अधिक होगी।

(6) **मशीनीकरण** प्रत्येक श्रमिक द्वारा किये गये प्रत्यक्ष-प्रयत्नों से ही उत्पादकता नहीं बढ़ती है, यद्यपि यह एक सहायक कारण है। प्रत्येक श्रमिक की उत्पादन क्षमता श्रम विभाजन व विशिष्टीकरण द्वारा बढाई जा सकती है लेकिन अधिकतम उत्पादकता तकनीकी खोजों के उपयोग से बढ़ती है व इससे प्रति इकाई लागत कम होती है।

(7) **स्थानापन्नता**—बहुत से कार्यों में श्रमिकों की जगह मशीनें महंगी पड़ती हैं क्योंकि मशीनों द्वारा न्यूनतम स्तर पर उत्पादन महंगा पड़ता है, अतः वहां मशीनें उपयुक्त नहीं हैं। वहां श्रमिकों की उत्पादकता महत्वपूर्ण है।

(8) **श्रमिक संघ**—जहां श्रमिक संघ बने होते हैं वहां उत्पादन क्षमता कम पाई जाती है, क्योंकि—

[क] श्रमिक बार 2 अनुपस्थित रहते हैं,
[ख] उत्पादन तकनीक में परिवर्तन का बिरोध करते हैं,
[ग] कार्य के घंटों में कमी की मांग करते हैं,
[घ] अधिक मजदूरी की मांग करते हैं,
[ङ] आर्थिक सुरक्षा की मांग करते हैं,
[च] तालाबन्दी, हड़तालें व संघर्ष की दशाएं उत्पन्न होती रहती हैं, तथा
[छ] रात्रि में स्त्री श्रमिकों की नियुक्ति पर नियंत्रण।

इस प्रकार श्रम की मांग को कई तत्व प्रभावित करते हैं जिसके कारण क्षेत्र विशेष या प्रदेश विशेष में श्रम की मांग में विविधता पाई जाती है। यही क्रम श्रम की पूर्ति में भी देखने को मिलता है।

श्रम पूर्ति की दशाएं—जहां पर्याप्त मात्रा में विविध प्रकार का श्रम उपलब्ध है वहां विभिन्न प्रकार के श्रम की मांग की पूर्ति हो जाती है। अतः

मांग की पूर्ति के लिये श्रम का स्थानान्तरण होता है। कुछ स्थानों पर विशेष प्रकार का श्रम उपलब्ध होता है। अतः उससे सम्बन्धित अर्थ व्यवस्था की वहाँ स्थापना संभव हो जाती है। महानगरों में उपलब्ध श्रम अपनी अलग विशेषता रखता है, वहां कुशल-अकुशल, स्त्री-पुरुष, स्थायी-अस्थायी, सभी प्रकार का श्रम उपलब्ध होता है। आस पास के क्षेत्र में भी विविध प्रकार के श्रम की उपलब्धि से श्रम की पूर्ति होती है। अतः श्रम आंशिक रूप से गतिशील है, लेकिन अबाध रूप में गतिशील नहीं है क्योंकि—श्रम की अबाध गतिशीलता को कई तत्व सीमित करते हैं—

(1) मानव की प्रवृत्ति परेशानी व जोखिम कम से कम उठाने की होती है। श्रम के स्थानान्तरण की दशा में नये मकान ढूंढना, अच्छे पड़ोसी, अच्छे स्कूल, अच्छी सामाजिक सुविधाएं छोड़ना स्थानान्तरण के प्रति अनाकर्षण पैदा करती है।

(2) उपलब्ध पद या वरिष्ठता खोने के डर से।

(3) अधिक आय के आकर्षण के विरुद्ध बढ़ी हुई दूरी का खर्च अरुचि पैदा करता है।

(4) यह व्यक्ति विशेष की जानकारी या सूचनाओं पर भी निर्भर करता है जो उसकी आयु, सामाजिक–आर्थिक व शैक्षिक स्तर, आदि पर निर्भर करता है।

(5) प्राप्त सूचनाओं के मूल्यांकन पर भी श्रम का स्थानान्तरण निर्भर करता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा मूल्यांकन अलग 2 रूप में होता है, इसका प्रभाव भी स्थानान्तरण पर पड़ता है।

अतः केवल अधिक मांग के स्थानों पर अधिक वेतन मिलने मात्र से ही श्रम गतिशील नहीं होता है बल्कि वास्तविक दशाओं में श्रम बहुत कम मात्रा में व सीमित दशाओं में ही गतिशील है। लोकनायन्[17] (1931) ने भारतीय उद्योगों की समस्याओं की ओर भूगोल वेताओं का ध्यान आकर्षित किया। उसने द. भारत में श्रम के स्थानान्तरण की समस्या का अध्ययन करते हुए पाया कि द. भारत में ग्रामीण जनसंख्या में कम जोखिम उठाने की प्रवृत्ति एवं परम्परागत लड़त्व के कारण स्थायी किस्म का स्थानान्तरण कम होता है।

उद्योगों में श्रम का बहुत महत्व है। कुछ उद्योगों में उत्पादन की कुल लागत का 35% से लेकर 90% तक भाग होता है तथा कुछ में विशेष किस्म का श्रम चाहिये। अतः श्रम का अर्थ व्यवस्था के स्थानीयकरण पर प्रभाव अवश्य पड़ता है।

वेवर[18] ने श्रम के महत्व को पहचाना और इसी के आधार पर उसने विभिन्न उद्योगों में श्रम के प्रति दृष्टिकोण को नापने की चेष्टा की है। उसका श्रम लागत सूचकांक (Labour cost index) प्रति इकाई उत्पादन की मात्रा में औसत रूप में लगने वाले श्रम की लागत को व्यक्त करता है। इस प्रकार उच्च श्रम लागत सूचकांक वाले उद्योग सामान्यत: श्रम लागत की स्थानिक भिन्नताओं से अधिक प्रभावित होते हैं, जबकि कम श्रम लागत सूचकांक वाले कम प्रभावित होते हैं। उद्योगों की स्थिति पर श्रम का प्रभाव अन्य तत्वों के स्थानीयकरण के प्रभाव के प्रति इसके सापेक्षिक भार (महत्व पर) निर्भर करता है। अत: वेवर की भाषा में इसे श्रम गुणांक (Labour coefficient) कहते हैं, जो कि अन्य तत्वों के स्थानीयकरण भार (महत्व) से श्रम सूचकांक के अनुपात पर निर्भर हैं।

लेकिन वेबर के सैद्धान्तिक स्वरूप की अपेक्षा वास्तविक दशाओं में श्रम का स्थानीयकरण के रूप में महत्व अधिक जटिल है। भूतकाल में जेवर, कपड़ा, सूक्ष्म यन्त्र, एवं अन्य कई प्रकार के उद्योग कुशल श्रम के स्थानों प्रर ही स्थापित हुये और वहीं पर बने रहे। लेकिन वर्तमान युग में वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के कारण श्रम का विभाजन हो गया है। साथ ही यांत्रीकरण के कारण कम कुशल श्रमिक भी वैसा ही कार्य कर लेते हैं; लेकिन अब भी श्रम की विश्वसनीयता एवं उत्पादन क्षमता कुछ उद्योगों की स्थिति के चयन में आकर्षण के महत्वपूर्ण कारक है। अत: यांत्रीकरण के बावजूद भी श्रम का महत्व कम नहीं हुआ है, लेकिन समय के साथ विभिन्न उद्योगों में श्रम अलग 2 रूप में प्रभावित हुआ है। आज श्रम पर आधारित उद्योगों की स्थिति भिन्न 2 प्रकार की हो सकती है जो इस प्रकार है –

(1) मजदूरी पर आधारित (2) श्रम की उत्पादकता पर आधारित
(3) श्रम की पूर्ति पर आधारित

पून्जी
(CAPITAL)

मानव द्वारा निर्मित वे सभी वस्तुएँ जो स्वयं के लिये नहीं बल्कि अतिरिक्त उत्पादन के लिये काम में ली जाती है पून्जी कहलाती है। इसमें यन्त्र, मशीनें उपकरण आदि सभी आते हैं। इस प्रकार पून्जी के तीन लक्षण है—*

* "Capital is defined as all those man-made aids to further production such as tools, machinery, plant and equipment, including everything man–made which is not consumed for its own sake but which is used up in the process of making other goods." Lipsey, R. G. (1963) An introduction to positive economics, weidenfeld & Nicholson, London. pp. 38.

(1) यह सदा मानव द्वारा निर्मित होती है,

(2) पूञ्जी में वे ही वस्तुएँ सम्मिलित हैं जो धन हैं,

(3) सारा धन पूञ्जी नहीं होता बल्कि धन का जो भाग आगे और उत्पादन में सहायक होता है पूञ्जी कहलाता है ।

अतः पूञ्जी उत्पादन कार्य की कुञ्जी है । पूञ्जी आय से बनती है । कोई समय था जब केवल लाभ को ही पूञ्जी माना जाता था या शुद्ध बचत को ही पूञ्जी माना जाता था । आय की बचत को पूञ्जी में बदलने की क्रिया को विनियोग कहते हैं । किसी भी क्षेत्र में चाहे कृषि, उद्योग या फैक्ट्री हो, उत्पादन के लिये पूञ्जी का विनियोग आवश्यक है । बचत सम्भवतः मुद्रा के रूप में एकत्रित होती है तो यह उपकरणों, पूंजीगत माल व प्लॉंट के रूप में बदलनी चाहिये । जबकि विनियोग स्वयं की बचत के रूप में एकत्रित होती है और कहीं अन्यत्र काम में ली जाती है । इस प्रकार लागत तत्वों की पूर्ति के लिये जिन साधनों से पूंजी लगाई जाती है और उत्पादन लिया जाता है विनियोग कहलाता है ।

पूंजी एक लागत तत्व के रूप में—सभी प्रकार की आर्थिक गतिविधियों में पूंजी का किसी न किसी रूप में उपयोग होता है । कुछ आर्थिक गतिविधियों में श्रम का अधिक महत्व होता है जैसे—थोक व फुटकर व्यापार, बीमा, बैंक, व्यापारिक सेवाएँ आदि । जबकि कुछ में पूंजी का अधिक महत्व होता है जैसे—खनन, शिल्प उद्योग आदि । लेकिन सभी में पूंजी का उपयोग किसी न किसी रूप में अवश्य होता है । लेकिन यह उपयोग भिन्नता लिये होता है । इसके दो कारण हैं—

(1) पूंजी की उपलब्धि में भिन्नता,

(2) पूंजी का प्रवाह,

पूंजी की उपलब्धि में स्थानिक भिन्नता—किसी भी क्षेत्र में पूंजी की उपलब्धता उस क्षेत्र में पूंजी की मांग एवं पूर्ति के सम्बन्धों पर निर्भर करती है । पूंजी की मांग का सम्बन्ध लाभ की दर पर निर्भर करता हैं, जो किसी क्षेत्र के अन्दर से व क्षेत्र के बाहर अन्य क्षेत्र से, व्यापार करने से प्राप्त होता है । और पूंजी की पूर्ति मुख्यतः विनियोग किये गये कोष, बचत का स्तर व पूंजी के प्रवाह के द्वारा ही होती है । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पूंजी के बिना भी उत्पादन कार्य हो सकते है, लेकिन इस प्रकार का उत्पादन तुलनात्मक रूप से बहुत कम होता है । अतः वर्तमान में चाहे लघु उद्योग हो या विशाल उद्योग, पूंजी उत्पादन प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग है । पूंजी का उपयोग खनन, कृषि, शिल्प उद्योग, व्यापारिक सेवाऐं, परिवहन सेवाएँ, थोक व फुटकर

व्यापार आदि सभी प्रकार की आर्थिक गतिविधियों में होता है ।

पूंजी की गतिशीलता—किसी पुरानी सफल अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र में मशीन, उपकरण, मकान, भूमि आदि भौतिक पूंजी के रूप में एकत्रित हो जाते हैं। ये सामान्यतः लाभ व मजदूरी की बचत से व पर्याप्त पूंजी विनियोग से होते हैं। ऐसे क्षेत्र पूंजी की मांग के भी बड़े स्रोत होते हैं। जिसके कारण ऐसे क्षेत्र उच्च स्तर के लाभ से होने वाले पूंजी विनियोग का तो उपयोग करते ही है, बाहर से भी पूंजी को खींचते हैं। दूसरी ओर पुरानी लेकिन असफल या कम सफल अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र में भौतिक पूंजी भी कम होती है। तथा विनियोग के लिये पूंजी एकत्रित करते रहते हैं। अतः वे सम्पूर्ण विनियोग का उपयोग करने में असमर्थ होने से अतिरिक्त पूंजी के क्षेत्र होते हैं जबकि दूसरी ओर अधिक विकास की सम्भावनाओं वाली अर्थ व्यवस्था में यद्यपि पूंजी की पूर्ति के स्रोत सीमित होते हैं, लेकिन भावी आय की सम्भावनाओं से शक्तिशाली मांग उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार पृथक 2 स्थानों पर अलग 2 समय में व भिन्न प्रकार की अर्थ व्यवस्था में अलग 2 प्रकार की पूंजी की मांग व पूर्ति की भिन्नता पाई जाती है। अगर श्रम की तरह ही पूंजी को स्वतंन्त्र गतिशीलता एवं स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धात्मक बाजार उपलब्ध हो तो पूंजी आधिक्य के क्षेत्रों में कमी के क्षेत्रों की ओर गतिशील होगी। तब पूंजी एक लागत तत्व के रूप में जो भिन्नता लिये होती है। [अर्थात् पूंजी का मूल्य जिसे ब्याज की दर कहते हैं] इसकी भिन्नता समाप्त हो जायगी। तब पूंजी अर्थ व्यवस्था की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं डालेगी। लेकिन वास्तव में श्रम की तरह ही पूंजी भी असीमित रूप से गतिशील होने वाला लागत तत्व नहीं है। स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा एक आदर्श विचार है, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं होता है। अतः पूंजी की गतिशीलता को कई तत्व प्रभावित करते हैं।

पूंजी की गतिशीलता को प्रभावित करने वाले तत्व— पूंजी की गतिशीलता पूंजी के विशेष रूप पर निर्भर करती है पूंजी के दो रूप है।

(1) **भौतिक पूंजी**—मशीनें, उपकरण, प्लांट, भवन आदि जो सामान्यतः एक बार लगाने पर गतिहीन होते हैं। नई पूंजी की इकाईयां भी स्थापित हो जाती है तो गतिहीन हो जाती हैं। अतः इसका महत्व उसके उपयोग पर ही निर्भर करता है। इन्हें हटाने या बन्द करने की लागत इनकी गतिशीलता को रोकती है। उद्योगपति उद्योगों में कुछ मंहगे उपकरणों में उपयोग की कम क्षमता होने पर भी उसे नहीं चाहते हैं, क्योंकि पुराने मंहगे उपकरणों को हटाकर उद्योग को दूसरे स्थान पर स्थापित करने की अपेक्षा उन्हीं उपकरणों से कम लाभ होता रहे तब भी उसे चालू रखते हैं क्योंकि भौतिक पूंजी को स्थाना-

न्तरित करने व पुनः स्थापित करने में कई गुना खर्च बढ़ जाता है। पिट्सवर्ग व यंग स्टाऊन में 1911 के बाद यद्यपि स्टील का उत्पादन काफी बढ़ा है लेकिन उसका कारण वहाँ कोई नया प्लांट या उद्योग की स्थापना के कारण न होकर केवल पुराने उद्योगों का आधुनिकरण एवं विस्तार है।

(2) **मौद्रिक पूंजी**—नकदी के रूप में पूंजी अधिक गतिशील होती है, लेकिन इसकी गति को भी निम्नांकित तत्व प्रभावित करते हैं—

(i) व्यापारिक क्षेत्र,
(ii) राष्ट्रों की सीमाएँ,
(iii) आर्थिक समुदायों की सीमाएँ,
(iv) सिक्कों के प्रचलन का क्षेत्र,
(v) दूरी,
(vi) पूंजी की सुरक्षा की अनिश्चितता, आदि।

ऐसे कई तत्व हैं जो मौद्रिक पूंजी की असीमित गति को नियंत्रित करते हैं। जिसके परिणामस्वरूप पूंजी भी श्रम की तरह स्थानीय होती है। इसलिये व्यवस्थापक के लिये स्थानिक रूप से पूंजी का मूल्य अलग 2 होता है।

पूंजी की लागत में भिन्नता—पूंजी की लागत (ब्याज की दर पूंजी की लागत से सम्बन्धित है) में अलग 2 स्थानों पर भिन्नता पाई जाती है। कृषि प्रधान अर्थ व्यवस्था में उद्योगों की अपेक्षा स्थानीय पूंजी की पूर्ति कम होती है क्योंकि वहां लाभ कम प्राप्त होता है। यहाँ कृषि के क्षेत्रों में होने वाली हानियों के कारण पूंजी की मांग अधिक होती है, अतः ब्याज की दर भी अधिक होती है। या अगर अन्य क्षेत्रों से व स्थानीय रूप से पूंजी की माँग की पर्याप्त पूर्ति नहीं होती है तो भी वहां ब्याज की दर (पूंजी की लागत) अधिक होती है लेकिन पहले की अपेक्षा किसी भी देश में अब पूंजी की गतिशीलता बढ़ी है। भूत काल में पूंजी की उपलब्धि व पूंजी पर ब्याज की दर में काफी स्थानिक भिन्नता थी जिसका प्रभाव क्षेत्र के विकास एवं आधुनिक अर्थ व्यवस्था पर शक्तिशाली रूप से पड़ा है।

तकनीकी ज्ञान
(TECHNICAL KNOWLEDGE)

उत्पादन प्रक्रिया के विभिन्न अंगों में तकनीकी ज्ञान भी महत्वपूर्ण है तकनीकी ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान का एक अंग है। यह किसी स्थान व समय विशेष पर उपलब्धि में भिन्नता लिये होता है। यह दो प्रकार से एकत्रित किया जाता है।

(1) नवीन खोजों व आविष्कारों से।

(2) नवीनीकरण से

आविष्कारों से तात्पर्य ज्ञान में नई तकनीक व नई प्रक्रियाओं की शुरूआत से है, जबकि नवीनीकरण से तात्पर्य वास्तविक उत्पादन प्रक्रियाओं में नये आविष्कारों या विचारों को अपनाने से है। हर प्रकार की उत्पादन प्रक्रिया में किसी न किसी स्तर का तकनीकी ज्ञान आवश्यक है। भिन्न 2 अर्थ व्यवस्थाओं में यह भिन्न 2 प्रकार का होता है लेकिन इसको ज्ञात करना एक कठिन कार्य है। फिर भी कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें तकनीकी ज्ञान की अधिक आवश्यकता होती है। जैसे—घड़ियां, वैज्ञानिक यंत्र, इलेक्ट्रोनिक उपकरण, वायुयान बनाने के उद्योग। दूसरी ओर कुछ आर्थिक गतिविधिया ऐसी हैं जिनमें तकनीकी ज्ञान की बहुत कम आवश्यकता होती है। जैसे लकड़ी सम्बन्धी कुछ उद्योग, वस्त्र निर्माण, बिस्कुट, शराब आदि। अतः उत्पादन प्रक्रिया में यह एक महत्वपूर्ण लागत तत्व के रूप में है।

तकनीकी ज्ञान की उत्पत्ति में स्थानिक भिन्नता—तकनीकी ज्ञान सर्वत्र समान रूप से उपलब्ध नहीं होता है। इसका विकास वहीं अधिक होता है, जहां इसके विकास की अधिकतम संभावनाएँ होती हैं। ये सम्भावनाएँ मुख्यतः आपसी प्रतिक्रिया व संचार सुविधाओं पर निर्भर करती है। सामान्य रूप से होने वाले आविष्कार स्थानीय होते हैं जो मुख्यतः उच्च स्तर के बड़े केन्द्रों पर उत्पन्न होते हैं, जबकि नये विचारों या आविष्कारों का उपयोग स्थानिक दृष्टि से सर्वत्र हो सकता है। दोनों ही विनियोग व पूंजी लगाने वाले की इच्छा पर निर्भर करते हैं। अतः सभी प्रकार के आविष्कार एवं नये विचार, विकास का प्रारूप स्थानीय रूप से ही बताते हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र आविष्कार अधिकतम आपसी क्रिया व संचार के आदान-प्रदान के केन्द्रों पर होते हैं। जबकि नवीनीकरण की प्रक्रिया की सफलता आर्थिक दृष्टि से, उच्च स्तर के केन्द्रों पर निर्भर करती है।

तकनीकी ज्ञान की उपलब्धि—तकनीकी ज्ञान आर्थिक गतिविधियों के लिये एक स्थानीय तत्व है। यह भी उसी तरह व्यवहार करता है जैसे श्रम और पूंजी। जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है इसका प्रभाव भी क्षीण होता जाता है। यह पूर्व में स्थापित संचलन व पारस्परिक-क्रिया के मार्गों पर ही चलता है। अतः अर्थ व्यवस्था के स्थानीयकरण पर एक शक्तिशाली प्रभाव डालता है। अर्थात् यह अपने उत्पत्ति के केन्द्र पर सम्बन्धित आर्थिक गतिविधियों को व उनके विकास को आकर्षित करता है। श्रम व पूंजी इसकी अपेक्षा अधिक गतिशील होते हैं जिन उद्योगों में तकनीकी ज्ञान की अधिक आवश्यकता होती

है, वे वहाँ स्थापित होते हैं. जहां तकनीकी ज्ञान से सम्बन्धित अधिकतम सूचनाएँ उपलब्ध हों, चाहे वहां अन्य लागत तत्व महंगे हों, तब भी उद्योग वहीं स्थापित होते हैं, जैसे–इलेक्ट्रोनिक्स उद्योग।

तकनीकी ज्ञान की गतिशीलता—लेकिन तकनीकी ज्ञान की उपलब्धि मात्र के आधार पर यह समझना भूल होगी कि तकनीकी ज्ञान गतिशील नहीं है। हम यह जानते हैं कि तकनीकी ज्ञान सर्वत्र समान रूप से उपलब्ध नहीं होता है। अतः तकनीकी ज्ञान का प्रसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर होता है लेकिन अगर यह असीमित रूप में गतिशील होता है तो फिर कहीं भी असमानता नहीं रह जायगी और तब इसका प्रभाव अर्थ व्यवस्था पर भी कुछ नहीं पड़ेगा। वास्तव में श्रम व पूंजी की तरह से यह भी असीमित रूप से गतिशील न होकर सीमित रूप में ही गतिशील है। इसको कई तत्व नियंत्रित करते हैं।

1. **क्रियात्मक दूरी**—जैसे 2 तकनीकी ज्ञान के उत्पत्ति केन्द्र से दूरी बढ़ती है वैसे ही इसके प्रसार में कमी आती है। अगर उत्पत्ति के केन्द्र से किसी प्रकार की बाधा न हो तो आस पास के क्षेत्र में समान रूप से तकनीकी ज्ञान का प्रसार होता है। हैंगर स्ट्रेन्ड[19] ने इस प्रकार के प्रसार को 'पड़ौसी प्रभाव' (Neighbourhood effect) की संज्ञा दी। उसने स्वीडन के छोटे से क्षेत्र से लेकर यूरोप तक में इस प्रकार का प्रभाव देखा। लेकिन हैगर स्ट्रैंड (1952) ने इस बात को भी स्वीकार किया कि कुछ नवीन खोजों की सूचनाएँ नगरीय पदानुक्रम का अनुसरण करती है अर्थात् उच्च क्रम के केन्द्र से दूसरे उच्च क्रम के केन्द्र की ओर या उससे निम्न क्रम के केन्द्र की ओर छलांग लगा जाती है और पड़ौसी प्रभाव को भंग कर देती है।

2. **सापेक्षिक स्थिति :**— जैसे 2 तकनीकी ज्ञान के विकास के केन्द्र से सापेक्षिक दूरी बढ़ती है, इसके प्रवाह में कमी आती है। नजदीक के व्यक्ति इसको जल्दी ग्रहण करते हैं।

3. **व्यक्तियों की ग्रहण क्षमता**— तकनीकी ज्ञान की गतिशीलता या प्रसार व्यक्तियों की ग्रहण क्षमता पर भी निर्भर करता है, जो व्यक्ति की उम्र, शैक्षणिक स्तर एवं बौद्धिक क्षमता पर निर्भर है। छोटी उम्र का या कम शिक्षित व्यक्ति या बौद्धिक दृष्टि से अविकसित व्यक्ति नवीन विचारों को ग्रहण करने में अधिक समय लेते हैं, इसके विपरित परिपक्व उम्र का व्यक्ति, अधिक शिक्षित व बौद्धिक दृष्टि से विकसित व्यक्ति नवीन विचारों को शीघ्र ग्रहण करता है।

4. **सामाजिक स्तर**— विकासशील देशों में प्रसार का सिद्धान्त सामाजिक पक्षपात को स्पष्ट करता है। कहीं 2 वर्ण व्यवस्था और ग्रामीण नेता

नवीन विचारों को फैलाने में बाधा पहुंचाते हैं। बोस व सक्सेना[20] (1965) ने पश्चिमी राजस्थान के एक ग्राम के अध्ययन में पाया कि वहां की वर्ण व्यवस्था व ग्रामीण नेता कृषि के नवीन विचारों के फैलने में बाधा पहुंचाते हैं।

5. **आर्थिक सम्पन्नता**—नवीन विचारों का प्रसार एक प्रक्रिया है, जिसमें किसी विचार को जिन व्यक्तियों ने पहले स्वीकार नहीं किया है उनके द्वारा अपनाया जाता है। इस दृष्टि से आर्थिक सम्पन्नता का प्रभाव इसके प्रसार को अधिक नियंत्रित करता है। बोस[21] (1961) ने भारतीय गांवों में नई कृषि की विधियों को अपनाने सम्बन्धी अध्ययन में पाया कि उच्च वर्ग के लोग जो अधिक शिक्षित एवं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं, बड़े आकार के खेतों के मालिक हैं, नये विचारों को पहले अपनाते हैं। नूर मोहम्मद[22] (1978) ने भी नवीन कृषि की खोजों पर आर्थिक तत्वों के प्रभाव का अध्ययन मध्यवर्ती घाघरा-मैदान में करते हुए पाया कि नवीन विचारों को स्वीकार करने पर, किसान की आर्थिक दशा का प्रभाव पड़ता है।

6. **विभिन्न अवसरों की उपलब्धि**—यह सही है कि नवीन विचारों को ग्रहण करने के लिये सजगता व सही सूचनाओं की आवश्यकता प्रमुख है, लेकिन ये पर्याप्त नहीं है। इनके साथ 2 आर्थिक स्थिति व विभिन्न अवसरों की उपलब्धि भी महत्वपूर्ण है जो इसके प्रसार को प्रभावित करती है। यप्पा और मेफील्ड[23] (1978) ने कर्नाटक राज्य में बंगलौर के उत्तर पूर्व के 34 गांवों के अध्ययन के आधार पर पाया कि यहां संकर मक्का की किश्म को न अपनाने का कारण किसानों की आर्थिक दशा के साथ 2 विभिन्न अवसरों की उपलब्धि में आने वाली कठिनाइयां थी, जैसे-मूल्यों में वृद्धि, विभिन्न प्रकार का माल, उर्वरक, दवाईयां आदि प्राप्त करने में समय की बरबादी एवं अन्य कठिनाइयां मुख्य बाधा रही। इसी प्रकार का अध्ययन केम्ब्रिज[24] विश्व विद्यालय द्वारा तमिलनाडु के उत्तरी अर्काट में विद्युत-पम्पसेटों के प्रसार के सन्दर्भ में किया गया। यहां के अध्ययन से पता चलता है कि पम्प सेटों का प्रसार हेगर स्ट्रेण्ड के प्रसार विचार को स्पष्ट करने में सहायक नहीं है। यहां किसानों को पम्प सेटों के बारे में जानकारी बहुत समय पहले ही होगई थी, लेकिन इसका उपयोग गांव में विद्युत लाइन के आने के बाद ही हो सका। देर से ग्रहण करने वालों व ग्रहण नहीं करने वालों की मुख्य समस्या पूंजी की कमी, जलस्तर का नीचा होना, सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम दूरी व पम्पसेटों की संख्या के आधार पर विद्युत देने से सम्बन्धित नियमों के कारण थी।

कराधान
(TAXATION)

किसी भी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में सरकार एक महत्वपूर्ण अंग होती हैं।

अर्थतन्त्र की संकल्पना में हमने इसे एक महत्वपूर्ण निर्णयात्मक शक्ति के रूप में देखा है। सरकार अपनी निर्णयात्मक शक्ति से विभिन्न लागत तत्वों को प्रभावित करती है तथा साथ ही साथ आर्थिक गतिविधियों को नियंत्रित भी करती है। सरकार द्वारा उन पर नियंत्रण-कर लगाकर, वस्तुओं को बेचकर या लागत तत्वों के मूल्यों में विशेष छूट देकर व अन्य कई विधियों से करती है। इसका प्रभाव वस्तुओं के उत्पादन मूल्य पर पड़ता है। हम जानते हैं कि विभिन्न स्थानों पर संसाधनों का वितरण विषमता लिये हुये हैं। इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों, प्रदेशों व स्थानों पर लगाये गये करों में भी विषमता पाई जाती है। करों का स्वरूप भिन्न 2 प्रकार का होता है। यह प्रत्यक्ष एवं परोक्ष करों के रूप में स्थानीय व राज्य स्तरीय या केन्द्र स्तरीय कर, ग्रामीण एवं नगरीय कर, उत्पादन एवं उपभोग कर, आयाव व निर्यात कर आदि कई रूपों में पाये जाते हैं। इनका जहाँ एक ओर लागत मूल्य या उत्पादन मूल्य पर प्रभाव पड़ता है, वहाँ दूसरी ओर अर्थ व्यवस्था के स्थानीयकरण को भी प्रभावित करते हैं। कुछ कर सार्वदेशिक होते हैं, जो सभी स्थानों पर समान रूप से देने पड़ते हैं। ऐसे करों का अर्थ-व्यवस्था के स्थानीयकरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

स्थानीय करों में विविधता—विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीय करों में विविधता पाई जाती है। जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायत द्वारा लगाये गये करों की अपेक्षा कस्बों में अधिक कर देने होते हैं। ऐसे ही नगरों में व महानगरों में तुलनात्मक रूप से स्थानीय सरकारें अधिक व विभिन्न प्रकार के करों को वसूल करती है। इसके परिणामस्वरूप वहाँ पर उत्पादनकर्ता को विभिन्न प्रकार के कर चुकाने होते है और यह कर वह ग्राहकों से अधिक मूल्य प्राप्त करके पूर्ति करता है। इस प्रकार इन करों का प्रभाव उत्पादन लागत पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। यही कारण है कि उद्योगपति ऐसे स्थानों की जटिल कर व्यवस्था से बचने के लिये एवं उत्पादन लागत पर करों के भार को कम करने के लिये नगरों या महानगरों की प्रशासकीय सीमाओं से बाहर अपना उद्योग स्थापित करते हैं जिसके कारण उद्योगपति को अन्य प्रकार की सुविधाएं यथा—यातायात श्रमिक, यांत्रिक शक्ति, पूंजी, बाजार आदि की सुविधाएं उपलब्ध हो जाती हैं. और साथ ही उत्पादन लागत में स्थानीय करों का भार कम हो जाता है। जैसे—भीलवाड़ा प्रोसेसर्स की स्थिति भीलवाड़ा से 15 कि.मी. दूर है। यहां इस उद्योग की स्थापना में बनास से पानी की उपलब्धि, अपेक्षाकृत सस्ती दर पर भूमि की उपलब्धि व स्थानीय कर से बचत आदि का प्रभाव पड़ा है। एक अनुमान के अनुसार प्रति वर्ष इस कारखाने को, भीलवाड़ा नगर परिषद् की सीमा के बाहर स्थित होने से, $2\frac{1}{2}$ लाख रुपये की स्थानीय कर की बचत होती है। ऐसा कई स्थानों पर पाया जाता है।

अनुपूर्ति (Subsidy)—सरकार कुछ क्षेत्रों के विकास के लिये विभिन्न प्रकार की आर्थिक गतिविधियों को प्रोत्साहन देती है। वहां विभिन्न प्रकार के करों में छूट दी जाती है तथा आर्थिक अनुपूर्ति राशि भी दी जाती है। इसका प्रभाव वस्तुओं की उत्पादन लागत पर पड़ता है। जैसे मिलों से बना हुआ कपड़ा और हाथ से बना हुआ कपड़ा (खादी), जो लागत मूल्य की दृष्टि से काफी भिन्नता लिये होता है लेकिन सरकार मिलों से बने कपड़े की अपेक्षा हाथ से बने कपड़े को प्रोत्साहन देने के लिये खादी ग्रामोद्योग कमीशन के द्वारा अनुपूर्ति करती है अन्यथा बाजार में हाथ के बुने हुए कपड़े का टिकना संभव नहीं है।

कृषि के क्षेत्र में सरकार उर्वरकों, दवाईयों, बीज आदि पर करों का बोझ कम करके या खेती के काम आने वाले ट्रैक्टरों, यंत्रों पर विभिन्न प्रकार के शुल्कों में कमी करके कृषि के क्षेत्र में उत्पादन लागत को कम करती है।

सरकार किसी क्षेत्र विशेष को पिछड़ा घोषित कर वहां औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिये उद्योगों को विशेष प्रकार की छूट व अनुपूर्ति प्रदान करती है। इसका भी लागत पर प्रभाव पड़ता है। पातलगंगा (जिला रायगढ़, महाराष्ट्र) का औद्योगिक क्षेत्र जीवन रक्षक दवाईयों के उत्पादन के लिये पिछड़ा क्षेत्र घोषित्त किया है।

आयात-निर्यात करों की व्यवस्था—सरकार विभिन्न प्रकार के माल को आयात करने में छूट देकर उन पर आयात शुल्क कम वसूल करती है। ऐसा स्थानीय अर्थ व्यवस्था को संरक्षण प्रदान करने की नीति के अन्तर्गत होता है। इससे भी उत्पादन लागत पर प्रभाव पड़ता है लेकिन इस प्रकार की व्यवस्था तभी अधिक उपयोगी हो सकती है जबकि इस प्रकार का विदेशी माल अधिक आयात-कर के कारण देश में प्रवेश न कर पाये जैसे देश में बनने वाले रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेप रिकार्डर, घड़ियां, कम्प्यूटर आदि के लिये सरकार विशेष प्रकार का इलेक्ट्रॉनिक का सामान कम आयात शुल्क पर देश के उद्योगों को उपलब्ध कराती है और विदेशों से बन कर आने वाले ऐसे यंत्रों पर भारी आयात शुल्क लगाकर देश के इन उद्योगों को संरक्षण प्रदान करती है। जिससे वे कम उत्पादन मूल्य पर वस्तुएँ उपलब्ध करा सकती हैं। अगर इनके आयात पर, आयात शुल्क का भार अधिक नहीं हो तो विदेशी कम्पनियां इन्हें देश में अपेक्षाकृत कम मूल्य पर उपलब्ध करा सकती है। तब देश के उद्योग प्रतिस्पर्द्धा में नहीं टिक सकते और बेकारी की समस्या बढ़ सकती है। ऐसा ही निर्यातक माल को प्रोत्साहन देकर प्रभावित करती है।

भेद मूलक करारोपण—सरकार कुछ चुनी हुई वस्तुओं पर विशेष प्रकार

का कर लगाती है। ऐसी दशा में खरीदी गई वस्तुओं पर अधिक कर देना पड़ता है तो उत्पादन लागत भी अधिक होती है। और तब उत्पादक ऐसी वस्तुओं के प्रतिस्थापन (स्थानापन्न) वस्तुओं को ढूंढता है जो अर्थ व्यवस्था के लिये बहुत घातक सिद्ध हो सकती है। भेद मूलक कराधान की नीति से सरकार कभी 2 घरेलू खरीद को हतोत्साहित करती है। ऐसी दशा में घरेलू उपभोक्ताओं को अधिक मूल्य देना पड़ता है, जबकि उत्पादक को विदेशों से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है।

अत: सरकार द्वारा करों के रूप में नियंत्रण व अनुपूर्ति राशि की छूट का प्रभाव जहां एक ओर उत्पादन लागत पर पड़ता है वहीं दूसरी ओर इनके प्रभाव से अर्थ व्यवस्था का स्थानीयकरण भी प्रभावित होता है। अत: कर भी लागत तत्व के रूप में किसी स्थान की अर्थ व्यवस्था की लागत व स्थानीयकरण को कुछ सीमा तक प्रभावित करता है।

लागत तत्वों के मूल्य की भिन्नता से स्थानीयकरण पर प्रभाव

वास्तविक दशाओं में उत्पादन प्रक्रिया में लगने वाले तत्वों में काफी भिन्नता पाई जाती है। जो उत्पादन की दशाओं को व स्थानीयकरण को प्रभावित करते हैं। सरलीकृत मॉडल में वेबर ने श्रम की लागत की विभिन्नता के तत्व को देखा, जिसके कारण एक उद्योग अपने न्यूनतम परिवहन लागत के बिन्दु से उसी अनुपात में हटता है जिस अनुपात में इसके श्रम गुणांक (Labour coefficient) का आकार होता है। वेबर ने इस प्रकार की स्थिति ज्ञात करने के लिये ISODAPAN का उपयोग किया। आइसोडापान न्यूनतम परिवहन लागत पर अतिरिक्त परिवहन लागत को प्रदर्शित करते हैं। जो कि अतिरिक्त परिवहन खर्च के बराबर उस स्थिति पर बचत को बताता है।

यद्यपि इस प्रकार की तकनीक का उपयोग करके तथा इसके कुछ गणितीय विस्तार करके सैद्धान्तिक विचारों के आधार पर हल ज्ञात किये जा सकते हैं, लेकिन यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इससे प्राप्त परिणामों को ही अन्तिम समाधान नहीं मान लेना चाहिये।

इस प्रकार परिवहन लागत व उत्पादन प्रक्रिया की लागत, विभिन्न अर्थ व्यवस्थाओं के स्थानीयकरण को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करते हैं। कोई तत्व विशेष अकेला व अन्य तत्वों के साथ अलग 2 स्थान पर भिन्न 2 प्रभाव डालता है तथा भिन्न 2 आर्थिक गतिविधियों को भी अलग 2 रूप से प्रभावित करता है। परिवहन लागत को सापेक्षिक रूप से कम करना, श्रम की विशिष्ट कुशलता से हटने की प्रवृत्ति, पूंजी की आन्तरिक गतिशीलता बढ़ने पर लाभांश की सीमा अधिक विस्तृत कर देती है और आर्थिक गतिविधियां अधिक जटिल स्थानीयकरण की ओर आकृष्ट होती है।

उत्पादन प्रक्रिया की लागत पर भूमि, पूंजी, श्रम, कर आदि लागत तत्वों का ही प्रभाव नहीं पड़ता है बल्कि उत्पादन प्रक्रिया की लागत को निम्न तत्व भी प्रभावित करते हैं।

वृहद पैमाने पर उत्पादन—

अगर उद्योग की उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं होता है तो उत्पादन लागत बढ़ जायेगी। अगर पूर्ण क्षमता से विशाल पैमाने पर उत्पादन किया जाता है तो उत्पादन प्रक्रिया की लागत सापेक्षिक दृष्टि से कम हो जाती है। अतः वृहद पैमाने पर उत्पादन करना आवश्यक है यह निम्न बातों पर निर्भर करता है।

(1) मशीन व उपकरण बढ़िया किस्म के हों,
(2) उत्पादनकर्त्ता के रूप में मानव कुशल श्रम देने वाला हो,
(3) थोक क्रय-विक्रय की क्षमता हो,
(4) भंडार-संचय की क्षमता हो,
(5) कई उद्योगों का समूहीकरण हो,
(6) व्यवस्थापन की अच्छी व्यवस्था हो,
(7) अन्य उद्योगों से भौगोलिक अनुसंगता हो।

उत्पादित वस्तु का प्रतिस्थापन—

उत्पादन लागत, कच्चा माल किस स्तर का है इस पर भी निर्भर करती है। अगर बढ़िया किस्म का माल उत्पादन प्रक्रिया में काम में लिया जाता है तो उत्पादन लागत बढ़ जाती है। इसी प्रकार उत्पादन में आवश्यक नहीं कि एक ही प्रकार का कच्चा माल काम में आता हो। बहुधा कच्ची सामग्री में फेर बदल भी होता है। कभी महंगी व कभी सस्ती कच्ची सामग्री का उपयोग जिन उद्योगों में किया जा सकता है तो उसका प्रभाव उत्पादन प्रक्रिया कि लागत पर अवश्य ही पड़ता है। जिसके कारण कभी मूल्य बढ़ जाते हैं कभी कम हो जाते हैं। अगर कच्ची सामग्री में प्रतिस्थापन होता है तो उद्योग कच्चे माल की ओर आकर्षित होता है। अगर उत्पादित माल में प्रतिस्थापन की संभावना है तो उद्योग बाजार (उपभोग के क्षेत्रों) की ओर आकर्षित होता है।

REFERENCE-6

1. APPLETON, J. H. (1963) The Efficacy of the Great Australian Divide as a Barrier to Railway Communication, Transactions of the Institute of British Geographers 33, p. 101–112.
2. BUNGE, W. (1966) Theoretical geography, Lund Studies in

Geography, Series c, 1. 2nd ed.

3. WELLINGTON, A. M. (1887). The economic theory of the location of Railways, New York.
4. LOSCH, A. (1954) The Economics of location, Yale University Press, New Haven, Cantt. p. 184.
5. SEARS, F. W. and ZEMANSKY, M. W. (1964) University physics, Reading, Mass. p. 842.
6. DEKA, P. (1974) On the cheapest cost single route location, National Geographical Journal of India Vol. XX, 2 (June) pp. 128–130.
7. JANELLE, D. G. (1969) Spatial Reorganization : A Model and a concept, Annals of the Association of American Geographers 59, pp. 348–364.
8. CHRISTALLER, W. (1966) Central places in Southern Germany (C W. BASKIN Trans) Englewood Cliffs, N. J., Prentice-Hall.

10 BECKMANN, M. (1952) A continuous model of Transportation, Econometrica, Vol. 20 (October) pp. 643-60.

11. ISARD, W. (1956) Location and Space Economy. Cambridge, MASS : M.I.T. Press, p. 272.
12. TAAFFE, E. J , MORILL, R. L. and GOULD, P. R. (1963) Transport expension in underdeveloped countries : a comparative analysis. Geographical Review, 53, p. 503-529.
13. ROSTOW, W. W. (1960) The stages of economic growth. Cambridge University Press, N. Y.

14 HAGGETT, P. (1965) Locational analysis in Human Geography London : Edward Arnold.

15. SMITH, D. A. (1968) Models of Transport Net work Evolution in India. Abstract of papers, 21st International Geographical Congress, p. 213.
16. SINGH. J. (1972) A model for Rural Transport Network

in R L. Singh (ed), Rural Settlements in Monsoon Asia (Proceedings) N.G.S,I. Varanasi, pp. 189-95.

17. LOKANATHAN, P. S. (1931) Migration of Labour with special reference to South India, Journal of Madras Geographical Association, 1.
18. WEBER, A. (1909) Theory of the location of industries. Chicago University Press, Chicago.
19. HAGERSTRAND, T. (1952) The Propagation of Innovation Waves, Lund Studies in Geography, Series B, 4
20. BOSE, A. B. and SAXENA, P. C. (1965) The diffusion of Innovation in a village of Western Rajasthan, Economic Affairs 18 (3) pp. 138-151.
21. BOSE, S. P. (1961) Characterstics of farmers who adopt Agricultural practice in Indian villages. 26 (2) pp. 138-183.
22. MOHAMMAD, N. (1978) Impact of economic factors on diffusion of Agricultural innovation in central Trans-Ghaghara plain, Geographical Review of India Vol. 40 (3) Sept. pp. 266-280.
23. YAPA, L. S. and. MAYFIELD, R. C. (1978) Non-adoption of Innovations : Evidence from discriminant analysis. Economic Geography Vol. 54 (2).
24. HARRIS, B. (1974) Rural electrification and the diffusion of electric pumpsets in North Arcot District, India. Seminar on Agrarian change in rice-growing areas of Tamil Nadu and Sri Lanka, Cambridge, Englewood.



मांग, पैमाना एवं समूहन
(DEMAND SCALE AND AGGLOMERATION)

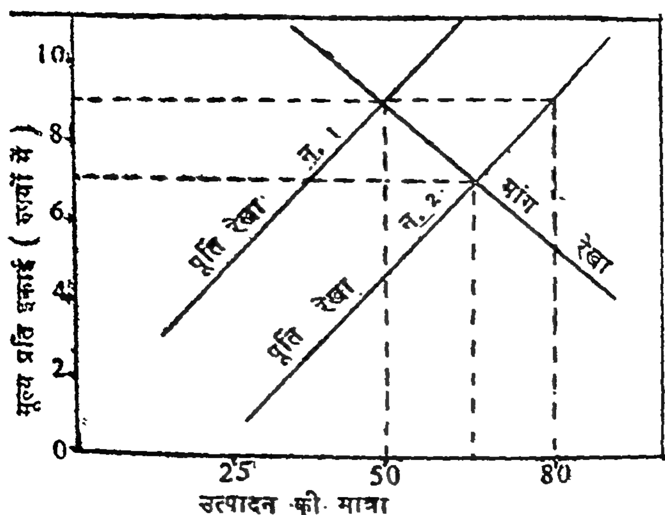
मांग (Demand)—माल या सेवा की इच्छा को मांग कहते हैं। अर्थात् मांग में मूल्य देने की इच्छा व योग्यता निहित होती है। कभी 2 इसे प्रभावक मांग भी कहते हैं जो उस इच्छा से भिन्न है जिसमें खरीदने की क्षमता की भावना निहित नहीं होती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि हर प्रकार के उपभोग की क्रिया में लगने वाला मूल्य मुद्रा के रूप में ही हो। यह खर्च किये जाने वाले समय के रूप में हो सकता है, या प्राप्त करने के प्रयास के रूप में हो सकता है। इस प्रकार एक उपभोक्ता द्वारा किसी वस्तु का मूल्य देने को तैयार होना इसके मूल्य का संभावित मापदण्ड होता है।

किसी भी क्षेत्र में उत्पादक का मुख्य उद्देश्य ग्राहकों की न्यूनतम लागत पर सेवा करना एवं अधिकतम लाभ अर्जन करना होता है। लेकिन किसी स्थान विशेष पर फर्म का विकास का आधार उसकी मांग होती है। अगर मांग की संभावना एवं मांग का न्यूनतम स्तर होता है तो फर्म का जन्म होता है लेकिन माँग के साथ ही साथ पूर्ति की दशाएँ भी आवश्यक हैं क्योंकि उत्पादक विभिन्न लागत तत्वों को एकत्रित करके उत्पादन प्रक्रिया में लगाता है। किसी भी फर्म की स्थिति-निर्धारण की निर्णयन-प्रक्रिया में उसकी आर्थिक जीव्यता (Viability) मांग और पूर्ति पर निर्भर करती है। मांग की मात्रा वस्तु के उत्पादन के पैमाने को निश्चित करती है एवं पैमाने की बचतों से उसका मूल्य निर्धारित होता है। मूल्य किसी न किसी प्रकार मांग की मात्रा को प्रभावित करते हैं इसलिये मांग और पूर्ति का चक्र मूल्य के अनुपूरक समंजन से चलता है। माँग-पूर्ति और मूल्य की प्रवृत्ति, दोनों ही स्थिति को प्रभावित करते हैं व स्थिति से प्रभावित भी होते हैं। दूसरे शब्दों में किसी भी स्थान पर मांग की मात्रा व मूल्य, उस स्थान से सम्बन्धित परिवहन लागत (दूरी का प्रभाव) के भौगोलिक प्रतिरूप से सम्बन्धित होते हैं। इसी प्रकार उत्पादन लागत (श्रम, भौतिक संसाधन, पूंजी, तकनीकी ज्ञान आदि) में स्थिति सम्बन्धी भिन्नताएँ किसी भी फर्म की पूर्ति की दशाओं को प्रभावित करती है। अतः मांग और पूर्ति व मूल्य निर्धारण, स्थिति से भी सम्बन्धित है। इसके कारण उत्पादन एवं उपभोग का चक्र शुरू होता है। जब तक यह चक्र चलता रहता है, फर्म विकसित होती रहती है।

सामान्यतः उत्पादक, लागत और आय के अन्तर को अधिक बनाये रखना चाहता है। यहा वस्तु के मूल्य पर मांग और पूर्ति का प्रभाव पड़ता है क्योंकि

वस्तु का मूल्य मांग और पूर्ति पर निर्भर करता है। इसी बिन्दु (मूल्य) पर उत्पादक व उपभोक्ता का स्वार्थ टकराता है। यहीं पर उत्पादक का लाभ उपभोक्ता की उपयोगिता व संसाधनों के मालिक की आय प्रभावित होती है। जिस मूल्य पर वस्तु की मांग और पूर्ति की मात्रा बराबर होगी तो मूल्य की यह दशा संतोषजनक होगी। अगर मांग से पूर्ति अधिक होती है तो मूल्य गिर जायेंगे और संसाधनों के मालिक को कम मूल्य प्राप्त होगा तथा कम मूल्य का फायदा उत्पादक अधिक संसाधनों को खरीदने में उठायगा। इससे मांग बढ़ेगी किन्तु यह मांग पूर्ति से अधिक हुई तो संसाधनों की पूर्ति के लिये प्रतिस्पर्द्धा होगी और उत्पादक को अधिक मूल्य देना होगा इसके फलस्वरूप संसाधनों के मालिक अधिक मूल्य प्राप्ति हेतु व बढी हुई मांग की पूर्ति के लिये अपने साधनों को बेचेंगे। इस प्रकार जब तक 'मूल्य संतुलन की दशा' नहीं आयेगी तब तक मूल्यों में उतार चढ़ाव आयेगा।

चित्र संख्या 7.1 में इनके पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है। अधिकांश वस्तुओं की मांग, जैसे 2 मूल्य बढ़ते हैं, कम होती जाती है, इसके विपरीत वस्तु का मूल्य घटने पर मांग अधिक हो जाती है। इस सिद्धान्त की उप प्रमेय भी इतनी ही महत्वपूर्ण है कि अगर किसी वस्तु की बाजार में अधिक मात्रा में पूर्ति की जाती है तो मूल्य घटते हैं व वस्तु की मात्रा बाजार में कम उपलब्ध कराई जाती है तो मूल्य बढ़ जाने की संभावना हो जाती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार उत्पादक (कृषक या उद्योगपति) अच्छा मूल्य प्राप्त करने के लिये उत्पादन कम कर देता है।



चित्र संख्या 7.1

चित्र संख्या 7.1 के अनुसार मांग, पूर्ति व मूल्यों के आपसी सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है। अधिकांश वस्तुओं के मूल्य बढने पर मांग कम हो जाती है इसे माँग की रेखा से दर्शाया गया है जो बांएँ से दाएँ ढ़ाल वाली रेखा है। इसके विपरीत जैसे 2 मूल्य बढ़ता है फर्म अपना उत्पादन बढ़ाती हैं अतः पूर्ति बढ़ती जाती है इसे पूर्ति रेखा द्वारा दर्शाया गया है जो दांये से बांई ओर ढाल वाली रेखा है। जहां मांग की रेखा को पूर्ति रेखा काटती है वह बिन्दु, बाजार में संतुलन की दशा को प्रकट करता है। यह वही बिन्दु है जहां पर ग्राहक माल चाहता है और उत्पादक पूर्ति करना चाहता है। चित्र के अनुसार 50 इकाई माल 9.00 रुपये प्रति इकाई की दर से पूर्ति किया जायगा व उपभोग किया जायगा। यह संतुलन मूल्य है। अगर फर्म के निश्चय या उसकी बाध्यता से पूर्ति की दशा में परिवर्तन होता है तो पूर्ति रेखा$_2$ दाहिनी ओर खिसक जायगी अर्थात् पुराने संतुलन मूल्य पर ही अधिक मात्रा मे माल की पूर्ति होती है तब मांग की अपेक्षा पूर्ति अधिक होगी और फर्म माल का मूल्य कम करके अधिक ग्राहकों को आकर्षित करेगी। फर्म मूल्य उस स्तर तक कम करेगी जहां ग्राहकों की मांग पूर्ति के बराबर नहीं हो जाय। तब यह सतुलन मूल्य की दशा होगी। ठीक इसी तरह की विपरीत प्रक्रिया अधिक मांग को दशाओं में होती है जहां पुराने संतुलन मूल्य पर पूर्ति से माल की मांग अधिक होने पर लागू होती है। लेकिन यह तभी संभव है जब कि निम्न सब बातें समान रहे।

(i) बाजार में पूर्णतः स्वतन्त्र प्रतियोगिता हो,

(ii) व्यक्ति विशेष की खरीदने की क्षमता का मूल्यों पर प्रभाव न पड़ता हो,

(iii) माल की खरीद केवल मूल्यों पर निर्भर करती हो,

(iv) क्रेता और विक्रेता को बाजार के अन्य क्षेत्रों के मूल्य की पूर्ण जानकारी हो।

(v) दूरी का कोई प्रभाव न हो।

लेकिन मांग को भी कई तत्व प्रभावित करते हैं जिनमें निम्नांकित मुख्य हैं—

(i) विभिन्न स्थानों पर मूल्यों में अन्तर,

(ii) विभिन्न समय पर क्रेता और विक्रेता द्वारा लिये गये निर्णय,

(iii) विभिन्न स्थानों की स्थिति के मध्य दूरी,

(iv) ग्राहकों की विभिन्न वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन के प्रति भिन्न 2 प्रक्रिया होना,

(v) ग्राहकों के खरीदने की क्षमता,
(vi) ग्राहकों की पसन्द व वरीयता आदि।

मांग व पूर्ति की लोच (Price Elasticity of demand and Supply)—

मूल्यों में परिवर्तन से मांग में परिवर्तन की प्रवृत्ति को मांग की लोच कहते हैं। इसे मांग या पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन के % (प्रतिशत) में मूल्य परिवर्तन के % का भाग देने से ज्ञात किया जा सकता है।

$$\text{मांग या पूर्ति की लोच} = \frac{\text{मांग या पूर्ति की मात्रा में \% परिवर्तन}}{\text{मूल्य में \% परिवर्तन}}$$

अगर मांग की लोच का अनुपात 1 है तो इसे दोनों चरों में 1:1 का सम्बन्ध कहते हैं। लेकिन अगर यह 1 से कम है तो यह बताता है कि मांग और पूर्ति में लोच नहीं है जो मूल्यो के अनुसार बदलने में अनुत्तरदायी है। अगर यह अनुपात 1 से अधिक है तो मूल्य के प्रति मांग या पूर्ति लोच युक्त है। उदाहरण के लिए एक विशेष किश्म की मोटर साइकिल का मूल्य 5000/– रुपए है, इस मूल्य पर एक उत्पादक प्रति सप्ताह 20,000 मोटर साइकिल बेचता है लेकिन करों की वृद्धि के कारण उत्पादन लागत बढ़ जाने से अब मोटर साइकिल के मूल्य 5500/– रुपये हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप बिक्री घट कर प्रति सप्ताह 17,000 रह जाती है स्पष्ट है कि 10% मूल्य बढ़ने पर बिक्री (मांग) 15% कम हो जाती है। इस दशा में लोच का अनुपात 1.5 (15/10) होगा। इन मूल्यों में वस्तु की मांग लोच युक्त होगी। इसी प्रकार मान लीजिये कि एक पान का मूल्य 25 पैसे है इस मूल्य पर एक पान विक्रेता प्रतिदिन 1000 पान बेचता है। अगर वह पान का मूल्य बढ़ाकर 30 पैसे (20 % वृद्धि) कर देता है तब पान की मांग घटकर 900 रह जाती है अतः लोच का अनुपात ·5 (10/20) रह जाता है तो इसे कहते हैं कि मांग की लोच नहीं है या माँग लोचयुक्त नहीं है। यह अलग 2 वस्तुओं में अलग 2 दशा लिये होती है जैसे किसी विशेष प्रकार के डिटर्जेन्ट पाउडर में 20 रुपये से 18 रुपये मूल्य कर देने पर मांग में केवल 5% की ही वृद्धि होती है जबकि 1·6 रुपये से 14.4 रुपये मूल्य कर देने पर (10% कमी करने पर) मांग अधिक बढ़ सकती है अर्थात् 15% हो सकती है। इन दशाओं में उस विशेष प्रकार के डिटर्जेन्ट के लिये ऊंचे मूल्य पर मांग अलोच युक्त होती है जबकि कम मूल्य के स्तर पर सापेक्षिक दृष्टि से लोचयुक्त होती है। इस प्रकार लोच की दशाएँ दो मूल्य स्तरों के मध्य माँग के परिवर्तन को दर्शाती है।

मांग में स्थानिक भिन्नता—किसी स्थान पर माल की माँग का स्तर निम्न बातों पर निर्भर करता है।

(1) माल या सेवा का बाजार में मूल्य,

(2) अन्य प्रकार के माल या सेवा का सापेक्षिक मूल्य,

(3) ग्राहक विशेष की पसन्द व वरीयता,

(4) ग्राहक के क्रय करने की क्षमता आदि सभी तत्व स्थानिक दृष्टि से असमानता लिये होते हैं। जिसके कारण मांग की दशाओं में भिन्नता पाई जाती है। मांग और पूर्ति की भिन्नता दूरी बढ़ने के अनुसार घटती जाती है। हम जानते हैं कि स्थानिक दृष्टि से मांग में भिन्नता पाई जाती है और पूर्ति में भी भिन्नता पाई जाती है। इसलिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर वस्तु के मूल्यों में भी भिन्नता पाई जाती है। वार्नज[1] (1959) ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया कि U. S. A. में गेहूं की क्षेत्रीय पूर्ति क्षमता व क्षेत्रीय मांग की क्षमता का प्रभाव मूल्यों पर अलग 2 स्थानों पर अलग 2 पड़ता है। उसने निष्कर्ष निकाला कि स्थानिक रूप से मूल्यों में भिन्नता स्थानिक मांग की क्षमता से सीधे व स्थानिक पूर्ति क्षमता से विपरीत रूप से सम्बन्धित होती है।

मांग की भिन्नता को गुरुत्वाकर्षण मॉडल (देखिये अध्याय-2) की तरह ज्ञात किया जा सकता है।

मांग का स्थानीयकरण पर प्रभाव—मांग भी लागत तत्वों की तरह फर्म के स्थानीयकरण को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करती है क्योंकि स्थानिक दृष्टि से इसमें काफी विषमताएँ पाई जाती हैं जो उत्पादक के लिए एक महत्व-पूर्ण व जटिल लागत तत्व है एवं स्थानीयकरण की समस्या को अधिक जटिल बनाने वाला है। वस्तु का मूल्य एवं अन्य वस्तुओं का सापेक्षिक मूल्य तो ज्ञात किया जा सकता है। लेकिन वस्तुओं की मांग, मांगकर्त्ता की पसन्द व वरीयता एक मनोवैज्ञानिक पहलू है। जिसको आंकना बहुत कठिन है। वैसे भी मांग के अनुसार फर्म की स्थिति का निर्धारण बहुत कठिन है फिर भी हर उत्पादक मांग के स्तर एवं मांग की लोच आदि का ध्यान उत्पादन प्रक्रिया को अपनाते समय अवश्य रखता है और इसका प्रभाव स्थानीकरण पर पड़ता है। पश्चिमी यूरोप में प्रारम्भ में कोयले की अधिक मांग से अर्थ-तन्त्रों का विकास कोयला क्षेत्रों के निकट हुआ लेकिन 20 वीं शदी के मध्य पेट्रोलियम के कारण कोयले की मांग घट गई जिससे कई कोयला क्षेत्रों की अर्थ व्यवस्था उजड़ गई। ऐसी व्यवस्था को पुनः उत्पादन की दशा में लाना बहुत कठिन है :

सरलीकृत आर्थिक भू-दृश्य में मांग के प्रभाव के कारण अर्थ व्यवस्था के जटिल रूप को हमने देखा है। फर्म की या केन्द्रीय स्थान की स्थिति पर मांग का प्रभाव पदानुक्रमीय षट्कोणीय प्रारूप (Hierarchical Hexagonal Pattern) के रूप में विकसित होता है। इसी प्रकार कृषि व्यवस्था में किसी

नगर की मांग के अनुसार संकेन्द्रीय वलयों के रूप में भूमि-उपयोग का प्रारूप विकसित होता है। यह सब मांग, पूर्ति व मूल्यों पर आधारित है। अकेले मांग से अर्थतंत्र का विकास नहीं होता है बल्कि पूर्ति व मूल्य भी इसके स्थानिक प्रारूप को प्रभावित करते हैं। इन सब का प्रभाव फर्म और सम्मिलित रूप में अर्थ व्यवस्था की स्थिति पर देखने में आता है। इस प्रकार मांग और पूर्ति का यह चक्र ही स्थिति को प्रभावित करता है जो स्वयं भी स्थानिक दृष्टि से भिन्नता लिये हुये है। मांग और पूर्ति को निम्नांकित तत्व प्रभावित करते हैं—

मांग का न्यूनतम स्तर—मांग का न्यूनतम स्तर होना आवश्यक है। इसके लिये पर्याप्त जनसंख्या आवश्यक है। यदि जनसंख्या घनी है तो यह स्तर शीघ्र पूरा हो जाता है।

दूरी का प्रभाव—जैसे 2 दूरी बढ़ती है। मांग का प्रभाव कम होने लगता है। यह प्रभाव या तो अधिक परिवहन खर्च या अधिक समय लगने के कारण होता है।

पूर्ति के साधन—मांग के साथ ही पूर्ति या पूर्ति के साथ ही मांग का होना आवश्यक है। दोनों का एक दूसरे के बिना कोई महत्व नहीं है।

लोगों की पसन्द, वरीयता, क्रय क्षमता व आदत का भी मांग पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि ये सब बातें मानव व्यवहार की दृष्टि से भिन्न 2 होती हैं अतः ये भी व्यक्ति विशेष की उम्र, आर्थिक स्तर, इज्जत, व्यक्तित्व, शिक्षा, लिंग व मानसिक योग्यता आदि से प्रभावित होती है। अतः मांग अलग 2 क्षेत्रों में भिन्न 2 होती हैं जिसका प्रभाव स्थिति पर पड़ता है।

पैमाने की बचतें (Economies of Scale)

फर्म के स्थानीयकरण में उत्पादन का पैमाना भी बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि एक निश्चित स्तर तक ही उत्पादन लाभ दायक होता है। उससे अगर उत्पादन कम होता है तो अलाभप्रद दशा रहती है। उत्पादन का पैमाना दो प्रकार का हो सकता है।

(i) छोटे पैमाने पर उत्पादन (Small Scale Production)

(ii) बड़े पैमाने पर उत्पादन (Large Scale Production)

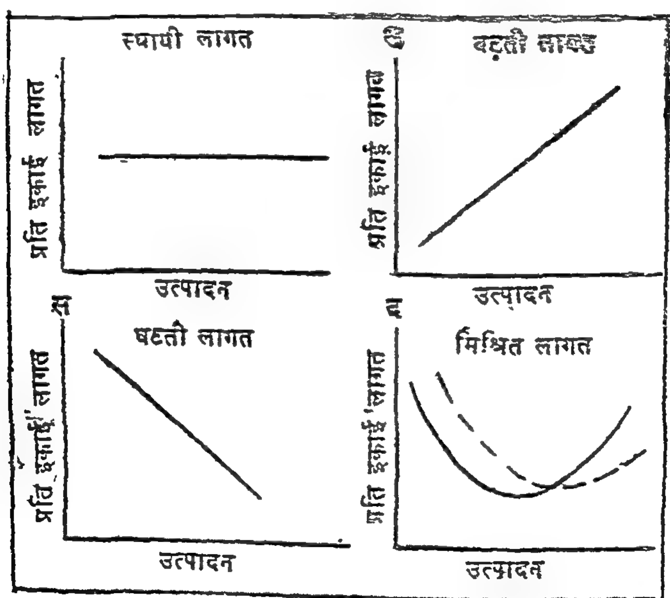
अब तक के अध्ययन में हम यह मानकर चले हैं कि प्रति इकाई लागत स्थिर हैं जबकि वास्तव में प्रति इकाई लागत उत्पादन के पैमाने पर निर्भर करती है। उत्पादन के स्तर से प्रतिफल (Returns) की तीन प्रकार की दशाएँ उत्पन्न होती हैं—

[i] जिस मात्रा में लागत तत्वों का उपयोग होता है यदि उसी अनुपात में उत्पादन बढ़ता है तो इसे पैमाने के स्थिर प्रतिफल (Constant return to Scale) कहते हैं—

[ii] जिस मात्रा में लागत तत्वों का उपयोग होता है उसकी अपेक्षा उत्पादन में अगर विस्तार होता है तो इसे पैमाने का वृद्धिमान-प्रतिफल (Economies of Scale) कहते हैं।

[iii] अगर लागत तत्वों की मात्रा के अनुपात में उत्पादन कम होता है तो इसे अलाभप्रद पैमाने की बचत या पैमाने के ह्रास मान प्रतिफल (Diseconomies of Scale) कहते हैं।

चित्र संख्या 7.2 के अनुसार इन दशाओं को स्पष्ट किया गया है। अ में स्थिर प्रतिफल को दर्शाया गया है। ब मे वृद्धिमान प्रतिफल स्पष्ट है। अर्थात् अधिक मात्रा में उत्पादन से प्रति इकाई लागत कम आती है। स में ह्रास मान



चित्र संख्या 7.2

प्रतिफल को दर्शाया गया है। इसमें अधिक मात्रा में उत्पादन से प्रति इकाई लागत बढ़ती है। द एक मिश्रित स्वरूप को दर्शाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक फर्म का लम्बी अवधि का औसत लागत वक्र (Average cost curve) उसके जीवन की तीनों दशाओं को प्रकट करता है।

सामान्यत: अनुकूलतम आकार तक उत्पादन से बचतें होती है। अनुकूलतम

स्तर पर, न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन से बचतें प्राप्त की जा सकती हैं। इससे अधिक मात्रा में उत्पादन की दशा अलाभप्रद होने लगती है। इसके फलस्वरूप अंग्रेजी के U आकार का वक्र बनने लगता है। लेकिन यहां यह भी स्मरणीय है कि फर्म के आकार के अनुपात में प्रति इकाई उत्पादन लागत भी भिन्न 2 होती है वर्तमान में विशाल पैमाने पर उत्पादन की प्रवृत्ति बढ़ रही हैं। आविष्कारों व बैंकों की सुविधाओं ने इस मनोवृत्ति को अधिक प्रोत्साहित किया है। इससे बचत भी अधिक होती है जिसे उत्पादन क्षमता की बचत कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है

(अ) उत्पादन शक्ति की बचत—बड़े पैमाने पर उत्पादन से फर्म की उत्पादन शक्ति बढ़ती है व कम लागत पर अधिक मात्रा में माल को तैयार किया जाता है। उत्पादन शक्ति की बचतें दो प्रकार की होती हैं—

(i) बाह्य बचतें (External Economies)

(ii) आन्तरिक बचतें (Internal Economies)

(i) बाह्य बचतें—इस प्रकार की बचतों का सम्बन्ध उत्पादन इकाई (फर्म) के बाहर से प्राप्त होने वाली सुविधाओं से है। इनका सम्बन्ध फर्म के आन्तरिक संगठन से लगभग नहीं के बराबर होता है इनसे फर्म विशेष ही नहीं बल्कि सारा उद्योग प्रभावित होता है। जैसे–माल अधिक मात्रा में खरीदने पर सस्ता मिल जाता है। अधिक मात्रा में माल उपलब्ध होने पर ट्रान्सपोर्ट कम्पनियां भाड़े की दर कम रखती हैं। इसमें स्थानीय करण के लाभ, यातायात व संचार-सुविधाओं के विकास के लाभ, बाजार व बैंकों की सुविधाओं के लाभ आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार की बचतों को आगे 'समूहन' शीर्षक भाग में अधिक विस्तृत रूप से स्पष्ट किया गया है।

(ii) आन्तरिक बचतें—इस प्रकार की बचतों का सम्बन्ध फर्म की आन्तरिक व्यवस्था व संगठन से है। यह उत्पादन इकाई में होने वाली सुविधाओं व सुधारों से सम्बिन्धित होती है। ये बचतें कुछ सीमा तक प्रबन्धक की व्यक्तिगत कुशलता व योग्यता पर भी निर्भर करती है। एक चतुर व अनुभवी प्रबन्धक अपनी फर्म में उत्पादन की नई व वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करके उत्पादकता को बढ़ा सकता है। नई नई बचत की विधियां खोज सकता है जिससे श्रम विभाजन के वैज्ञानिक व सूक्ष्म विकास का लाभ प्राप्त कर सकता है। आधुनिक युग में शिक्षा, विज्ञान एवं शिल्पज्ञान मे होने वाले तीव्र विकास के कारण बाह्य बचतों की अपेक्षा आन्तरिक बचतें अधिक तेजी से बढ़ रही हैं। ये लाभ धीरे 2 सभी उत्पादकों को प्राप्त होते जा रहे है।

(ब) प्रतियोगी शक्ति की बचत (Economies of competitive power) इससे तात्पर्य एक बड़ी फर्म को किसी छोटी फर्म (उसी व्यवसाय में) के साथ होने वाली प्रतियोगिता से प्राप्त लाभ से है। जहाँ उत्पादन शक्ति की बचत का लाभ बड़ी बड़ी व शक्तिशाली फर्मों को ही होता है। यह बचतें दो रूपों में प्राप्त होती हैं—

(1) एक बड़ी फर्म छोटी फर्म का व्यवसाय छीनने में सफल हो जाती है। बड़ी फर्में अपना विज्ञापन करती हैं। बिक्री की तुलना में विज्ञापन व्यय भी कम होता है क्योंकि एक साथ कई उत्पादों का विज्ञापन दिया जाता है। विभिन्न पत्र, पत्रिकाएँ, अखबार आदि इसके लिये कम मूल्य लेते हैं। बड़ी फर्म को बिक्री की तुलना में एजेन्ट व बिक्री के डिपो भी कम रखने पड़ते हैं इसलिये छोटी फर्में प्रतियोगिता में नहीं ठहर पाती हैं और वे प्रतियोगिता से बाहर हो जाती हैं।

(2) एक बड़ी फर्म के लिये मजदूरी-दर को कुछ कम रखना व उपभोक्ताओं को ऊंची दर पर माल बेचना बहुधा सम्भव होता है। इससे बड़े उत्पादकों को तो लाभ प्राप्त होता है लेकिन समाज को हानि होती है। इसके अतिरिक्त बड़ी फर्मों की बाजार में साख एवं प्रतिष्ठा होती है। इसी प्रतिष्ठा के कारण सस्ती सामग्री की विस्तृत सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जिसके कारण छोटी फर्मों का प्रतियोगिता में ठहरना कठिन हो जाता है।

उत्पादन पैमाने की बचत का आधार (Basis of Economies of Scale)

मानव शक्ति व उपकरणों का विशिष्टीकरण—जैसे 2 फर्म विकसित होती जाती है। अधिक विस्तृत मात्रा में उत्पादन के लिये श्रम शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग होता है। श्रम विभाजन को चरम सीमा तक ले जाकर, श्रमिक को उसकी योग्यता के अनुसार काम दिया जा सकता है जिससे उत्पादन क्षमता बढ़ती है एवं उत्पादन व्यय घटता है। इसी प्रकार मशीनें व अन्य उपकरणों का विशेष उपयोग हो सकता है। इस प्रकार के उद्योगों में विशेष प्रकार की मशीनों का उपयोग किया जा सकता है जो महंगी होती है। जिन्हें छोटे उद्योगपति धनाभाव के कारण या अलाभप्रद उपयोग के कारण उपयोग नहीं करते हैं।

निपुण व योग्य कर्मचारियों का उपयोग—एक छोटे उत्पादक को प्रायः खरीदने, बेचने, व्यवस्थापक, उत्पादक, वितरक, मालिक, लेखा व सम्पर्क अधिकारी आदि के सभी कार्य करने पड़ते हैं। जबकि बड़ी उत्पादन व्यवस्था में हर कार्य के लिये निपुण व योग्य व्यक्तियों को रखना व उपयोग करना सम्भव है।

नये यन्त्रों का उपयोग—बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिये नवीनतम मशीनों व यंत्रों का उपयोग सम्भव है क्योंकि उसके पास अधिक धन होता है। इसी प्रकार बड़ा उत्पादक मरम्मत के लिये निजी व्यवस्था कर सकता है।

आविष्कार व अनुसन्धान— एक बड़े पैमाने का उत्पादक अपने लिये आविष्कार व अनुसंधान का प्रबन्ध भी कर सकता है। वह ऐसे कार्यों में लगे वैज्ञानिकों की सेवाएँ भी प्राप्त करता है। जो उसके उत्पादन की क्षमता को बढ़ा सकें।

विशाल सुरक्षित भंडारण—सभी प्रकार की उत्पादक इकाईयां अस्थाई रूप से माल उपकरणों व यन्त्रों का सुरक्षित भंडार रखती है। बड़ी ईकाइयों को संकट के समय में सुरक्षित भंडारण से छोटे उत्पादकों की तुलना में अपने पैरों पर खड़े रहना अधिक सरल होता है। इसी प्रकार बड़े उत्पादक को अपेक्षाकृत कम उपकरणों व यंत्रों का सुरक्षित भंडार रखना पड़ता है। जहां एक ही प्रकार की कई मशीने लगी हो क्योंकि सभी मशीनों में एक साथ एक ही प्रकार की खराबी नहीं होती है। अतः बचत होती है जबकि छोटे उत्पादक को सुरक्षित उपकरण व यन्त्रों के रखने में अधिक खर्चा करना पड़ता है।

अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग— बड़ी उत्पादन व्यवस्था में बचे हुये माल को फेंकने की आवश्यकता नहीं होती है बल्कि वे बचे हुये माल का उपयोग किसी अन्य प्रकार की वस्तु के उत्पादन में कर लेते हैं। जैसे वस्त्र उद्योग वाले छोटे 2 धागों के टुकड़ों को दरिया बनाने के काम में ले लेते हैं या चीनी उद्योग वाले गन्ने की बची हुई खोई का उपयोग कागज बनाने में कर लेते हैं। लेकिन छोटे उत्पादक ऐसा नहीं कर पाते हैं क्योंकि वहां इनकी मात्रा बहुत कम होती है।

विशाल पैमाने पर खरीदने व बेचने में बचत— बड़े उत्पादक को माल खरीदने व बेचने में भी बचत होती है। कच्चा माल बेचने वाले बड़े उत्पादक को अपना ग्राहक बनाने को इच्छुक रहते हैं। जिसके कारण बड़ी फर्म को माल बढ़िया किश्म का व सस्ता मिल जाता है। साथ ही बड़ी फर्म का बाजार अधिक विस्तृत होता है अतः वह शीघ्र व नियमित मांग की पूर्ति करती रहती है। वह कम व्यय पर भी माल की पूर्ति कर सकती है। बड़ी फर्म योग्य विक्रेताओं, एजेन्टों व बिक्री विशेषज्ञों की सेवाएं प्राप्त कर सकती है। इससे बाजार की सही स्थिति का ज्ञान होता रहता है व बिक्री व्यय कम होता है।

शक्ति के उपयोग में बचत—बड़ी उत्पादन व्यवस्था में शक्ति के उपयोग में भी बचत हो सकती है। बड़ी व नवीन प्रकार की मशीनों के कारण प्रति इकाई उत्पादन में शक्ति का व्यय कम होता है। इसी प्रकार विद्युत पूर्ति का कार्य ग्रिड व्यवस्था से पूरा किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक फर्म को

अलग 2 से सुरक्षित व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती है। अतः बचत होती है।

विज्ञापन लाभ—बड़ी फर्म. छोटी फर्मों के मुकाबले विज्ञापन पर अधिक व्यय करके बिक्री अधिक बढ़ा सकती है और अधिक लाभ प्राप्त कर सकती है।

पैकिंग व्यय में कमी—बडी उत्पादन व्यवस्था में वस्तुओं पर होनेवाला पेकिंग का खर्च भी कम होता है क्योंकि यह कार्य मशीनों द्वारा शीघ्रता से कम व्यय पर हो जाता है। इससे पेकिंग पर होने वाला खर्च कम होने से बचत होती है।

परिवहन व्यय में मितव्ययता— यातायात कम्पनियां अधिक माल मंगाने व भेजने वाली फर्मों को भाड़े की दर में छूट दे देती है। अतः अन्य लोग भी अधिक माल की पूर्ति व निकासी के लिये नीची दरें रखते हैं।

पूंजी के उपयोग में बचत— बड़े उत्पादकों की साख ऊँची होती है। अतः उन्हें कम ब्याज पर व अधिक मात्रा में ऋण उपलब्ध हो जाते हैं।

उपरी व्यय में कमी—बड़ी उत्पादन इकाई में कार्यालय प्रबन्ध, भूमिया फैक्ट्री का लगान, विज्ञापन व्यय, प्रशासनिक व्यय आदि उपरी व्यय साधारणतः स्थिर व निश्चित होते हैं। जैसे 2 उत्पादन बढ़ता है यह व्यय उत्पादन की अधिक इकाइयों पर फैलता जाता है। अतः प्रति इकाई उत्पादन व्यय कम होता जाता है।

विशाल पैमाने पर उत्पादन की व्यवस्था से जहां उत्पादक को लाभ होता है वहां समाज को भी लाभ होता है यह कई प्रकार से हो सकता है।

(i) समाज को वस्तुऐं सस्ती दर पर उपलब्ध होती है,

(ii) बड़े कारखानों के लिये श्रमिकों को कई सुविधाऐं उपलब्ध हो जाती है जैसे ऊँचे वेतन, मकान, चिकित्सा सुविधा आदि।

(iii) समाज का जीवन स्तर ऊँचा उठता है।

(vi) समाज में योग्य व्यक्तियों को योग्यता के अनुसार कार्य मिल जाता है।

(v) श्रमिकों में कल्याण के लिये श्रम संघों का आविर्भाव होता है।

लेकिन विशाल पैमाने पर उत्पादन की भी एक सीमा होती है उससे आगे इनसे बचत प्राप्त नहीं की जा सकती है यह कई बातों पर निर्भर करती हैं जैसे–

(i) वस्तु की मांग का अधिक समय निम्न स्तर पर रहना।

(ii) मशीनों की मंहगाई।

(iii) उत्पादित वस्तु में कलात्मक वस्तुओं की मांग।

(iv) प्रबन्ध की भीतरी जटिलता।

(v) बाजार की प्रकृति एवं बाह्य सम्बन्ध आदि कई तत्व है। जो बडे

पैमाने पर होने वाली बचतों की सीमा नियंत्रित करते हैं। विशाल पैमाने पर होने वाले उत्पादन में कई हानियां भी होती है। जैसे-

(i) **छोटे उत्पादकों से कट्टर प्रतियोगिता होती है**—जिसके कारण कुछ उत्पादकों का एकाधिकार हो जाता है, वे वाद में ममाज का शोषण करते हैं। वे अपनी आर्थिक शक्ति का दुरुपयोग करते हैं।

(ii) **श्रमिक सम्बन्धों में तनाव** मालिक व श्रमिकों में आपसी सम्पर्क कम हो जाता है। अतः एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझ नहीं पाते जिसके कारण श्रमिक सम्बन्धों में तनाव आता है। हड़ताल व तालाबन्दी होती है।

(iii) **पूंजीवाद को प्रोत्साहन**— एकाधिकार की प्रवृत्ति से पूंजीवाद को प्रोत्साहन मिलता है।

(iv) **वितरण में असमानता**—बड़े पैमाने के उत्पादन से छोटे उत्पादक प्रतिस्पर्द्धा में टिक नहीं पाते हैं। अतः देश के भीतर उत्पादित धन के वितरण में असमानता बढ़ जाती है।

(v) **रूचिप्रद वस्तुओं का उत्पादन न होना**— कई वस्तुओं का उत्पादन छोटे स्तर पर बढ़िया किस्म का रखा जा सकता है। व्यक्ति विशेष की रुचि के अनुसार शुद्धता, कलात्मकता पर ध्यान छोटे स्तर पर रखा जा सकता है। विशाल पैमाने पर उत्पादन की दशा में वस्तु की किस्म घट जाती है। व लोगों को रूचि की वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती है।

(vi) **आर्थिक संकट**—विशाल पैमाने पर उत्पादन के कारण बाजार की मांग के बारे में सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि बाजार अधिक विस्तृत होता है। अतः कभी मांग के अनुपात में अधिक व कभी कम उत्पादन की समस्या उत्पन्न हो जाता है।

इन दशाओं को अनुभव करते हुये भी 19 वीं सदी के अन्तिम वर्षों में बड़ी फर्मों का आकार बढ़ा है। और उत्पादक इकाईयां अधिक बचत के लिये अधिक मात्रा में उत्पादन की प्रवृत्ति को अपनाती रही है लेकिन इस प्रकार की बचतों को भी एक निश्चित बिन्दु तक उत्पादन मात्रा बढ़ाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। इसे न्यूनतम आदर्श स्तर (Minimum optimal Scale) कह सकते हैं। बैन[2] (1954) के अनुसार इस न्यूनतम आदर्श स्तर (mos) से कम उत्पादन करने पर उत्पादक इकाई पूर्ण क्षमता वाली नहीं होती है। और उत्पादन लागत अधिक होती है तथा इस स्तर से अधिक मात्रा में उत्पादन से अधिक क्षमता प्राप्त नहीं की जा सकती है। इस प्रकार न्यूनतम आदर्श स्तर (mos)

पर ही प्रति इकाई उत्पादन लागत में कमी व अधिकतम बचत प्राप्त की जा सकती है।

इस प्रकार सरलीकृत मॉडल की दशाओं में न्यूनतम आदर्श स्तर के आधार पर, उपलब्ध तकनीक से, न्यूनतम औसत लागत प्राप्त की जा सकती है। तथा बाजार के औसत भाग को एक फर्म के न्यूनतम आदर्श स्तर पर अनुकूलतम पूर्ति के लिये दिया जा सकता है और ऐसी इकाईयां की संख्या भी उस क्षेत्र में निश्चित की जा सकती है। लेकिन समय व तकनीक में परिवर्तन से इनमें भिन्नता आ सकती है।

उक्त दशायें वास्तविक दशाओं से भिन्न है। वास्तविक विश्व की दशाओं में ऐसे जटिल प्रश्नों का हल प्राप्त करना इतना सरल नहीं है। जैसा कि क्रिस्टलर[3] का षट्कोणीय या वानथूईनेन[4] का वलय प्रारुप प्राप्त किया जा सकता है। वास्तविक दशाओं में सबसे महत्वपूर्ण न्यूनतम आदर्श स्तर (mos) भी लगातार परिवर्तनशील है। ऐसा कोई विशिष्ट पैमाना नहीं है, जिसके अनुसार कोई फर्म लगातार विकसित होती हुई खुली व्यवस्था में, उसे प्राप्त करने का प्रयास कर सके। इस सम्बन्ध में ब्लेयर[5] (1942), बैन[6] (1954, 1968) तथा प्रेटन व डीन[7] (1965) के द्वारा किये गये अध्ययन बताते हैं कि विभिन्न उद्योगों में व एक ही उद्योग में न्यूनतम आदर्श स्तर (mos) में भी काफी विविधता पाई जाती है। बैन[8] (1968) के अनुसार वास्तविक दशाओं में पैमाने की अलाभप्रद बचतें अपर्याप्त होती है अर्थात् न्यूनतम आदर्श स्तर से कम या अधिक उत्पादन से हानियां बहुत कम होती हैं। और बड़ी फर्मों द्वारा इन्हें बहुत कम अनुभव किया जाता है। बैन ने इसका कारण वहां पर 'विक्रेताओं का केन्द्रित' (Seller's Concentration) होना या बड़ी इकाईयों का अधिक प्रभाव होना बताया। प्रेड[9] (1966) के अनुसार 19 वीं शदी के अन्त में व 20 वीं शदी के प्रथम 25 वर्षों में U. S. A. में बड़े उद्योगों का अधिक विकास हुआ जबकि छोटे उद्योगों का महत्व घटा है। ब्रिटेन में भी ऐसा ही हुआ है। इसके मुख्यत: तीन प्रभाव सामने आये हैं—

[i] कुल उत्पादन में वृद्धि हुई है तथा बड़े उद्योगों की संख्या में कम वृद्धि हुई है।

[ii] प्रत्येक फर्म या प्लांट का औसत आकार बढ़ा है जिससे कुल उत्पादन एवं उनमें कार्यकर्त्ताओं की संख्या में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है।

[iii] कुछ बड़ी फर्मों या कम्पनियों द्वारा ही अधिकांश प्लाटों का संचालन हो रहा है और वे अपेक्षाकृत बहुत विशाल हो गई है।

इसी प्रकार का परिवर्तन खुदरा व्यापार व कृषि व्यवस्था में भी आकार व संगठन की दृष्टि से आया है। विशेषकर विकसित देशों में खेतों का आकार बड़ा हुआ है। शरन[10] (1962) ने उपरी दामोदर घाटी के सालगवन ग्राम में कृषि उत्पादन में वृद्धि को भूमि संरक्षण, भूमि के एकत्रीकरण व सिंचाई की सुविधाओं के कारण संभव होना बताया। लेकिन यह सब केवल पैमाने की बचतों के कारण ही नहीं, बल्कि अन्य आर्थिक, सामाजिक कारणों से भी संभव हुआ है। आज के तकनीकी विकास के कारण वास्तव में छोटी उत्पादक इकाईयां सापेक्षिक दृष्टि से खर्चीली कही जा सकती है। यद्यपि सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से छोटी उत्पादक इकाईयां कम होने लगी हैं फिर भी वे अब भी प्रभावशाली है। यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कौन सी इकाई को बड़ा माना जाय और कौनसी को छोटी ?

कुछ विद्वान उत्पादक इकाई में लगे व्यक्तियों की संख्या को आधार मानते हैं। कुछ उसके आकार को। जबकि कुछ उसकी विशेषताओं के आधार पर छोटा या बड़ा मानते हैं। केपलन[11] (1948) के अनुसार जहाँ विशेषज्ञ हो, श्रम का विभाजन हो, शोध व विश्लेषण की सुविधा हो, समय समय पर वित्तीय सुविधाएँ उपलब्ध हो, विस्तृत बाजार पर निर्भरता हो तो उसे बड़ी इकाई कहते हैं और जहां ये सब सुविधाएँ न हो उसे छोटी इकाई माना जा सकता है। चाहे उसके व्यापार की मात्रा अधिक हो। केपलन द्वारा प्रस्तावित इसी वर्गीकरण में सन्देह की काफी गुंजाइश है। लेखक के अनुसार फिर भी केपलन द्वारा प्रस्तावित विशेषताओं में से श्रम विभाजन, विस्तृत बाजार व बड़े पैमाने पर उत्पादन को वर्गीकरण का आधार माना जा सकता है।

छोटी इकाईयों का महत्व—इन बड़ी इकाईयों के होते हुये भी छोटी उत्पादक इकाईयां अस्तित्व में हैं। वे अब भी लोकप्रिय बनी हुई हैं क्योंकि—

[i] तकनीकी विकास से यद्यपि बड़ी इकाईयों को लाभ हुआ है लेकिन जहां तक नवीनीकरण का प्रश्न है, यह छोटी इकाईयों में ही आसानी से सम्भव है।

[ii] कुछ दशाओं में छोटे पैमाने पर उत्पादन अधिक लागत मूल्य के बिना भी जारी रखा जा सकता है।

[iii] जिन उद्योगों में विशेष कुशलता, सावधानी एवं योग्यता की आवश्यकता होती है। वहां छोटी इकाईयां अधिक सफल होती हैं। जैसे जेवर बनाना, गलीचे बनाना आदि।

[iv] व्यक्तिगत एवं व्यावसायिक स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये भी छोटे पैमाने पर उत्पादन अधिक महत्वपूर्ण है।

[v] सीमित बाजार वाली वस्तुओं का उत्पादन छोटे पैमाने पर ही होता है।

[vi] अस्थिर मांग वाली वस्तुओं का उत्पादन भी छोटे पैमाने पर ही लाभप्रद होता है।

[vii] जिन व्यवसायों में ग्राहकों की रूचि का विशेष महत्व होता है वहां भी छोटे पैमाने पर उत्पादन होता है।

[viii] छोटी फर्में बड़ी फर्मों के लिये पूरक का कार्य भी करती हैं।

इन्हीं सब कारणों से छोटे स्तर पर उत्पादन व्यवस्था आज भी बराबर बनी हुई है लेकिन वृहद् उत्पादन व छोटे स्तर पर उत्पादन की दशाओं को नियंत्रित करने वाली दशाएँ भी अलग 2 होती हैं अतः उत्पादन का पैमाना भी स्थिति को प्रभावित करता है यह एक सैद्धान्तिक तथ्य है न कि स्थानिक। लेकिन वास्तविक जगत की जटिलताएँ विकसित करने में उत्पादन के पैमाने का भी काफी प्रभाव पड़ता है।

उत्पादन का पैमाना व मांग का स्थिति निर्धारण पर प्रभाव

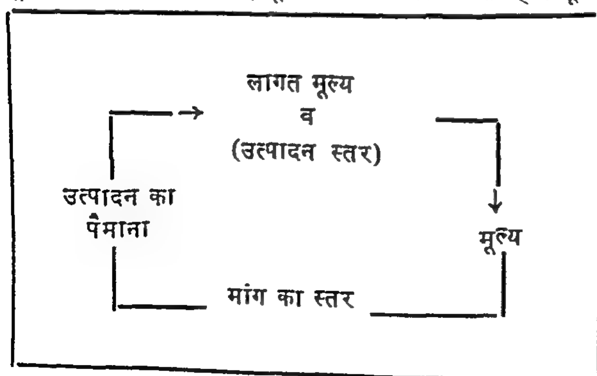
उत्पादक को स्थिति का चयन करने में मुख्यतः निम्न तीन प्रकार की समस्याएँ अनुभव होती हैं।

(1) विस्तृत क्षेत्र से लागत तत्वों को एकत्रित करने तक की समस्याएँ।

(2) उत्पादन प्रक्रिया व उत्पादन स्तर की समस्याएँ।

(3) उत्पादित माल को बाजार तक पहुंचने से सम्बन्धित समस्याएँ।

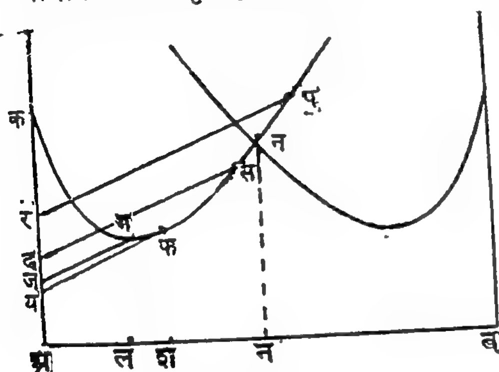
ये तीनों ही एक दूसरे से बहुत सम्बन्धित हैं इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है एक का प्रभाव दूसरे पर आवश्यक रूप से पड़ता है लागत मूल्य व उत्पादन का स्तर, मूल्य को प्रभावित करता है। मूल्य मांग के स्तर को प्रभावित करता है, मांग का स्तर उत्पादन के पैमाने को प्रभावित करता है और उत्पादन का पैमाना लागत को प्रभावित करता है इस प्रकार से एक चक्र पूरा हो जाता है जो इनके आपसी सम्बन्धों की घनिष्टता को स्पष्ट करता है। जैसा कि चित्र संख्या 7.3 में दर्शाया गया है।



चित्र संख्या 7.3

उत्पादन व्यवस्था की स्थिति से सम्बन्धित अधिकांश सिद्धान्तों में उत्पादन के पैमाने को बहुत कम महत्व दिया जाता है इसे एक गौण तत्व माना जाता है जो कि किसी अर्थ व्यवस्था की स्थिति के बाजारी क्षेत्र को निश्चित करता है जिसमें पहले से ही यह माना जाता है कि फर्म अन्य बातों के आधार पर पहले से ही स्थित है जो कि सामान्यतः न्यूनतम लागत मूल्यों पर है। इस प्रकार प्रारम्भिक उपयुक्त स्थिति के चयन में, उत्पादन का पैमाना, मांग और मूल्य की पारस्परिक क्रिया का महत्व कम हो जाता है।

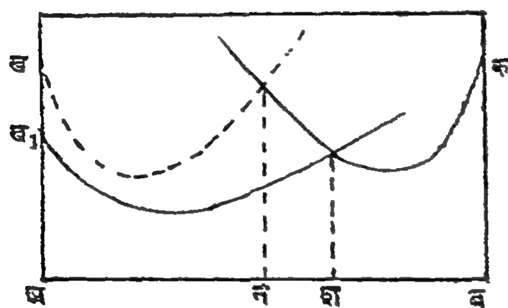
उदाहरण के लिये हूवर[12] (1937) ने बताया कि बड़े पैमाने पर उत्पादन के कारण प्रति इकाई लागत मूल्य कम हो जाते हैं उससे इकाई का बाजारी क्षेत्र विस्तृत हो जाता है जिसको उसने 'सीमान्त रेखा' (Margin line) से प्रदर्शित किया, जिसका ढ़ाल बताता है कि जैसे 2 बाजार की क्षेत्रीय विस्तार की विभिन्नता बढ़ती जाती है। वैसे 2 ही वितरण मूल्य में भी भिन्नता बढ़ती जाती है। आइजार्ड[13] (1956) ने भी इसी तरह बाजार के विस्तार व उत्पादन के पैमाने के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। चित्र 7.4 में यह माना जाये कि उत्पादित माल के केन्द्र अ के ग्राहक अ ब रेखा के सहारे स्थित है अगर केवल अ केन्द्र के ग्राहक ही माल खरीदना चाहते हैं तब उत्पादक का सीमान्त मूल्य अ क होगा लेकिन अन्य ग्राहक जो ल तक की दूरी पर स्थित है वे माल खरीदने के लिये तभी तैयार होंगे जबकि सीमान्त मूल्य ज तक कम न कर दिये जाय क्योंकि मांग बढ़ती है तो बचत का पैमाना अपनाया जायगा तब वितरण मूल्य ज ग हो जायगा ज ग, य फ, द स, व र प का ढ़ाल परिवहन लागत पर निर्भर करता है। इस प्रकार अधिक यातायात खर्च प्रति इकाई दूरी से अधिक तेज ढ़ाल वाला होगा और संभव है कि एक उत्पादक इकाई के विकास को एक सीमा से आगे अवरुद्ध कर देगा जिसके परिणामस्वरूप एक शाखा इकाई (Branch) का विकास उस बाजार के लिये होगा। और आगे श तक बाजार का विस्तार होने पर उत्पादन में और बचत को प्रोत्साहन देगा तथा वितरण मूल्य य फ हो जायगा यह आदर्श उत्पादन की स्थिति को प्रदर्शित करता है। अगर इसके बाद भी मांग बढ़ती है तो इसे पूरा करने में प्रति इकाई मूल्य



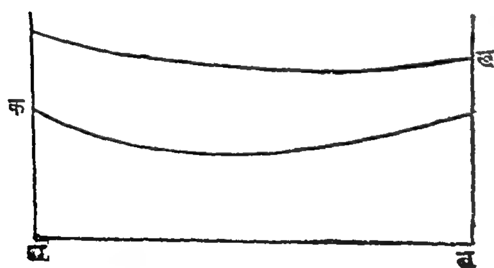
चित्र संख्या 7.4

अधिक होगा और वितरण मूल्य (उपभोक्ताओं को द स व प र रेखा मूल्य) भी अधिक होगा। इस प्रकार क, ग, फ, स, प को जोड़ने वाली वक्र रेखा सीमान्त रेखा होगी। और इस वक्र रेखा के सहारे कोई बिन्दु बाजारी क्षेत्र के किनारे के वितरण मूल्य को प्रदर्शित करेगा। अर्थात् अ से जितना दूर ग्राहक होगा वहां पर जो वितरण मूल्य होगा वह इसी वक्र रेखा से ज्ञात किया जा सकता है। यह चित्र बताता है कि दूसरा उत्पादक जो ब पर स्थित है और उसी माल का उत्पादन उसी लागत पर करता है उसकी सीमान्त रेखा भी ठीक उसी प्रकार की है जैसी कि उत्पादक अ पर केन्द्रित है। अतः दोनों का बाजार न तक हो जायगा जो दोनों के हिस्से में बराबर 2 होगा।

अगर अधिक उत्पादन के कारण एक उत्पादक दूसरे की अपेक्षा वितरण मूल्य कम रखने में सफल हो जाता है तो अ का बाजारी क्षेत्र श तक बढ़ जायगा क्योंकि अ अधिक बचत का पैमाना अपना सकता है। या प्राप्त कर सकता है और अगर अ का वितरण मूल्य ब की अपेक्षा सर्वत्र ही नीचा हुआ तो ऐसी स्थिति में ब को प्रतिस्पर्द्धा से पूर्णत अ द्वारा बाहर कर दिया जायेगा। देखिये चित्र 7.6 अ ब। इस प्रकार हूवर व आइजॉर्ड दोनों ने ही बताया कि उत्पादन का पैमाना निश्चित रूप से मांग के स्तर से सम्बन्धित है व प्रति इकाई कम लागत मांग के स्तर से सम्बन्धित होती है विशेषकर पर्याप्त मांग पर निर्भर करती है। इसे सीमान्त रेखा विचार से स्पष्ट किया जा सकता है



चित्र संख्या 7.5 (अ)

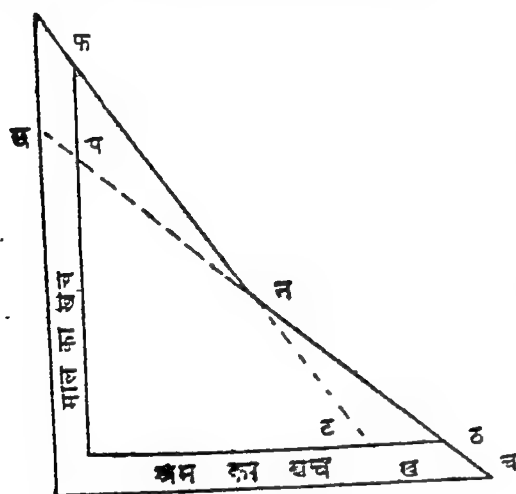


चित्र संख्या 7.6 व

लेकिन इस प्रकार के अध्ययन में यह भुला दिया जाता है कि आदर्श स्थिति भी उत्पादन के पैमाने के अनुसार भिन्नता लिये होती है। आइजार्ड के अनुसार किसी भी प्रकार की स्थिति के निर्णय में उत्पादन का पैमाना अन्य कई आधारों में से एक है और एक स्वतन्त्र चर है जैसे कि उत्पादन का पैमाना

भिन्नता लिये होता है वैसे ही परिवहन खर्च के जोड़े के मध्य या अन्य प्रकार के खर्चों के जोड़ों के मध्य, आय और व्यय आदि में स्थानापन्न बिन्दु हो सकते हैं। उदाहरण के लिये उत्पादन पैमाने में वृद्धि के लिये अतिरिक्त लागत तत्वों को अन्य स्थानों से प्राप्त करना पड़ेगा इसके कारण परिवहन लागत में वृद्धि होगी अतः स्थानापन्नता के कारण न केवल क्षेत्रीय विषमताएँ बढ़ती हैं बल्कि उत्पादन का पैमाना भी भिन्नता लिये होता है।

मान लीजिये कि एक उत्पादन प्रक्रिया के लिये दो प्रकार के लागत तत्वों की आवश्यकता होती है एक स्थानीय माल स्त्रोत 'स' स्थान पर उपलब्ध है और श्रम की पूर्ति स व बाजारी केन्द्र ब पर समान रूप से उपलब्ध हैं लेकिन ब पर श्रम सस्ता है जबकि स व ब पर श्रमिकों की उत्पादकता समान है चित्र में दो सम खर्च रेखाएँ (Iso outlay line) दिखाई गई है दोनों ही रेखाएँ, दोनों लागत तत्वों पर समान कुल लागत खर्च को बताती है रेखा क फ सम खर्च रेखा है जो 'स' स्थान के लिये उपयुक्त है तथा रेखा च छ सम खर्च रेखा ब स्थान को बताती है। दोनों में ढ़ाल का अन्तर दोनों लागत तत्वों के मूल्य का है। उदाहरण के लिये बिन्दु प और फ समान मात्रा



चित्र संख्या 7.6

में श्रम प्रदर्शित करते हैं जो कि समान खर्च पर है लेकिन माल के स्त्रोत स स्थान से फ बिन्दु पर मिलने वाला माल प की अपेक्षा अधिक मात्रा को प्रदर्शित करता है। इसके विपरीत बिन्दु ट व ठ समान खर्च पर समान पदार्थ की मात्रा को बताती है लेकिन ठ बाजार की स्थिति में ट की अपेक्षा अधिक मात्रा में श्रम को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार हमने एक ही स्तर के खर्च का अध्ययन किया है जो कि एक ही सम खर्च रेखा से सम्बन्धित है। इसी प्रकार ऐसी कई रेखाओं का क्रम लिया जा सकता है जो कि प्रत्येक प्रकार के खर्च की, लागत तत्वों को खरीदने की, स्थिति को व्यक्त करेगा। इस चित्र (7.6) के अनुसार तेज ढाल वाले भाग का वक्र स पर स्थिति को बताता है तथा सीधा वाला भाग ब की स्थिति को स्पष्ट करता है। इस प्रकार इसके अनुसार यह स्पष्ट

होता है कि जैसे 2 उत्पादन परिवर्तित होता है तो आदर्श स्थिति में भी परिवर्तन होता है।

किसी भी अर्थ व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने और विकसित करने में अर्थतन्त्र की स्थिति-निर्धारण का तथ्य बहुत महत्वपूर्ण है लेकिन इस सम्बन्ध में अधिकांश सिद्धान्त अनुकूलतम स्थिति के लिये किसी एक ही पक्ष विशेष को अधिक महत्व देते हैं। न्यूनतम लागत सिद्धान्त वाले मुख्य रूप से लागत की क्षेत्रीय भिन्नताओं को अधिक महत्व देते हैं जो स्थिति के निर्धारण में महत्वपूर्ण होती है जबकि दूसरी ओर मांग पर अधिक जोर देने वाले लागत की भिन्नता को कम महत्व देते हैं जबकि दोनों ही उत्पादन के स्तर को भूल जाते हैं या कोई महत्व नहीं देते हैं लेकिन पीछे के पृष्ठों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थिति के निर्धारण से सम्बन्धित समस्या एक पक्षीय न होकर बहुपक्षीय है। अतः लागत खर्च, आय व उत्पादन के स्तर को साथ 2 देखना चाहिये। इनमें से किसी एक में भी अगर परिवर्तन होता है तो आदर्श स्थिति में भी परिवर्तन आ सकता है।

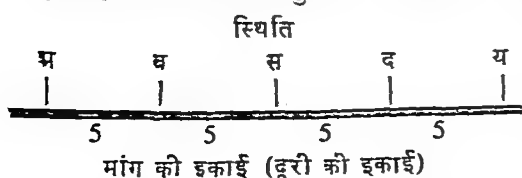
प्रतिस्पर्द्धा (Competition) इसके साथ 2 प्रतिस्पर्द्धा का महत्व भी कम नहीं है क्योकि वास्तविक दशाओं में विभिन्न उत्पादक ईकाइयों के व्यवस्थापक बाजारी क्षेत्र पर एकाधिकार स्थापित करने में स्वतन्त्र होते हैं यह कार्य मुख्यतः स्थिति को बदल कर या मूल्य निर्धारण की नीति अपनाकर किया जा सकता है। जहां तक स्वतन्त्र रूप से मूल्य निर्धारण की नीति का प्रश्न है इसमें कुछ उत्पादक इकाईयां पूर्णतः स्वतन्त्र होती है जबकि कुछ पर प्रशासनिक नियत्रण होता है। लेकिन मूल्य निर्धारण की थोड़ी सी स्वतन्त्रता का प्रभाव भी अधिक व्यापक होता है। अगर कोई उत्पादक अपने मूल्यों में कमी करता है तो अपनी विक्री को असीमित अंश तक बढ़ा सकता है तथा अपने बाजार के क्षेत्र को अधिक विस्तृत कर सकता है इसी प्रकार अगर कोई उत्पादक अपने मूल्यों को थोड़ा बढ़ाता है तो उसकी विक्री घटकर शून्य तक आ सकती है और उसका बाजार का क्षेत्र सिकुड़ जायगा या कम हो जायगा। अतः बाजार में प्रतिस्पर्द्धा, मूल्यों की दृष्टि से चलती रहती है जिसके परिणाम स्वरूप स्थिति में भी परिवर्तन आता रहता है क्योंकि बहुधा प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति में कुछ उत्पादक कई कारणों से ठहर नहीं पाते हैं अतः उनका उत्पादन रुक जाता है ऐसी स्थिति में उत्पादक इकाई को हटाना भी पड़ सकता है अर्थात् प्रतिस्पर्द्धा की दशा में उपयुक्त स्थिति के लिये प्रतिस्पर्द्धा होती है और उपयुक्त स्थिति फर्म की एक मुख्य विशेषता होती है अर्थात् एक बाजार में एक फर्म की स्थिति दूसरी फर्म की प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति से बहुत प्रभावित होती है तथा साथ ही क्षेत्रीय मूल्य निर्धारण की नीति अपनाने से भी प्रभावित होती है अतः इसके दो पहलू है—

(1) प्रति स्पर्द्धात्मक विधि से स्थिति का चयन ।
(2) मूल्य नीतियों से स्थिति का चयन ।

प्रतिस्पर्द्धात्मक विधि से स्थिति का चयन
(Selection of Location by Competition)

सामान्यत: व्यवस्थापक का मुख्य उद्देश्य ऐसी स्थिति का चयन करना होता है जिससे कि वह अधिक से अधिक बाजार के क्षेत्र (हो सके तो सम्पूर्ण बाजार) को उस मूल्य पर नियंत्रित कर सके जिससे उसको अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके । अत: द्वय अधिकार वाले (Duopolist) या अल्प अधिकार वाले (Oligopolist) अपने प्रति द्विन्दी की स्थिति व बाजार पर अधिक ध्यान देते हैं। प्रत्येक फर्म की स्थिति किसी उद्योग में दूसरी फर्मों से स्वतन्त्र होती है इस संबंध में 1929 में होटेलींग[14] ने निष्कर्ष निकाला कि अगर मांग में लोच नहीं है तो दो फर्में बाजार के केन्द्र के पास स्थापित होंगी अगर मांग में लोच है तो वे एक दूसरे से दूर *स्थित होंगी । होटलिंग ने 1929 में इस प्रकार का अध्ययन किया* जो 'बीच पर दो आइसक्रीम विक्रेता" (Two Icecream Vendors on a beach) के नाम से जाना जाता है । यह दो प्रतिद्विन्दी विक्रेताओं के मध्य का खेल है इनमें से प्रत्येक दूसरे से ज्यादा लाभ प्राप्त करना चाहता है इसलिये इसे "गेम थ्योरी" (Game Theory) भी कहा जाता है । जो इस प्रकार है—

किसी वस्तु के लिये ग्राहक द्वारा दिया गया मूल्य ग्राहक की, माल के उत्पादक स्थान से, दूरी से सीधा सम्बंधित होता है इस प्रकार की मूल्य नीति जहाज तक निस्प्रभार भूल्य व्यवस्था (Free on board pricing System) कहलाती है । या इसे उत्पादन के स्थान के बाहर का मूल्य कहते हैं जिसमें दूरी के अनुसार परिवहन का पूरा खर्च ग्राहक को देना होता है । भुगतान का यह मूल्य दूरी से सम्बन्धित होता है । यह मुख्यत: दो बातों पर निर्भर करता है । (क) विक्रेता और ग्राहक के मध्य की दूरी व (ख) प्रतिस्पर्द्धा से विक्रेताओं के मध्य का आपसी विरोध । दूरी के अनुसार जहां एक उत्पादक का बाजारी क्षेत्र सीमित होता है वहीं प्रतिस्पर्धा वाले विक्रेता के कारण भी बाजार सीमित होता है । चित्र 7.7 के अनुसार अ से लेकर य तक संभावित मांग 20 इकाई की है यहां मांग स्थाई है तथा माल खरीदने की मात्रा वस्तु के मूल्य पर निर्भर है ऐसा माना गया प्रत्येक इकाई का मूल्य 1.00 रुपया है । तब विक्रेता के लिये 5 संभावित स्थितियां होंगी अ, ब, स,



चित्र संख्या 7.7

द, य प्रत्येक समान दूरी पर है। दोनों विक्रेताओं के मध्य अधिकतम लाभ प्रद स्थिति को शुद्ध लाभ आव्यूह (Pay off Matrix) द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। जिसमें प्रत्येक वर्ग में एक के उपर दूसरे विक्रेता का शुद्ध लाभ बताता है। यहां शुद्ध लाभ से तात्पर्य दोनों विक्रेताओं की सापेक्षिक स्थिति पर बिक्री के मध्य के अन्तर से है। उदाहरण के लिये प्रथम विक्रेता अगर (I) अ प र व दूसरा विक्रेता

प्रथम विक्रेता	द्वितीय विक्रेता अ	ब	स	द	य
अ	0	--15	—10	—5	0
ब	+15	0	—5	0	+5
स	+10	+5	0	+5	+10
द	+5	0	—5	0	+15
य	0	—5	—10	—15	0

गेम थ्योरी

सारिणी सख्या 7 1

(II) स पर स्थित है तो दोनों ही 10 इकाई का बाजार बराबर बराबर बांट लेंगे जो अ व स के मध्य में है। लेकिन दूसरा विक्रेता (II) जो स पर स्थित है स व य के मध्य का सारा बाजार प्राप्त कर लेगा उसका शुद्ध लाभ (Payoff) Rs. 10.00 होगा क्योंकि स पर स्थित विक्रेता को स ब तक 5 इकाई + स ब य के मध्य 10 इकाई—अ द्वारा अ ब के मध्य = 5 इकाई के बराबर लाभ होगा। इसे उपर्युक्त सारिणी (7.1) में प्रथम पंक्ति के मध्य-वर्ती वर्ग में दिखाया गया है। यह प्रतिस्पर्द्धात्मक खेल विभिन्न परिस्थितयों में गतिशील होता है। मान लिया जाय कि पहला विक्रेता (I) बाजार में पहले प्रवेश करता है और अ पर स्थित होता है वही अकेला विक्रेता होने पर अ से य तक के क्षेत्र की सेवा करता है। जब दूसरा विक्रेता (II) बाजार में आता है तो प्रथम विक्रेता की स्थिति के कारण उसकी स्थिति का चयन भी प्रभावित होता है। अगर दूसरा विक्रेता ब पर स्थापित होता है तो वह शुद्ध लाभ प्रथम विक्रेता से Rs. 15 का उठायगा। स्पष्ट है कि प्रथम विक्रेता (I) को इससे हानि होगी तब वह बदला लेने के लिये स पर स्थापित होगा। तब दूसरे विक्रेता को (II) अपनी स्थिति के बारे में पुनः सोचना पड़ेगा अगर वह भी

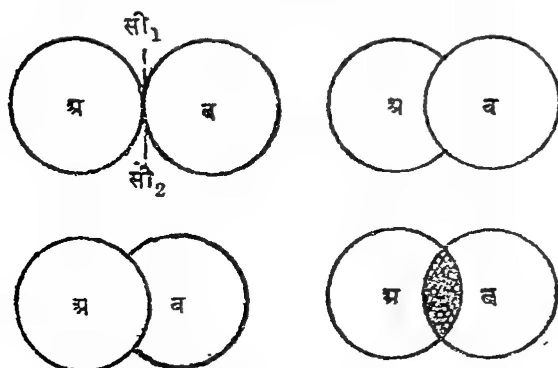
बाजार के केन्द्र स पर स्थित हो जाता है तब दोनों का बाजार बराबर बंट जायगा यह अ की ओर भी Rs. 10 होगा व य की ओर भी Rs. 10 होगा। यह संतुलन की स्थिति हो सकती है। तब मानी हुई स्थिति में कोई भी विक्रेता प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति में सुधार नहीं कर सकेगा। लेकिन इस स्थिति में यह माना गया है कि दोनों की जहाज तक निस्प्रभार (F.O.B.) मूल्य नीति समान है इसमें प्रतिस्पर्द्धा की रणनीति के अन्य पहलुओं को भुला दिया गया है। दोनों अलग 2 प्रकार की मूल्य नीति भी अपना सकते हैं तब स्थिति में परिवर्तन आ सकता है। अगर दोनों विक्रेता ब और द पर खड़े हों तो दोनों को ही बाजार का पर्याप्त एवं बराबर 2 हिस्सा प्राप्त होगा।

अब हम मूल समस्या की ओर आते हैं जहां दोनों विक्रेता पास 2 स्थित हैं अर्थात् स पर है। लेकिन एक विक्रेता के पास लोकप्रिय किस्म की आइसक्रीम है जबकि दूसरे के पास साधारण किश्म की है ऐसी स्थिति में लोकप्रिय किश्म की आइसक्रीम वाला निसन्देह अधिकांश विक्री प्राप्त करेगा। तब दूसरी किश्म वाला अन्य प्रकार की रणनीति अपना सकता है। जिसमें—

[1] वह अपनी आइसक्रीम को कम मूल्य पर बेचना शुरू करें या

[2] वह बीच (समुद्र तट) के एक ओर के भाग में जाकर आइसक्रीम बेचना शुरू करदे ताकि वहां के लोगों को कम दूरी तय करनी पड़ेगी।

इनमें से कौनसा अधिक लाभप्रद होगा यह आइसक्रीम की विश्वसनीयता, वहां के लोगों की चलने फिरने की रूचि, विक्रेता द्वारा कम किया गया मूल्य आदि कई तत्वों पर निर्भर करेगा। लेकिन लॉस[15] ग्रीन हट[16] आदि विद्वानों ने होटलिंग के इस विचार से असहमति व्यक्त की है और बताया कि वे ऐसे स्थान पर स्थित होंगे जहां बाजार विभाजित हो और बाजार का आधे से अधिक क्षेत्र प्राप्त कर सके। इस सम्बन्ध में एफ. ए फेटर[17] (1924) ने बताया कि दो व्यापारिक केन्द्रों या उद्योगों के मध्य सीमा निर्धारण कई बातों पर निर्भर करताहै जिसमें विशेषकर परिवहन लागत व उत्पादन लागत बहुत महत्वपूर्ण है। फेटर के अनुसार



चित्र संख्या 7.8

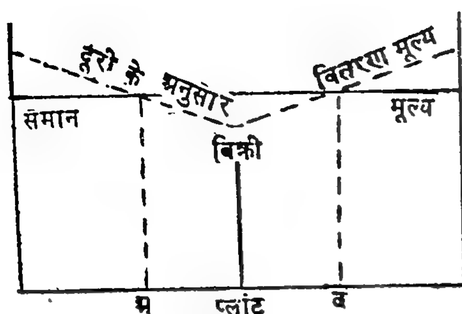
अगर किसी वस्तु की उत्पादन लागत एवं परिवहन लागत केन्द्र के चारों ओर समान रहती है तो उनके मध्य की सीमा रेखा (या बाजारी क्षेत्र) एक सरल रेखा होगी जो दोनों केन्द्रों को जोड़ने वाली रेखा के लम्बवत होगी (चित्र 7.8 के अनुसार अ ब केन्द्रों के मध्य सी$_1$ सी$_2$ रेखा)। यदि उत्पादन लागत दोनों केन्द्रों पर असमान हो तो उनकी सीमा रेखा अधिक उत्पादन लागत के केन्द्र की ओर झुकी होगी चित्र में अगर अ पर उत्पादन लागत प्रति इकाई 40/– रु० व ब केन्द्र पर प्रति इकाई 36/– रु० है अब अगर परिवहन लागत दोनों केन्द्रों से समान है तब ब का प्रभाव क्षेत्र (बाजारी सीमा) मध्य में न होकर अ की ओर बढ़ जायगा। तीसरी स्थिति में अगर उत्पादन लागत स्थिर है लेकिन परिवहन लागत में भिन्नता है। चित्र के अनुसार अ व ब केन्द्र पर उत्पादन लागत 40/– रु० प्रति इकाई है। लेकिन अ से परिवहन लागत प्रति इकाई दूरी 2/– रु० है और ब से 3/– रु० है तो इनका प्रभाव क्षेत्र फिर बदल जायगा ऐसी स्थिति में अ का प्रभाव क्षेत्र ब की ओर बढ़ जायगा। इस प्रकार दोनों के मध्य में ऐसा क्षेत्र होगा जो कि सन्देहास्पद क्षेत्र होगा जो किसी के भी प्रभाव क्षेत्र में आ सकता है। (चित्र में छायांकित क्षेत्र ऐसा ही क्षेत्र है)।

मूल्य नीति का स्थिति पर प्रभाव

(Selection of Location by Pricing policy)

वास्तविक दशाओं में अर्थ व्यवस्था अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये संघर्ष करती है या व्यवस्थापक को बराबर संघर्ष करना पड़ता है अतः प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति में व्यवस्थापक भिन्न 2 प्रकार की मूल्य नीतियां अपनाकर अधिक से अधिक बाजारी क्षेत्र को अपने प्रभाव में लाने की कोशिश करता है कभी ये उपयोगी होती है कभी अनुपयोगी भी होती है। मूल्य नीति का निर्धारण कई प्रकार से होता है—

समान वितरण मूल्य नीति का प्रभाव—(Uniform Delivered Price)—बहुधा एक विक्रेता अपने प्रतिद्विन्दी विक्रेता से कम दर पर मूल्य वसूल करता है इसे कुछ या सम्पूर्ण मात्रा में दूर रहने वाले ग्राहकों के लिये परिवहन खर्च को स्वयं सहन करके प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिये फर्म एक विस्तृत क्षेत्र में एक समान वितरण मूल्य की नीति अपनाती है। लेकिन चित्र 7.9 के अनुसार उत्पादन केन्द्र के नजदीक के उपभोक्ताओं के प्रतिकूल है जबकि यह दूर के उपभोक्ताओं के लिये अधिक अनुकूल होती है अर्थात् नजदीक के ग्राहकों को अधिक मूल्य देना पड़ता है जबकि दूर के ग्राहक अधिक दूरी के बावजूद भी कम मूल्य देते हैं। चित्र (7.9) के अनुसार अ और ब के मध्य के ग्राहकों को अधिक मूल्य देना पड़ता है और इससे बाहर के ग्राहकों को दूरी के अनुपात

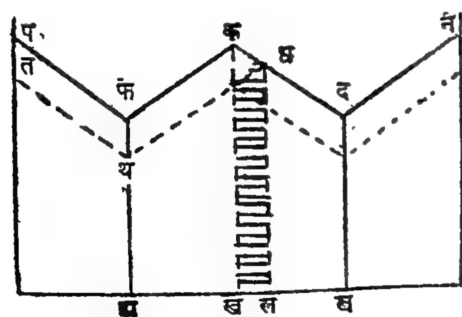


चित्र संख्या 7.9

में कम मूल्य देना पड़ता है क्योंकि सभी जगह वितरण मूल्य समान है। अतः व्यवस्थापक ऐसे क्षेत्र में प्लांट को स्थापित करने के यत्न करता है जहां संभावित ग्राहकों की अधिकतम संख्या अ और ब के मध्य हो व्यवस्थापक जब तक अ और ब के मध्य प्राप्त लाभ, अ और ब के बाहर के ग्राहकों से होने वाले घाटे से अधिक प्राप्त करेगा, तब तक उत्पादन समान मूल्य पर जारी रख सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था सामान्यतः दूर के ग्राहकों की सुविधा एवं अधिक विस्तृत बाजार प्राप्त करने के लिये अपनाई जाती है। जैसे लायफ बॉय, लक्स, रेक्सोना साबुन का मूल्य।

असमान मूल्य नीति—(Non-Discriminating Price System)—

यह व्यवस्था उत्पादन केन्द्र से ग्राहकों की दूरी पर निर्भर करती है अर्थात् दूर स्थित ग्राहकों को दूरी के अनुसार वस्तु का मूल्य देना (वस्तु का मूल्य + दूर तक पहुंचाने की लागत) होता है या ग्राहक को वस्तु खरीदने हेतु आने का खर्च लगता है। इसे फैक्ट्री तक निस्प्रभार (F O. B Plant) मूल्य नीति भी कहते हैं। इस नीति के कारण चित्र के अनुसार दो फर्म अ और ब एक ही माल के लिए जहाज तक निस्प्रभार (F. O. B) मूल्य लेती हैं तो दोनों ही बाजार को समान रूप से बांट लेगी चित्र (7.10) में इसे क ख रेखा से दिखाया गया है। अब अगर अ अपना मूल्य क फ प से घटाकर त थ घ कर लेता है जो संभवत अ की उत्पादन लागत कम होने से ऐसा करता है तो अ अब ब के बाजार का अतिक्रमण घ तक कर लेगा लेकिन इस प्रकार का लाभ कम समय के लिए हो सकता है क्योंकि संभव है कि ब भी अपना मूल्य अ के स्तर तक कम कर सकता है तब क ख रेखा फिर दोनों के मध्य सीमा-रेखा हो जायगी। लेकिन यहां एक ओर



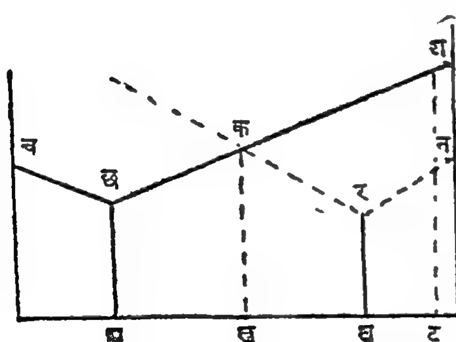
चित्र संख्या 7.10

आपसी प्रतिस्पर्द्धा से बाजारी क्षेत्र बढ़ाने का उद्देश्य होता है वहीं इस व्यवस्था में दूर स्थित ग्राहकों को अधिक मूल्य देना पड़ता है अतः उनके द्वारा अपेक्षाकृत कम माल खरीदा जायगा। ऐसी स्थिति में ग्राहक अधिक नजदीक वाले उत्पादक से माल प्राप्त करने की कोशिश करेगा क्योंकि उसका मूल्य अपेक्षाकृत कम होगा। अतः ऐसी दशा में व्यवस्थापक संभावित ग्राहकों की अधिकता के समूह के केन्द्र में ही फर्म को स्थापित करेगा।

उक्त दोनों दशाएँ अलग 2 प्रकार के उद्योगों के लिये संभव हो सकती हैं प्रथम व्यवस्था उपभोक्ता वस्तुओं में लागू रखी जा सकती है जैसे साबुन, ब्लेड्स, दवाईयां, मोजे आदि जो कि राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादन करते हैं जबकि उत्पादक माल में दूसरी प्रकार की व्यवस्था रखी जाती है। इससे भी अधिक भिन्न मूल्य वाली नीति "आधार बिन्दु मूल्य" नीति (Basing point Price System) कहलाती है।

आधार बिन्दु मूल्य नीति—(Basing point Price System)—

इस व्यवस्था में यह माना जाता है कि सभी स्थानों पर माल की पूर्ति एक ही बिन्दु (आधार बिन्दु) से होती है इसलिये मूल्य निस्प्रभार (F O.B. Price or Ex-work price) व परिवहन लागत सभी फर्मों के लिये पूर्ति के स्रोत की बजाय एक ही बिन्दु से मानी जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था कई देशों में प्रचलित थी लेकिन इसे अवैध घोषित कर दिया गया (विशेषकर U. S. A में 1948 में उच्चतम न्यायालय द्वारा पिट्स बर्ग + मूल्य नीति को अवैध घोषित कर दिया गया) फिर भी यह कुछ वस्तुओं में अब भी दूसरे रूप में लागू है।

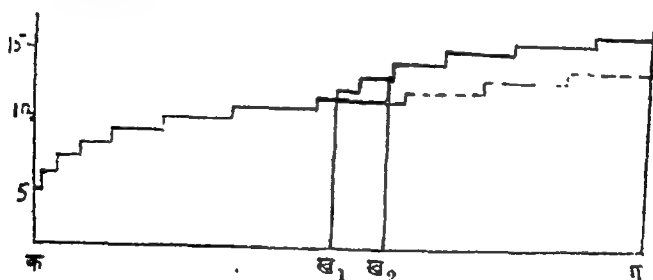


चित्र संख्या 7.11

इस व्यवस्था में चित्र (7 12) के अनुसार अ और ब दो फर्मों का बाजारी क्षेत्र क ख तक सीमित है। अगर इनमें से अ आधार बिन्दु है तब जो मूल्य वस्तु का दिया जायगा वह च छ ज होगा जो दूरी के अनुसार बढ़ता जायगा। अब अगर एक उपभोक्ता ट पर स्थित है तो वह उस वस्तु का मूल्य ट न के बजाय ट ज देगा भले ही वह ब से माल खरीदे। यद्यपि ब अपेक्षाकृत सस्ते मूल्य में ट पर स्थित ग्राहक को माल दे सकता है लेकिन आधार बिन्दु मूल्य नीति में उसे अपेक्षाकृत अधिक मूल्य देना पड़ेगा जो आधार बिन्दु पर मूल्य + दूरी के अनुसार लागत खर्च के

बराबर होगा। इस व्यवस्था में सभी एक ही प्रकार का मूल्य बताते हैं इसमें विक्रेता व ग्राहकों के मध्य की समीपता को कोई महत्व नहीं दिया गया है। इससे विशाल फर्म अपने आस पास के बाजार को आधार बिन्दु के निकट एकत्रित कर लेती है। जब कि छोटी फर्में सीमा की ओर स्थापित होती है और उन्हें ज न के बराबर अतिरिक्त लाभ प्राप्त हो जाता है अन्यथा वे अपना माल ट के उपभोक्ता को ट न मूल्य पर बेचते, जब कि इस पद्धति में वे ट ज मूल्य पर बेचती है। अर्थात् अधिक मंहगे मूल्य पर बेचती है। यह मूल्य नीति वर्षों तक गल्फ + (Gulf plus) अन्य खर्चों के रूप में पेट्रोलियम कम्पनियों द्वारा अपनाई जाती रही है।

दूरी कटिबन्धीय मूल्य नीति—जैसा कि हमने परिवहन लागत वाले अध्याय में देखा कि परिवहन लागत दूरी के अनुसार नहीं बढ़ती है बल्कि इसमें काफी भिन्नता पाई जाती है विशेषकर दूरी के अनुपात में परिवहन लागत नही बढ़ती है बल्कि जैसे 2 दूरी बढ़ती है परिवहन लागत की वृद्धि में कमी होती जाती है वैसे ही लागत लगातार न बढ़कर सीढ़ीनुमा रूप में (कटिबन्धिय रूप में) बढ़ती है (अध्ययन के लिये देखिये अध्याय 6 में दूरी कटिबन्धिय परिवहन लागत)। इसका प्रभाव मूल्य नीति पर पड़ता है और साथ ही साथ अर्थ व्यवस्था की स्थिति पर भी पड़ता है। चित्र 7 12 के अनुसार



चित्र संख्या 7.12

क केन्द्र से माल को $ख_1$ $ख_2$ आदि केन्द्रों पर पहुंचाने में परिवहन लागत में दूरी के अनुसार भिन्नता है। अगर हम यह मानें कि क पर कच्चा माल बहुत मात्रा में उपलब्ध है तथा इसकी पूर्ति $ख_1$ $ख_2$ ग आदि के केन्द्रों को दूरी कटिबन्ध के अनुसार परिवहन लागत पर की जाती है। तो $ख_1$ तक लागत 13 इकाई होगी जब कि $ख_2$ पर भी 13 इकाई होगी। अब अगर उद्योग $ख_1$ पर स्थापित किया जाय तो बना हुआ माल $ख_2$ पर अधिक कीमत पर उपलब्ध होगा क्योंकि $ख_1$ से $ख_2$ तक परिवहन लागत बदल कर बढ़ जायगी। यदि उद्योग—$ख_2$ पर ही स्थापित किया जाय तो वहां पर उत्पादित माल उसी कीमत पर उपलब्ध हो

आयगा जिस कीमत पर $ख_1$ पर उपलब्ध होता है इस प्रकार $ख_1$ का माल $ख_2$ पर मंहगा होगा अतः $ख_1$ की अपेक्षा $ख_2$ अधिक दूर स्थित होने पर भी $ख_1$ की कीमत पर $ख_2$ पर माल बेच सकता है। क्योंकि उसे क से प्राप्त होने वाला कच्चा माल $ख_1$ के मूल्य पर ही उपलब्ध हो रहा है।

(4) उत्पादन भिन्नता के आधार पर—

इसी प्रकार कुछ उत्पादक समान प्रकार की वस्तु का उत्पादन करते हैं लेकिन अपना अलग 2 मार्का (Brand) लगाकर बेचते हैं और इस प्रकार बाजारी क्षेत्र को उसी उद्योग में अपने प्रतिद्विन्दियों से अधिक प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार बाजारी क्षेत्र यहां दूरी के अनुसार न होकर उत्पादन भिन्नता के आधार पर प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार अधिक लाभ प्राप्त करने का उद्देश्य पूरा करते हैं। क्योंकि एक ही वस्तु को अलग 2 मार्का लगाकर अलग 2 मूल्य पर बेचने से एक की कम लाभ की स्थिति दूसरे से पूरी करली जाती है और उद्योगपति किसी न किसी प्रकार बाजार पर अधिकार बनाये रखने की चेष्टा करता है।

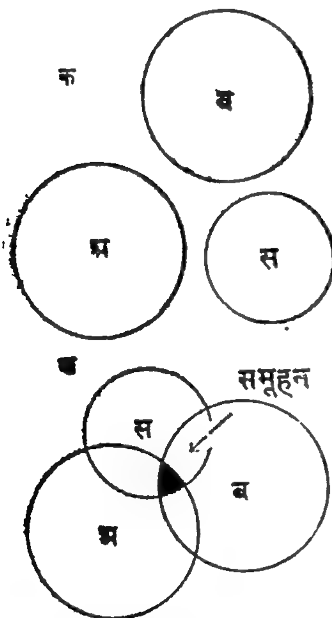
इस प्रकार कुल मिलाकर कैसी भी स्थिति हो उत्पादक का मूल उद्देश्य अधिकतम बिक्री से अधिकतम आगम (Revenue) प्राप्त करना व अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है अतः वे ग्राहकों के अधिक पास में स्थित होना चाहते हैं जहां कि जनसंख्या अधिक है। लेकिन जहां जन संख्या का घनत्व कम है वहां पर उत्पादक भी दूर 2 स्थापित होंगे। अतः उत्पादन लागत एवं प्राप्त करने की लागत में क्षेत्रीय भिन्नता के कारण स्थिति का स्वरूप भी भिन्न होता है। अतः इसके कारण क्षेत्रीय समूहन (एकत्रीकरण) संभव होता है।

समूहीकरण (समूहन) (Agglomeration)—

भौगोलिक दृष्टि से सीमित क्षेत्र में (कम से कम क्षेत्र में) अधिक से अधिक उद्योगों का स्थापित होना एकत्रीकरण या समूहीकरण या समूहन कहलाता है यह दो प्रकार का हो सकता है (1) एक ही स्थान पर एक ही उद्योग से सम्बन्धित कई फर्में एक क्षेत्र में स्थापित हो या (2) कई प्रकार के उद्योग एक ही स्थान या क्षेत्र में स्थापित हो। वेबर[18] ने भी समूहीकरण को न्यूनतम-परिवहन-लागत बिन्दु से हटकर उद्योगों के स्थानीयकरण के प्रमुख तत्व के रूप में स्पष्ट किया। उत्पादक की दृष्टि से स्थानीय माल के स्त्रोत, यातायात के केन्द्र, सस्ते श्रम के स्थान, विशाल बाजार के केन्द्र के साथ 2 उद्योगों का किसी स्थान विशेष पर समूहन या समूहीकरण भी महत्वपूर्ण रूप से अर्थ व्यवस्था की स्थिति निर्धारण में एक विचारणीय तत्व रहता है। इससे उत्पादक को पैमाने की बाह्य-बचतें (External Economies of Scale) प्राप्त होती हैं।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि कोई उत्पादक इकाई दो प्रकार के पैमाने की बचतें अपनाती है। (1) आन्तरिक पैमाने की बचतें और (2) वाह्य पैमाने की बचतें। जहां तक आन्तरिक पैमाने की बचत का प्रश्न है कई प्रकार की विधियों से प्राप्त की जाती है जिसका अध्ययन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। यहां समूहीकरण से प्राप्त बचत का अनुभव कोई उत्पादन इकाई तभी कर सकती है जबकि उसकी स्थिति किसी विशाल आर्थिक गतिविधि के समूह के निकट हो।

श्रम की तरह वेबर के अनुसार न्यूनतम-परिवहन लागत बिन्दु से उद्योग की स्थिति समूहन की ओर हटकर हो सकती है दोनों दशाओं में स्थिति का विचलन नाजुक आईसोडापान (Critical Isodapan) के सन्दर्भ में आकर्षित करने की शक्ति की स्थिति पर निर्भर करता है। अतः समूहीकरण के लिये नाजुक आइसोडापान चित्र (ख) 7.4 की तरह एक दूसरे को काटना चाहिये तभी समूही करण संभव है। अगर स्थिति का स्वरूप (क) की तरह रहता है तो समूहीकरण नहीं होगा। लेकिन वेबर ने इसे बहुत ही सरलीकृत रूप में लिया जब कि वास्तव में यह कई फर्मों के संयोगवश लिये गये निर्णयों पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त वेबर समूहीकरण व्यवस्था की गहराइयों में भी पहुंचने में विफल रहा है। इस सम्बन्ध में डगेट* के विचार अधिक स्पष्ट हैं। डगेट के अनुसार—"एक समूहन बिन्दु सामान्य रूप से वह स्थान है जहां बड़ी संख्या में व्यक्ति, उद्योगों में लगे होते हैं व वहां उद्योगों का अड्डा बनने लगता है, बिना निर्णय के यह नहीं होता है लेकिन निर्णय के बाद यह होता है।" दूसरे शब्दों में



चित्र संख्या 7.13

* "An agglomeration point is merely a place to which a number of persons engaged in industry decide to resort. Without the decision it does not exist, after the decision it is there." Daggate, S. (1955) Principles of inland transportation, New York : Harper & Row p.p. 450.

यह कहा जा सकता है कि समूहीकरण वह विन्दु नहीं है जहां पर किसी उत्पादक को अकेले ही प्लांट को स्थानान्तरित करने से लाभ होता हो बल्कि अगर दो उत्पादक साथ 2 आकर प्लांट स्थापित करें तो दोनों को लाभ होगा अन्यथा किसी को भी लाभ नहीं होगा।

समूहीकरण के कारण—समूहीकरण कई कारणों से संभव है यह प्राकृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि से सम्बन्धित है।

प्राकृतिक दृष्टि से—किसी स्थान पर समूही करण कई प्राकृतिक कारणों से होता है। इसमें जलवायु की दशाएँ, खनिजों की उपलब्धि, भूमि की वनावट, शक्ति के साधन आदि महत्वपूर्ण हैं—

(1) **जलवायु की दशाएँ**—बहुत से उद्योगों के लिये न्यूनतम परिवहन लागत, सस्ते श्रमिक, या कच्चे माल की उपलब्धि की अपेक्षा जलवायु की उपयुक्तता अधिक महत्वपूर्ण होती है। जैसे सूती वस्त्र उद्योग के लिये आर्द्र जलवायु का होना, फिल्म उद्योग के लिये चमकीली धूप के क्षेत्र या वायुयान उद्योग के लिये साफ मौसम वाले क्षेत्र। यही कारण है कि सूती वस्त्र उद्योग लंकाशायर या वम्बई में, फिल्म उद्योग हालीवुड, वम्बई में, वायुयान निर्माण उद्योग का केलिफोर्निया राज्य में समूहन हुआ है।

(2) **कच्चे माल की उपलब्धि**—बहुत से उद्योग कच्चे माल की उपलब्धि पर अधिक निर्भर करते हैं जो किसी स्थान विशेष पर ही उपलब्ध होता है। जैसे जूट उद्योग का समूहीकरण ऐसे ही क्षेत्र में हुआ है जहां पर जूट अधिक उपलब्ध होता है। भारत में पश्चिमी बंगाल में या वंगला देश में।

(3) **शक्ति के साधनों की समीपता**—जिन उद्योगों को शक्ति की वहुत अधिक आवश्यकता होती है ऐसे उद्योग शक्ति के केन्द्रों के निकट ही स्थापित होते हैं जैसे एल्यूमीनियम उद्योग, रसायन उद्योग जल शक्ति केन्द्रों के निकट एवं लोह स्पात उद्योग कोयला क्षेत्रों के निकट एकत्रित हुए हैं।

(व) **आर्थिक दृष्टि से**—आर्थिक कारणों से भी उद्योगों का स्थान विशेष पर समूहीकरण हो जाता है। इनमें (1) विशाल वाजार की उपलब्धता (2) सस्ते, प्रचुर एवं कुशल श्रम की सुविधा, (3) पूंजी की प्रचुर एवं सस्ती दर पर उपलब्धि, (4) यातायात व संचार के साधनों की सुविधा आदि कारणों से भी समूहीकरण किसी स्थान विशेष पर संभव है।

(स) **राजनैतिक कारण**—राजनैतिक दृष्टि से भी किसी स्थान पर समूहीकरण हो सकता है कई स्थानों पर सरकार की संरक्षण की नीति से वहां उद्योगों का समूहीकरण हो जाता है इसी प्रकार सरकार किसी स्थान विशेष

पर (उसके आस पास के प्रदेश के विकास के लिये) स्वयं भी कई प्रकार के उद्योगों को स्थापित करती है जिससे भी प्रारम्भिक रूप से समूही करण की सुविधा मिलती है क्योंकि उन उद्योगो से सम्वन्धित कई उद्योग वहा विकसित हो जाते है ।

(द) **सामाजिक व धार्मिक कारण**—कई उद्योगो मे सामाजिक एवं धार्मिक कारणों से भी किसी स्थान पर समूहीकरण हो जाता है जैसे जयपुर मे जवाहरात उद्योग, मूर्ति उद्योग का समृहीकरण, आगरा में खिलौना एवं जूता उद्योग का समूहीकरण । इसमे एक जाति विशेष की साथ 2 रहने की प्रवृति भी महत्वपूर्ण है ।

(य) **जनसंख्या**—समूहन के लिए न्यूनतम जनसख्या का होना भी आवश्यक है लेकिन यह अलग 2 प्रकार की अर्थ व्यवस्था के लिए, अलग 2 स्थानो 2 पर भिन्नता लिए हो सकती है । राव[19] (1975) ने आंध्र प्रदेश मे उद्योगो के समूहन के स्थानीयकरण के लिए एक लाख की जनसंख्या की आवश्यकता पर जोर दिया । उसने अध्ययन मे पाया कि निम्न स्तर के केन्द्र, लघु या छोटे स्तर के उद्योगों को पोषित कर सकते हैं । जब कि उच्च स्तर के केन्द्र कुछ आवश्यक न्यूनतम भौतिक सुविधाओ सहित उच्च स्तर के उद्योगो को पोषित कर सकते हैं । अतः जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही केन्द्र का स्तर भी ऊंचा उठता है । व उससे सम्वन्धित उच्च स्तर की आर्थिक गतिविधिया प्रारम्भ होने लगती है । यह स्पष्ट है कि उच्च स्तर के केन्द्र निम्न स्तर की सुविधाओ के साथ 2 औद्योगिक समूहन को भी नियंत्रित करते हैं ।

ऐसे ही अन्य कई कारणो से किसी स्थान विशेप पर समूहीकरण हो सकता है समूहीकरण की महत्वपूर्ण विशेपता यह है कि इसमे स्थित विभिन्न इकाईयों मे किसी न किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आपसी सम्बन्ध होता है । यह सम्वन्ध मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं ।

(1) **उत्पादन सम्वन्ध**—उत्पादन प्रक्रिया के अंग के रूप मे विभिन्न प्रकार के पदार्थ व माल एक फर्म से दूसरी फर्म को लाये या ले जाये जाते हैं ।

(2) **सेवा सम्वन्ध**—कई प्रकार की वित्तीय एव व्यापारिक सेवाएँ, रख-रखाव का कार्य, मशीनो व उपकरणो का प्रावधान, मरम्मत की सेवाएँ आदि एक फर्म से दूसरी फर्म को उपलब्ध होती है ।

(3) **बाजारी सम्वन्ध**—कई फर्मे एक फर्म की उत्पादित वस्तु को वेचने या वितरित करने, लाने ले जाने सम्वन्धी कार्य, एकत्रित करने सम्बन्धी कार्यो से सम्बन्धित होती है ।

अतः समूहीकरण की अर्थ व्यवस्था में आपसी सम्बन्धों का किसी न किसी रूप में होना आवश्यक है। या जहां आपसी सम्बन्ध होते हैं समूहीकरण हो सकता है। इससे प्रति इकाई उत्पादन लागत कम हो जाती है या फिर आय में वृद्धि होती है या दोनों ही संभव है।

इस प्रकार समूहीकरण व्यवस्था किसी स्थान पर एक ही उद्योग की विभिन्न फर्मों के एक स्थान पर स्थापित होने से या विभिन्न प्रकार की औद्योगिक फर्मों के एक स्थान पर स्थापित होने से हो सकती है।

समूहीकरण से लाभ—जिस स्थान पर समूहीकरण हो जाता है वहां पर स्थित विभिन्न आर्थिक इकाईयों को कई प्रकार के लाभ प्राप्त होते है जिसके परिणाम स्वरूप लागत खर्च भी कम होता है तथा आर्थिक इकाइयों का विकास भी होता है अर्थ व्यवस्था के समूही करण से प्राप्त लाभ निम्नांकित है—

(1) **विशाल पैमाने पर श्रम की उपलब्धि**—समूही करण की स्थिति में किसी उद्योग विशेष से सम्बन्धित श्रम प्रचुर मात्रा में मिल जाता है जिस उद्योग का वहां समूहीकरण हुआ हो। इसी प्रकार विभिन्न उद्योगों के समूहीकरण की दशा में कुशल व अकुशल, सस्ता व महंगा, स्त्री व पुरुष के रूप में श्रम आसानी से उपलब्ध हो जाता है अतः उत्पादनकर्ता ऐसे स्थानों पर नये उद्योग शुरू कर सकते हैं नये कारखाने शुरू करने में उन्हें इच्छित श्रम उपलब्ध हो जाता है ऐसे ही अगर उत्पादक अचानक उत्पादन व्यवस्था बदलना चाहता है तो भी सम्भव है।

(2) **पूंजी की सुविधा**— यदि किसी स्थान विशेष में किसी वस्तु विशेष के उत्पादन से सम्बन्धित कारखानों का समूहीकरण होता है तो उनको बैंकों की सुविधाएँ भी उपलब्ध हो जाती हैं साथ ही बैंकों से कम ब्याज पर ऋण की सुविधा भी उपलब्ध हो जाती है।

(3) **अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग**—समूहीकरण से अवशिष्ट पदार्थों का भी उचित उपयोग होता है क्योंकि एक ही प्रकार के उद्योगों का समूहीकरण होने के कारण जो भी अवशिष्ट पदार्थ होते हैं वे पर्याप्त मात्रा में हो जाते हैं अतः उनका उपयोग आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद होता है।

(4) **गौण व पूरक उद्योगों की स्थापना**—समूहीकरण के कारण प्रमुख उद्योग के साथ साथ गौण व पूरक उद्योग भी स्थापित हो जाते हैं। जैसे लोह स्पात उद्योग के सहारे मशीनें बनाने के उद्योग, यन्त्र बनाने के उद्योग, आदि। इसी प्रकार कुछ उद्योग, बड़े उद्योगों को कच्चा माल सुलभ कराते हैं जैसे वस्त्र उद्योग के लिए जिनिंग व कताई उद्योग आदि। ऐसे ही उद्योगों में कार्य करने

वाले व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रेडीमेड वस्त्र बनाने के उद्योग या बेकरी उद्योग आदि। इससे उत्पादनकर्ता को जहां सस्ता श्रम उपलब्ध हो जाता है वहीं गौण व पूरक उद्योगों से बच्चों को भी काम मिल जाता है।

(5) **उपरी खर्चों में कमी**—समूहीकरण में लेखांकन, बाजारी शोध, प्रशिक्षण, रख रखाव आदि की सुविधाओं के कारण बाह्य खर्चों में बचत होती है इस दृष्टि से छोटी इकाईयां जो इस प्रकार के खर्चे करने में असमर्थ होती हैं वे समूहीकरण में इन खर्चों में होने वाले कम खर्च का लाभ उठाती है। इसके परिणामस्वरूप उनका लागत मूल्य भी बड़ी फर्मों से प्रतिस्पर्धा कर सकता है।

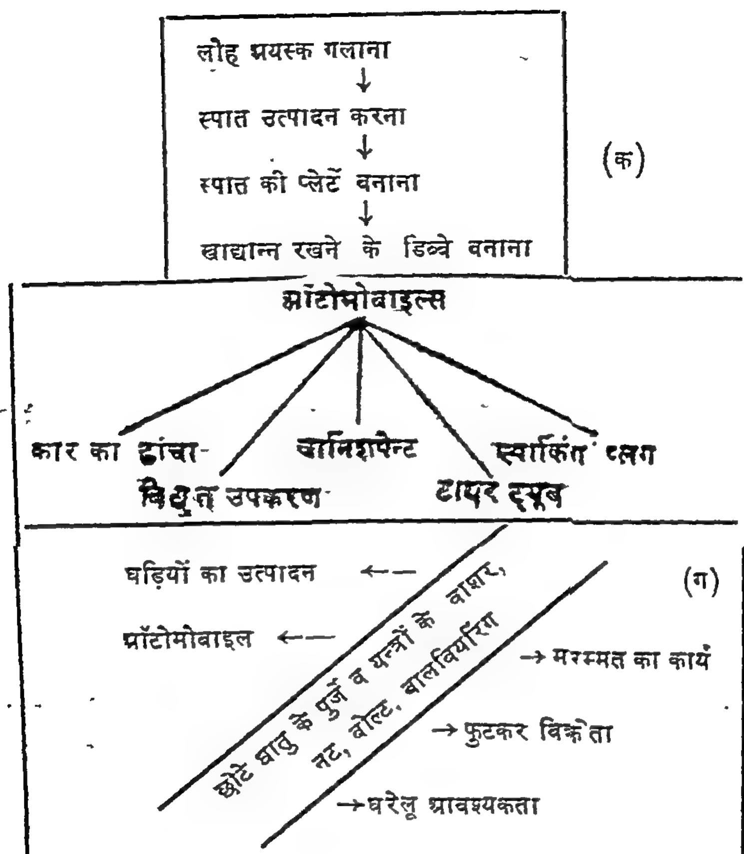
(6) **मांग की पूर्ति में शीघ्रता**—अगर अकेली उत्पादक इकाई है तो उसकी अधिकांश पूंजी, माल का भण्डारण, श्रम, भू-भाग, पदार्थों की खोज आदि कामों में लगी रहती है अतः मांग की पूर्ति में देरी हो जाती है लेकिन समूहीकरण में कोई भी इकाई सूचना प्राप्त होते ही कम समय में मांग की पूर्ति करने में सक्षम हो जाती है क्योंकि वहां विशेषज्ञों, दुकानदारों आदि की सुविधा रहती है व शोध आदि कार्यों में कम से कम पूंजी की आवश्यकता होती है।

(7) **परिवहन की सुविधा**—छोटी उत्पादक इकाईयां सामान्यतः कम माल का उत्पादन करती है जबकि बड़ी इकाईयां अधिक मात्रा में। समूही-करण में सब अपने 2 स्तर पर उत्पादन करती हैं। यातायात की दृष्टि से छोटी उत्पादक इकाईयां अपने लिये माल की थोड़ी मात्रा को बड़ी फर्मों के माल के साथ मंगाने या भेजने में सफल हो जाती है जिससे उपभोक्ता व उत्पादक दोनों को बचत होती है :

(8) **उचित दर पर माल की उपलब्धि**—समूहीकरण व्यवस्था में बड़ी उत्पादक इकाईयां विशाल पैमाने पर कच्चा माल खरीदती है। अतः बड़ी फर्म उचित दर पर माल व सेवाएं प्राप्त करती हैं इसका लाभ उस स्थान की सभी आकार की फर्मों को भी प्राप्त हो जाता है।

(9) **उत्पादन प्रक्रिया में विशिष्टकरण**—जैसा कि हमने पिछले अध्ययन में पाया कि उत्पादन प्रक्रिया को विभाजित किया जा सकता है। यह एक ही प्रकार के उद्योग में भी संभव है और कई प्रकार की फर्मों में भी संभव है जिसमें प्रत्येक इकाई विशिष्ट प्रकार का उत्पादन कार्य करती है। उत्पादन प्रक्रिया का विभाजन तीन प्रकार से संभव है—

(i) **लम्बवत् विभाजन**—इसमें प्रत्येक फर्म एक माला के दाने की तरह या चेन की कड़ी के रूप में कार्य करती है। एक का उत्पादन दूसरे के लिये कच्चा माल प्रदान करती है। जैसा कि चित्र 7.14 "क"।



चित्र सख्या 7.13

(ii) **क्षितिज वर्तीय विभाजन**—इसमें प्रत्येक फर्म अलग २ अंगों के उत्पादन में विशिष्टता लिये होती है अन्त में कोई दूसरी फर्म उन्हें इकट्ठा करके वस्तु का निर्माण करती है। जैसा कि चित्र 7.14 "ख"

(iii) **कर्णवत विभाजन**—विशेष प्रकार के सेवा कार्य होते हैं जो एक दूसरे को सम्बंधित करते हैं इन्हें कर्णवत् विभाजन कहते हैं चित्र में 'ग' भाग। इस व्यवस्था से छोटी व मध्यम आकार की उत्पादन इकाईयां भी अस्तित्व बनाये रख सकती है। और बचत के कारण लागत मूल्य कम करने में सफल हो सकती है।

(10) **व्यापारिक सुविधाएं**—जहां कहीं भी अर्थ व्यवस्था का समूहीकरण होता है वहां यातायात, संवादवाहन के साधनों व विज्ञापन सम्बन्धी सेवाओं का अधिक विस्तार हो जाता है जिसके फलस्वरूप कई सहयोगी संस्थाएं व सुविधाएं व्यापारिक दृष्टि से उपलब्ध हो जाती है।

(11) **नवीनीकरण की सुविधा**—समूहीकरण से शोधकार्य भी होते रहते हैं और समाचार पत्रों के कारण नई खोज व तकनीक भी ज्ञात होती रहती है तथा दूसरों के अनुभव के आधार पर ऐसे केन्द्रों पर नवीनीकरण शीघ्र संभव होता है तथा मरम्मत आदि की भी पर्याप्त सुविधाएँ होती हैं।

(12) **सार्वजनिक उपयोगिता व कल्याणकारी सेवाएँ**—जैसे 2 समूहीकरण का आकार बढ़ता जाता है वैसे 2 ही उपयोगी सेवाओं में जैसे— शक्ति का उत्पादन, जलपूर्ति, गंदगी व मलबा हटाने, परिवहन लागत आदि में प्रति इकाई खर्च कम होता जाता है। लेकिन यह एक सीमा तक ही कम होता है इसके बाद में बढ़ना शुरू हो जाता है। अतः समूहीकरण भी एक आदर्श स्तर तक लाभप्रद हो सकता है जैसे कि एक उत्पादन इकाई का होता है। अगर समूहीकरण आदर्श स्तर तक या आदर्श आकार का होगा तो सार्वजनिक सेवायें व उपयोगिताएँ अपनी क्षमता से अच्छा कार्य करेगी। नहीं तो वे अपना कार्य ठीक से नहीं कर पायेगी। आइजार्ड[20] ने समूहीकरण के आदर्श आकार को खोजने का प्रयास किया लेकिन उसने पाया कि इस प्रकार की प्रक्रिया बड़ी जटिल व समस्या युक्त होती है।

कृषि में समूहीकरण (Agglomeration in Agriculture)—

जिस तरह उद्योगों में समूहीकरण होता है वहां विभिन्न प्रकार के उत्पादक, आन्तरिक व बाह्य बचतों के कारण स्थिति की निकटता का लाभ उठाते हैं इसी प्रकार से कृषि में, विशेष कर व्यापारिक कृषि में, समूहीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। क्योंकि व्यापारिक दृष्टि से कृषि करने वाला किसान बहुत सीमित किश्म की वस्तुओं का ही उत्पादन करता है कृषि उत्पादन में विशिष्टीकरण व्यापारिक कृषि की विशेषता होती है। अतः विशिष्टीकरण से महत्वपूर्ण रूप से आन्तरिक बचतें प्राप्त की जाती हैं।

व्यापारिक दृष्टि से उत्पादन करने के लिये विशिष्टीकरण का मुख्य तत्व यह है कि सहायक उत्पादन या उप उत्पादन या पूरक उत्पादन का अधिक महत्व नहीं होता है लेकिन भूमि के संसाधनों का, विभिन्न पदार्थों का, श्रम संसाधनों का अच्छा उपयोग करने के लिये व्यापारिक कृषि करने वाला कृषक कई प्रकार की वस्तुओं का साथ 2 उत्पादन करता है इसका कारण वह जोखिम को कम करना चाहता है जैसे सोयाबीन के साथ सूअर पालन का या चावल के साथ मछली या रेशम के कीड़े पालने का कार्य करता है सहायक वस्तु के उत्पादन की प्रवृति सापेक्षिक लाभ की स्थिति पर निर्भर करती है। अर्थात् यह कृषि फार्म के अन्दर होगी या उसकी सीमा पर होगी। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के उत्पादन में भिन्नता, कृषि की पद्धति, श्रमिकों की कार्य क्षमता, उप उत्पादनों के उपयोग, मिट्टी के संरक्षण से आती है।

इस प्रकार सबसे सरल रूप में कृषि-समूहीकरण का उदाहरण फल-सब्जियों का कहा जा सकता है। विशेष प्रकार के फल उगाना, विशेष प्रकार की जलवायु की आवश्यकता के कारण किसी क्षेत्र विशेष में ही होता है विशाल मात्रा में फल उगाने के लिये उच्च स्तरीय यातायात व बाजार का विकसित होना आवश्यक है. इसके अतिरिक्त अस्थायी व स्थानान्तरण वाले मजदूर, एक खरीद का केन्द्र व ट्रकों की सुविधा आवश्यक है। जब इस प्रकार की सुविधाओं का किसी स्थान पर एक बार विकास हो जाता है तो ऐसे क्षेत्र अन्य प्रकार के फलों व सब्जियों के उत्पादन को आकर्षित करते हैं जिन्हें उक्त सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती हैं इससे समान प्रकार व भिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन शुरू होने लगता है और वहां कृषि का समूहीकरण हो जाता है। इसमे एक प्रकार के कृषि-उत्पादन का उपयोग दूसरे के लिए होता है जैसे मक्का पर सूअर पाले जाते हैं और सूअरों से मांस प्राप्त करने का व्यवसाय भी विकसित हो जाता है। बाह्य तत्व भी समूहीकरण में महत्वपूर्ण सहयोग देते है जैसे कि एक कृषि प्रदेश, छोटे 2 फार्मों व थोडी मात्रा मे मशीनों का उपयोग करके एक विशेष प्रकार की कृषि के रूप में व्यवस्थित हो जाता है। ऐसा क्षेत्र अन्य प्रकार की कृषि के लिये भी व्यवस्थित हो सकता है।

समूहन के दोष

जहां समूहन के कारण विविध प्रकार के लाभ उत्पादक इकाईयो को प्राप्त होते हैं वही समूहन के अधिक विकसित होने के कारण कुछ अलाभप्रद दशाएँ भी विकसित होने लगती हैं। जो इस प्रकार है—

(i) समूहन के क्षेत्रों में भूमि का मूल्य बढने से भू-भाग महंगे हो जाते हैं।

(ii) अत्यधिक समूहन से प्रदूषण के खतरे बढ़ जाते हैं।

(iii) यातायात के साधनो की आवागमन की दृष्टि से संकीर्णता बढ जाती है।

(iv) विभिन्न प्रकार की सार्वजनिक सेवाओं यथा - बिजली, पानी, सफाई, अस्पताल, शिक्षा आदि की पर्याप्त पूर्ति नहीं हो पाती है।

(v) समूहन के आकर्षण से आसपास के व्यक्ति रोजगार की तलाश में आते हैं और कार्य न मिलने पर बेरोजगारी फैलती है।

(vi) समाज में विभिन्न प्रकार के अपराधो मे वृद्धि होती है।

(vii) एक निश्चित सीमा के बाद उत्पादन लागत में भी वृद्धि होने लगती है।

(viii) सरकार ऐसे क्षेत्रों में बाद मे फर्मों को नई स्थापना को नियन्त्रित करने के लिये भी विवश होती है।

इस प्रकार एक निश्चित सीमा के बाद समूहन के विपरीत प्रभाव पड़ने

11. KAPLAN, A. D. H. (1948) Small business : its place and problems, New York, Mc Graw Hill.

12. HOOVER, E. M. (1937) Location theory and the shoe and leather industries, Cambridge, Mass : Harverd University Press.

13. ISARD, W. (1956) Location and space economy, cambridge, Mass : M.I.T. Press.

14. HOTELLING, H. (1929) Stability in competition. Economic Journal 39, 41-57.

15. LOSCH. A. (1954) The economics of location, New Haven, cann. Yale university Press

16. GREENHUT. M. L. (1957) Games, capitalism and General Economic theory. The Manchester school of Economics and social studies 25, 61-88.

17. FETTER, F. A. (1924) The economic law of market areas, quarterly Journal of Economics 38, 520-523.

18. WEBER, A. (1909) Theory of the location of industries. Chicago, Chicago University Press.

19. RAO, D V. (1975) Population threshold for location of Industrial agglomeration : A study in Andhra Pradesh, Indian Journal of regional planning Vol. VII (2) pp. 152-158

20. ISARD, W. (1956) Ibid.

८

निर्णयन-प्रक्रिया

(DECISION-MAKING-PROCESS)

विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में मानव द्वारा की जाने वाली विभिन्न आर्थिक गतिविधियों के कारण ही आर्थिक भू-दृश्य का निर्माण होता है लेकिन आर्थिक भू-दृश्य मूल रूप में दो बातों पर निर्भर करता है—

[1] अदृश्यात्मक प्रक्रिया (Invisible Process)
[2] दृश्यात्मक प्रक्रिया (Visible Process)

(1) **अदृश्यात्मक प्रक्रिया** (Invisibie Process)—इस प्रक्रिया के अन्तर्गत किसी क्षेत्र में मानव द्वारा किसी अर्थ व्यवस्था को मूर्त रूप देने से पूर्व अदृश्य रूप से निर्णय लेने की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है और निर्णय लेने पड़ते हैं अतः यह स्थिति निर्णयन व निर्णय की होती है।

(2) **दृश्यात्मक प्रक्रिया**—(Visible Process)—जब मानव द्वारा आर्थिक निर्णय ले लिये जाते हैं तो वह उन्हें मूर्त रूप देकर अर्थ व्यवस्था का ढ़ांचा तैयार करता है। इसी मूर्त रूप को हम आर्थिक भू-दृश्य का नाम देते हैं।

अतः किसी भी क्षेत्र में आर्थिक भू-दृश्य व्यक्तियों द्वारा आर्थिक निर्णयों का सामूहिक प्रदर्शन कहा जा सकता है। लेकिन ये निर्णय बहुत अधिक भिन्नताएं लिये होते हैं किन्हीं दो व्यक्तियों द्वारा एक ही स्थान, एक ही समय, एक ही प्रकार की परिस्थितियों में किसी एक बात पर लिया गया निर्णय भी काफी भिन्नता लिये हो सकता है अतः निर्णय के बारे में कोई एक सर्व सम्मत सिद्धान्त विकसित करना असम्भव है।

किसी भी प्रकार की अर्थ व्यवस्था में उत्पादक का मूल उद्देश्य न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। इसी प्रकार उपभोक्ता का मूल उद्देश्य कम लागत पर अच्छी किस्म की, अधिक वस्तु प्राप्त करना होता है। अतः अर्थ व्यवस्था में लगे व्यक्ति अपने 2 हितों व स्वार्थों के लिये विभिन्न प्रकार के निर्णय लेते रहते हैं। इससे पूर्व उन्हें निर्णय लेने की विभिन्न दशाओं से गुजरना पड़ता है जो कि एक बहुत ही जटिल प्रक्रिया है। निर्णय लेने की यह प्रक्रिया ही निर्णयन कहलाती है। हम यह जानते हैं कि मानव जिन परिस्थितियों में कार्य करता है वे लगातार परिवर्तन शील है अतः उसे वातावरण के साथ अनुकूलन करना पड़ता है इन परिवर्तनों के अनुसार अनुकूलनों के लिये स्वयं निर्णय करना होता है जो कि पूर्णतः उपलब्ध जानकारी पर निर्भर करता है सरलीकृत मॉडल में सभी प्रकार की अर्थ व्यवस्था में हम विशेष प्रकार से व्यवहार करने वाले मानव को देखते हैं जो आर्थिक मानव (Economic Man)

कहलाता है अगर आर्थिक मानव पूर्ण अक्लमन्दी से कार्य करे तो हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि किस प्रकार का अर्थ तंत्र विकसित होगा। इस सम्बन्ध में भूगोल वेत्ताओं का अध्ययन अधिक विस्तृत नही है। लेकिन वे पिछले कुछ वर्षों से स्थिति सम्बन्धी निर्णयन के प्रति अधिक आकृष्ट हुए हैं। इससे पूर्व की हम इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार से देखें, निर्णयन को समझना आवश्यक है। जैसा कि अध्याय के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है कि निर्णय लेने की प्रक्रिया निर्णयन कहलाती है। यह आवश्यकता दो या दो से अधिक विकल्पों में से किसी एक को चयन करने की प्रक्रिया है जिससे कि हम अनिश्चितता से निश्चितता की ओर आते हैं। इस प्रक्रिया कि अपनी अलग विशेषताएँ हैं जो इस प्रकार है—

[1] निर्णय लेने की प्रक्रिया एक बौद्धिक प्रक्रिया होती है।

[2] निर्णय लेने की प्रक्रिया गतिशील प्रक्रिया है जिसमें प्रारम्भिक दशा में समस्या को पहचाना जाता है, दूसरी दशा में संभावित विकल्पों का निर्धारण किया जाता है, तीसरी दशा में उपलब्ध विकल्पों का मूल्यांकन किया जाता है और अन्तिम दशा में एक सर्वोत्तम कार्य-पथ का चयन किया जाता है।

[3] निर्णय लेने की प्रक्रिया में पूर्वानुमान सम्मिलित होता है। यह कार्य भूतकाल की घटनाओं को विश्लेषित करने, वर्तमान को समझने व उनके सन्दर्भ में भविष्य का मूल्यांकन करने की योग्यता पर निर्भर करता है। पूर्वानुमान को कई चर (Variables) भी प्रभावित करते है। जिससे निर्णयन की प्रक्रिया भी प्रभावित होती है।

[4] निर्णय लेने की प्रक्रिया मे जोखिम व अनिश्चितता समाहित होती है।

[5] निर्णय लेने की प्रक्रिया नियोजन का एक अंग होती है क्योंकि नियोजन के लिए भी हमें विकल्पों के मध्य चयन करना होता है किसी एक योजना के चयन के कार्य में हमें अन्य योजनाओं एवं कार्य-पथों का त्याग करना पड़ता है।

[6] निर्णयन से ही प्रबन्ध के प्रमुख कार्यों-नियोजन, संगठन, निर्देशन, नियंत्रण, आदि का सुचारू रूप से संचालन किया जा सकता है लेकिन यह स्मरण रहे कि निर्णयन एवं निर्णय एक नहीं है। निर्णय निर्णयन की अन्तिम अवस्था है जो एक संकल्प का प्रतीक है।

निर्णयन के सिद्धान्त (Principle of Decision-Making)

यद्यपि वर्तमान में वैज्ञानिक विकास के साथ 2 ही मानव-व्यवहार के

सम्बन्ध में कई बातें स्पष्ट हो चुकी हैं। इस सम्बन्ध में कई सिद्धान्त व निष्कर्ष उपलब्ध हैं जो यह बतलाते हैं कि कौनसी परिस्थितियों में मानव कैसा व्यवहार कर सकता है ? लेकिन फिर भी मानव-व्यवहार के सम्बन्ध में उपलब्ध निष्कर्ष पूर्ण नहीं है और न ही वे सभी परिस्थितियों मे समान रूप से लागू होते हैं। अर्थ तंत्र में एक व्यक्ति विभिन्न रूपों में कार्य करता है, कभी वह उत्पादक के रूप में कार्य करता है, कभी वह साधनों के मालिक के रूप में, कभी वह उप-उपभोक्ता के रू। में कार्य करता है तो कभी सरकार के रूप में, और कभी 2 तो एक ही व्यक्ति एक साथ कई रूपों में कार्य करता है। अत: उसकी प्रवृतियां बहुत जटिल हैं। कभी 2 वह अधिकतम लाभ के लिये निर्णयन की प्रक्रिया अपनाता है लेकिन कभी 2 वह अधिकतम लाभ की अपेक्षा आत्म संतुष्टि के लिये निर्णयन की प्रक्रिया अपनाता है अत: केवल आर्थिक कारणों से ही नहीं, बल्कि अनार्थिक कारणों से भी (यथा-आत्माभिव्यक्ति, प्रशंसा आदि) निर्णयन की प्रक्रिया प्रभावित होती है। अत: इस सम्बन्ध में जो भी सिद्धान्त विकसित हैं वे सार्वभौमिक नहीं हैं फिर भी उनमें कुछ उपयोगी अंश है जो इस प्रकार है—

(1) अधिकतम लाभ का सिद्धान्त (Principle of Maximising Advantage)

इसके अनुसार विभिन्न विकल्पों में से ऐसे विकल्प का चयन होना चाहिये जिससे कि अधिकतम लाभ प्राप्त करने में सहायता मिल सके। लाभ मौद्रिक व अमौद्रिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

(2) मानवोचित व्यवहार का सिद्धान्त (Principle of Reasonable Human Behaviour)

इस सिद्धान्त के अनुमार मानव के व्यवहार के बारे में सामान्य परिस्थितियों व असामान्य परिस्थितियों में कुछ सीमा तक कुछ शुद्धता के साथ अनुमान लगाया जा सकता है जैसे-कर्मचारियों की छंटनी करने का निर्णय होता है तो कर्मचारियों के असहयोगी दृष्टिकोण के बारे में आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है लेकिन अनुचित आचरण के बारे में कोई सिद्धांत नहीं है। यह भी सही है कि असहयोगी दृष्टिकोण किस रूप में प्रकट होगा, यह ज्ञात करना कठिन है क्योंकि इसका कोई माप दण्ड नहीं है कि मनुष्य कब, कैसा व्यवहार करेगा ? क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की विचारधारा, दृष्टिकोण, जीवन के मूल्य आदि भिन्नता लिये हुए होते है फिर भी कुछ अनुमान लगाना संभव ।

(3) अनुपात सिद्धान्त (Principle of Proportionality)—

इस सिद्धांत के अनुसार यह माना जाता है कि विभिन्न साधन जैसे भूमि,

श्रम, पूंजी, तकनीकी ज्ञान के सापेक्षिक संयोजनों से जो परिणाम आते हैं वे विभिन्न साधनों की मात्रा में परिवर्तन के अनुसार भिन्नता लिये होते हैं। अतः साधनों का उचित संयोजन सर्वाधिक उपयुक्त परिणाम दे सकता है, इसे ज्ञात करना इस सिद्धांत की मूल भावना को व्यक्त करता है। अतः साधनों के उपयोगी संयोजनों में से सर्वाधिक अच्छे परिणामों की उपलब्धि कराता हो उसी का चयन किया जाता है।

(4) समय सिद्धान्त (Principle of Timing)—

इस सिद्धान्त के अनुसार समयोचित निर्णय लेना चाहिये साथ ही यह सिद्धान्त समय पर निर्णय लेने पर अधिक जोर देता है। अगर समय पर निर्णय नहीं लिये जाते हैं तो लाभ की अपेक्षा हानि उठानी पड़ सकती है। अतः समयानुकूल निर्णय लेने पर अधिक जोर देता है।

(5) गतिशीलता का सिद्धान्त (Principle of Dynamics) —

जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं कि किसी भी अर्थ तंत्र की वाह्य व आंतरिक परिस्थितियों में परिवर्तन होता रहता है अतः निर्णय इस प्रकार से नहीं लेने चाहिये कि आने वाले समय में, परिवर्तित परिस्थितियों में, स्वीकार्य न हो इसके लिये आवश्यक है कि निर्णयन-प्रक्रिया गतिशील हो जो भावी परिवर्तनों को ध्यान में रखकर निर्णय लेने में सहायक हो सके और एकाएक किसी गम्भीर समस्या का सामना न करना पड़े।

(6) वैयक्तिक स्वहित का सिद्धान्त (Principle of Self Interest)—

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्वहितों को ध्यान में रखकर निर्णय लेता है। स्वहित आर्थिक व अनार्थिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। कुछ व्यक्ति केवल आर्थिक लाभ को अधिक महत्व देते हैं जबकि कुछ व्यक्ति महत्वाकांक्षाओं, आवश्यकताओं और उद्देश्यों या आत्म संतोष की पूर्ति का प्रयास करते हैं। अतः निर्णय लेते समय वैयक्तिक स्वः हितों का भी ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि निर्णयन-प्रक्रिया पर इनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है।

निर्णय लेने की प्रक्रिया

सामान्यतः किसी भी प्रकार की अर्थ व्यवस्था हो चाहे उद्योग हो या खेत, फैक्ट्री हो या बैंकिंग व्यवसाय, साधारण हो या जटिल, व्यवस्था छोटी हो या बड़ी, सभी मानव द्वारा चलाई जाती हैं। मानव त्रुटियां करने वाला है। क्योंकि उसके कई उद्देश्य होते हैं अतः निर्णय लेने की प्रक्रिया पर भी उनका प्रभाव पड़ता है। भूगोल वेत्ता की दृष्टि से हमारा मुख्य सम्बन्ध आर्थिक गतिविधियों

की स्थिति से सम्बंधित निर्णयन से है लेकिन इसको अलग करके नहीं देखा जा सकता है। आर्थिक मनुष्य के निर्णय बदलते हुए वातावरण के अनुसार बदलते हुये होते हैं। अतः अगर हम भावी क्षेत्रीय अर्थ तंत्र के ढांचे के बारे में सोचते हैं या अगर हम क्षेत्रीय आर्थिक स्मृद्धि के असंतुलन की समस्या को हल करना चाहते हैं, तब हमें निर्णयन की प्रक्रिया को अधिक गहराई से समझना होगा। अतः हमारा उद्देश्य यहां स्थिति सम्बन्धी निर्णयन-प्रक्रिया से है जो कि भूगोल वेत्ताओं के लिये अभी एक नया क्षेत्र है और महत्व की दृष्टि से तेजी से विकसित हो रहा है। लेकिन स्थिति का निर्णयन सम्पूर्ण निर्णयन-प्रक्रिया का ही एक अंग है। अतः निर्णयन-प्रक्रिया का सामान्य स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है। निर्णयन-प्रक्रिया मुख्यतः तीन बातों पर निर्भर करती है—

(1) **सूचनाओं की प्राप्ति**—निर्णय लेने के लिये सूचनाओं की प्राप्ति आवश्यक है। वातावरण में होने वाले परिवर्तनों की सूचनाओं की प्राप्ति के साथ ही निर्णय कर्त्ता, निर्णयन की प्रक्रिया अपनाता है अगर सूचनाओं की पूर्ति नकारात्मक है तो यह निर्णय कर्ता के लिए असंतुलन की दशा उत्पन्न कर देती है। बदलते हुए पर्यावरण से प्राप्त सूचनाएं किसी अर्थ तंत्र के बदलते हुए वातावरण से सापेक्ष सम्बन्धों को स्पष्ट करती है सामान्यतः दिन प्रतिदिन के व्यवहार में हमें कई प्रकार की सूचनाएं प्राप्त होती हैं लेकिन निर्णयन-प्रक्रिया में सभी का उपयोग नहीं होता है इसके लिये हमें हमारी समस्याओं या मूल प्रश्नों से सम्बन्धित सूचनाओं को ही ग्रहण करना होता है। अतः कोई भी व्यवस्था उन्हीं सूचनाओं से प्रतिक्रिया करती है जिससे उसका उद्देश्य पूरा होता है वे अपनी अलग व्यवस्था विकसित करती हैं जिनसे बाह्य प्रभावों को रोका जा सके तथा जो भी सूचनाएं प्राप्त होती हैं उन्हें अपने अनुसार बदलती है।

लेकिन अनुभव जन्य या व्यवहारिक वातावरण और उद्देश्यात्मक वातावरण में अन्तर है। व्यवहारिक वातावरण, उद्देश्यात्मक वातावरण का एक अंग है जिसके बारे में सूचनाएं प्राप्त की जाती हैं और विश्लेषित की जाती है तथा उद्देश्यात्मक वातावरण से प्राप्त सूचनाओं में से बहुत कम अच्छी तरह ग्रहण की जाती है यही उद्देश्यात्मक व्यवहार से सम्बन्धित होती है जैसे अगर कोई बहुमूल्य धातु या खनिज अगर व्यवहारात्मक वातावरण में है तभी उसका आर्थिक महत्व है अर्थात् उसकी होने की जानकारी हो और उसका संभावित मूल्यांकन किया जा सके। सूचनाएं दो प्रकार की होती हैं—(क) व्यक्तिगत सूचनाएं (ख) सार्वजनिक सूचनाएं।

(क) **व्यक्तिगत सूचनाएं**—इस प्रकार की सूचनाएं व्यक्ति के स्वयं के प्रत्यक्ष ज्ञान व पारस्परिक सम्पर्क से या एक व्यक्ति के मुंह से दूसरे व्यक्ति तक

पहुंचती है या जैसे टेलीफोन से या पत्रों द्वारा प्राप्त होती है। इसकी प्राप्ति के दो प्रकार हैं। (क) प्रत्यक्ष ज्ञान (ख) आपसी सम्पर्क।

(अ) प्रत्यक्ष ज्ञान– (Visual Information)—पर्यावरण की जानकारी प्रत्यक्ष ज्ञान से होती है। व्यक्ति स्वयं देखता है और अनुभव करता है तो उसे समस्या को अच्छी तरह समझने में सहायता मिलती है लेकिन प्रत्यक्ष ज्ञान भी अलग 2 प्रकार का व अलग 2 स्तर का हो सकता है इसके कई कारण हैं—

गतिशीलता—जो व्यक्ति इधर उधर अधिक आता जाता है अधिक दूर के क्षेत्रों की यात्राएं करता है उसका प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक विस्तृत होता है जबकि कम चलने वाला, कम दूरी तय करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी कम रखता है।

आयु—सामान्यत: कम उम्र के व्यक्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान सीमित होता है जबकि अधिक उम्र के व्यक्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक विस्तृत होता है।

मानसिक स्तर—व्यक्ति की मानसिक योग्यता प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रभावित करती है। अशिक्षित व शिक्षित व्यक्ति के प्रत्यक्ष ज्ञान के स्तर में भी काफी भिन्नता पाई जाती है।

सामाजिक एवं आर्थिक स्तर—व्यक्ति विशेष का सामाजिक एवं आर्थिक स्तर प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रभावित करता है। जैसे एक मकान चुनने वाले कारीगर व उसके सहायक मजदूर दोनों के प्रत्यक्ष ज्ञान में काफी अन्तर होता है क्योंकि आर्थिक स्तर भिन्नता लिये होता है अत: मजदूर केवल पत्थर, चूना, ईंटों आदि के बारे में ही सोचता है जबकि कारीगर मकान के प्लान, डिज़ाइन आदि के बारे में भी प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।

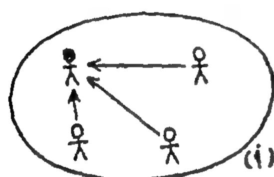
समय—सभी प्रकार की सूचनाओं की प्राप्ति में समय का तत्व बहुत महत्वपूर्ण है जहां समय कम होता है वहां शीघ्रता से श्रेष्ठतम की अपेक्षा संतोषप्रद सूचना पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

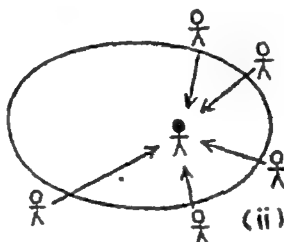
मुद्रा की उपलब्धता—मुद्रा की उपलब्धि भी सूचना प्राप्ति व विशेषकर प्रत्यक्ष ज्ञान को सीमित करती है बहुधा मुद्रा की कमी के कारण या तो उपयुक्त जानकारी प्राप्त नहीं कर पाते या बीच में ही सूचनाओं की प्राप्ति को छोड़ना पड़ता है।

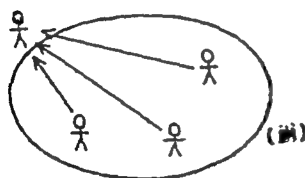
(ब) व्यक्तियों का पारस्परिक सम्पर्क (Interaction) सूचनाओं की प्राप्ति का दूसरा महत्वपूर्ण आधार एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से पारस्परिक क्रिया तथा सूचनाओं के फैलाव पर निर्भर करता है। मार्च व साइमन[1] (1958) के अनुसार हमारा अधिकांश ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त नहीं होता है बल्कि

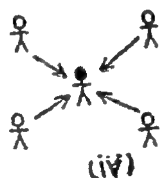
दूसरों के प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित होता है जो हमें वास्तविक रुप से प्राप्त न होकर छनकर आता है या संशोधित होकर प्राप्त होता है अतः व्यक्तियों के मध्य सूचनाओं का आदान प्रदान उनके आमने सामने बात करने से, बैठकों से, दूरभाष से, पत्रों से होता हैं इससे प्रत्यक्ष ज्ञान में वृद्धि होती है । इसी प्रकार सामाजिक संसर्ग में पक्षपात भी होता है । प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह यह भी निम्नांकित कारणों से प्रभावित होता है—

क्रियात्मक दूरी (Functional distance) हेगर स्ट्रेन्ड[2] ने बताया कि भौतिक दूरी की अपेक्षा क्रियात्मक दूरियां सूचनाओं के प्रसार को अधिक प्रभावित करती है । जैसे 2 दूरी बढती जाती है सूचनाओं की प्राप्ति में कमी होती जाती है । वैसे यह दूरी अलग अलग आय के स्तर के कारण, अलग 2 व्यवसायों के कारण या अलग 2 शिक्षा के स्तर के कारण बढती हैं । एक व्यक्ति विभिन्न स्तरों पर जुड़ा होता है तो वह अधिक सूचनाओं को प्रवाहित करता है जबकि एक ही स्तर पर जुड़ा व्यक्ति कम सूचनाएँ प्रवाहित कर सकेगा ।

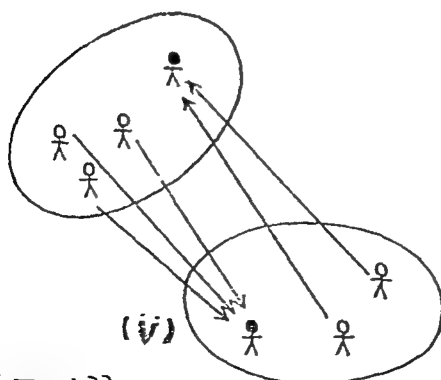








समुदाय :— मनुष्य समूह में रहना पसन्द करता है वह विभिन्न समुदायों के सदस्य के रुप में कार्य करता है लेकिन सूचनाओं का आदान प्रदान दो भिन्न प्रकार के समुदायों के मध्य कम होता है जबकि एक ही समुदाय के विभिन्न



सूचनाएं देने वाला

सूचनाएं प्राप्त करने वाला

चित्र संख्या 8.1

व्यक्तियों में अधिक होता है। लेकिन कुछ व्यक्ति कई समुदायों के सदस्य होते हैं जिसके कारण वे एक समुदाय के साथ 2 अन्य समुदायों की भी जानकारी रखते हैं और एक से दूसरे समुदाय तक जानकारी पहुंचाते रहते हैं। प्रस्तुत चित्र 8.1 में पहली दशा में जानकारी देने वाले जानकारी प्राप्त करने वाले के समुदाय से सम्बंधित होने के कारण सूचनाओं का आदान प्रदान तेज गति से होगा क्योंकि सूचना देने वाले व लेने वाला एक ही समुदाय के सदस्य है। दूसरी दशा में किसी भी समुदाय का सदस्य न होने से सूचनाओं का सीमित मात्रा में आदान प्रदान होगा। तीसरी दशा में सूचना प्राप्त करने वाला सूचना देने वालों से अलग समुदाय का है अतः और कम मात्रा में आदान प्रदान होगा। चौथी दशा में अलग 2 व्यक्तियों के कारण आदान प्रदान और भी कम होगा जबकि पांचवी दशा में अलग 2 समुदायों के कारण सूचनाओं का आदान प्रदान सबसे कम होगा लेकिन जैसा कि हम जानते है कि एक ही व्यक्ति कई संगठनों का सदस्य होता है अत: एक संगठन की सूचनाएँ दूसरे संगठन तक पहुंच जाती है।

आयु वर्ग-पारस्परिक रुप से सूचनाओं का आदान प्रदान एकही आयु समूह के व्यक्तियों में अधिक होता है जबकि भिन्न 2 आयुवर्गो के मध्य में अपेक्षाकृत कम होता है।

शिक्षा-अगर सूचना देने वाला अधिक शिक्षित व्यक्ति है और प्राप्त करने वाला अशिक्षित है तो भी सूचनाओं का पारस्परिक आदान प्रदान सीमित होगा।

सामाजिक व आर्थिक स्तर-दोनों के सामाजिक एवं आर्थिक स्तर में भिन्नता है तो भी सूचनाओं का आदान प्रदान प्रभावित होता है।

विश्वसनीयता-सूचना देनेवाले की विश्वसनीयता से भी सूचना का आदान प्रदान प्रभावित होता है। अविश्वसनीय व्यक्ति को हम कम महत्व देते है जबकि विश्वसनीय व्यक्ति की बातों पर अधिक विश्वास करते हैं।

(ख) सार्वजनिक सूचनायें — (Public Information) सूचनाओं की प्राप्ति का तीसरा महत्वपूर्ण स्रोत सार्वजनिकरुप से उपलब्ध होने वाली सूचनायें हैं। जो सरकारी एजेन्सियां, रेडियो, समाचार पत्र, टेलीविजन, फिल्में आदि से प्राप्त होती है। इनका स्वरुप व्यक्तिगत रुप से प्राप्त सूचनाओं से भिन्नता लिये भी हो सकता है। इस प्रकार की सूचनाएँ भी समान रुप से प्राप्त नहीं होती हैं और न ही पक्षपात रहित होने की कोई गारंटी है। फिर भी व्यक्ति के दृष्टिकोण को संशोधित व प्रभावित करने, विचारों को इधर उधर लाने के ये शक्तिशाली माध्यम हैं। लेकिन सार्वजनिक सूचनाओं का क्षेत्र व आकार मुख्यतः किसी नगरीय केन्द्र के स्तर से सीधा सम्बन्धित होता है। जितना उच्च स्तर का केन्द्र स्थान

(नगर) होगा उतना ही सार्वजनिक सूचनाओं की प्राप्ति का महत्वपूर्ण केन्द्र होगा। हेगर स्ट्रेंड[2] के अनुसार नये विचार व सूचनाएं एक उच्च स्तर के केन्द्र से दूसरे उच्च स्तर के केन्द्र को छलांग लगा जाती है इस प्रकार निकटता का प्रभाव खत्म हो जाता है। सार्वजनिक सूचनाओं का प्रसार भी क्षेत्रीय रूप से न तो सर्वत्र समान रूप से होता है और न ही समान गति से होता है। इन पर भौतिक तत्वों का भी प्रभाव पड़ता है। तथा ये प्रादेशिक झुकाव लिये भी हो सकती है जैसे राजस्थान पत्रिका का राजस्थान से सम्बन्धित सूचनाओं की ओर या नई दुनियां का मध्यप्रदेश को सूचनाओं की ओर झुकाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सूचनाओं की प्राप्ति प्रत्यक्षज्ञान, आपसी सम्पर्क व सार्वजनिक रूप से होती है लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि प्राप्त सूचनाएं वैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध होगी, वलिक सामान्यतः वे थोड़ी बहुत मात्रा में शुद्ध होती है क्योंकि उन पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। जिससे उनमें संशोधन हो जाता है और कभी तो उनका मूल रूप ही बदल जाता है। इस का एक अच्छा उदाहरण प्रथम विश्व युद्ध का दिया जाता है कि एक कमाण्डर ने अपने ब्रिगेड हैड क्वार्टर को अंग्रेजी में तार से सूचना भेजी कि "Send renforcement we are going to advance". है। लेकिन हैडक्वार्टर पर जब यह सूचना पहुंची तो वह इस प्रकार थी कि "Send three and four pence we are going a dance". वास्तविक जगत में इस प्रकार सूचनाओं के आदान प्रदान में संशोधन हो जाया करता है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि सूचना प्राप्त करने वाला आवश्यक नहीं कि वह उनका उपयोग करेगा ही, कभी 2 वह इनको प्राप्त करने के बाद भी अस्वीकार कर देता है लेकिन यह स्पष्ट है कि वास्तविक जगत का निर्णायक एक सीमित जानकारी वाला होता है [वह सरलीकृत मॉडल के आर्थिक मानव की तरह विश्व व्यापी व संपूर्ण जानकारी वाला व्यक्ति नहीं है] जिसको जानकारी पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है।

(2) <u>वरीयता</u> (Preference)—निर्णयन-प्रक्रिया का दूसरा महत्वपूर्ण आधार वरीयता है निर्णयकर्ता विभिन्न विकल्पों में से तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर वरीयता (चयन) निर्धारित करता है। सामान्यतः इसके लिये वह विभिन्न विकल्पों की उपयोगिता का मूल्यांकन करता है तब वह चयन का कार्य करता है यह सब सूचनाओं की प्राप्ति व सूचनाओं की व्यापकता पर निर्भर करता है। इस स्थिति में अनिश्चितता होती है अतः कल्पनाओं के सहारे उनका श्रेणीकरण करना पड़ता है। इस सारी प्रक्रिया पर भी निर्णय कर्त्ता की उम्र,

शिक्षा का स्तर, आय का स्तर, उसकी स्थिति, मानसिक स्तर व लैंगिकता का प्रभाव पड़ता है।

(3) **उद्देश्य** (Motivation)—वरीयता निर्णय कर्ता की मूल प्रेरणा एवं उद्देश्य को प्रदर्शित करती है। कई बातें निर्णय कर्त्ता की प्रेरणा एवं उद्देश्यों को प्रभावित करती है। इनमें मुख्यत: मानव-विश्वास, इच्छा, महत्वाकांक्षाएं, सौंदर्य-बोध, आत्म-संतुष्टि, इज्जत, अधिकतम लाभ, नैतिक मूल्य आदि महत्वपूर्ण हैं। सामान्यत: मानव की कुछ व्यक्तिगत मान्यताएं होती हैं जो उसकी इच्छाओं के रूप में प्रकट होती है। जिसके कारण वह अपने जीवन में कुछ प्राप्त करना चाहता है ताकि उसे संतोष प्राप्त हो। अत: जहां तक वरीयता निश्चित करने का प्रश्न है कभी 2 उक्त बातें अधिक या कम प्रभाव डाले बिना नहीं रहती है लेकिन यह सब भी अन्तत: निर्णय कर्त्ता की आयु, शिक्षा, आर्थिक-सामाजिक स्तर, मानसिक स्तर आदि की पृष्ट भूमि पर आधारित होते हैं जिसके कारण मनुष्य एक ही प्रकार की दशाओं में भी अलग 2 प्रकार से निर्णय लेता है या व्यवहार करता है। उसकी प्रवृत्ति कम से कम प्रयत्न करने की भी होती है। अत: ये सब उद्देश्य, या उसके इच्छित स्तर से सम्बन्धित है जो कि एक मनोवैज्ञानिक पक्ष है जिसके बारे में अनुमान लगाना असंभव नहीं लेकिन कठिन अवश्य है।

इस प्रकार निर्णयन-प्रक्रिया सूचनाओं की प्राप्ति, वरीयता एवं निर्णय कर्त्ता के उद्देश्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित होती है। ये विभिन्न तत्व भी कई बातों से प्रभावित होते हैं जिनके कारण लिये गये निर्णय आदर्श नहीं होते हैं बल्कि अधिकांश रूप में संतोष प्रद होते हैं। मार्च व साइमन* के अनुसार अधिकांश रूप में मानव द्वारा निर्णयन-प्रक्रिया संतोषप्रद विकल्पों से ही सम्बंधित होती है कभी 2 अपवाद स्वरूप ही श्रेष्ठतम विकल्प से सम्बंधित होती है। वास्तविक दशाओं में निर्णायक संतोषप्रद स्थितियों में अधिक संतोषप्रद का चयन करता है। अत: उसे आदर्श हल की अपेक्षा संतोषप्रद समाधान पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अत: उसे आदर्श तम की अपेक्षा संतोषी व्यक्ति कहा जा सकता है। यह संतोष प्रद स्थिति निम्न प्रक्रियाओं से गुजरने पर ही आ सकती है।

---

* "Most human decision-making whether individual or organisational, is concerned with the discovery and selection of satisfactory alternatives, only in exceptional cases it is concerned with discovery and selection of optinal alternatives." March, J. G. and simon, H. A. (1958). Organisations, New York, pp. 140–141.

समस्या की जानकारी (Identifying The Problem)—निर्णयन-प्रक्रिया में समस्या की जानकारी प्राप्त करना पहला कदम है। समस्या को अगर सही ढंग से समझा जायगा तो समस्या का निदान भी सही ढूंढ़ा जा सकेगा। जैसे डाक्टर रोग की जानकारी उसके लक्षणों से ज्ञात करने का प्रयास करता है लेकिन लक्षणों को रोग नहीं माना जा सकता है, वैसे ही समस्या को भी समझने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। अतः समस्या व समस्या के कारणों को अच्छी तरह समझना आवश्यक है। इस दशा में सारगर्भित बातों को व्यर्थ की बातों से, मुख्य घटकों को गौण घटकों से, संगत तथ्यों को असंगत तथ्यों से अलग करना होता है। जैसे—ग्राहकों से माल बड़ी मात्रा में अस्वीकृत होकर लौटता है तो इसके अनेक कारण हो सकते हैं जैसे माल की किस्म का घटिया होना, माल का देरी से पहुंचना, माल का बाजार की अपेक्षा अधिक मूल्य होना, माल का खराब दशा में पहुंचना, माल पर्याप्त मात्रा में न पहुंचना, माल का शर्तों के अनुसार न होना आदि कई कारण हो सकते हैं अतः सही समस्या क्या है ? इसका पता लगाना चाहिये।

समस्या का विश्लेषण (Analysing The Problem)—समस्या के अधिक जटिल होने पर उसका विश्लेषण आवश्यक है। इसके लिये उसे कई अंगों में विभाजित करना जरूरी होता है। इसके लिये कोई मार्ग निश्चित नहीं है, फिर भी निर्णय की भविष्यता या उससे पड़ने वाले प्रभावों की अवधि, निर्णय का प्रभाव क्षेत्र, निर्णय की गुणात्मकता, एवं निर्णय की बारम्बारता को ध्यान में रखना आवश्यक है। इसके लिये निर्णय की प्रकृति, समस्या से सम्बंधित जानकारी, उपलब्ध साधन, समस्या के विभिन्न अंग व उन पर नियंत्रण व अनियंत्रण की दशाओं का विश्लेषण आवश्यक है।

संभावित विकल्पों का निर्धारण व विकास (Determining and Developing The Posssible Alternatives)—तीसरी दशा जो अधिक महत्वपूर्ण है संभावित विकल्पों के निर्धारण व विकास की। इसमें निर्णय कर्त्ता खुले मस्तिष्क का होना चाहिये। उसे सभी संभावित विकल्पों को स्वीकार करना चाहिये समस्या के निदान के लिये एक या एक से अधिक विकल्पों की सहायता ली जा सकती है, अगर संतोषप्रद समाधान मिल जाता है तो विकल्पों की खोज का कार्य रुक जाता है अन्यथा यह कार्य चलता रहता है।

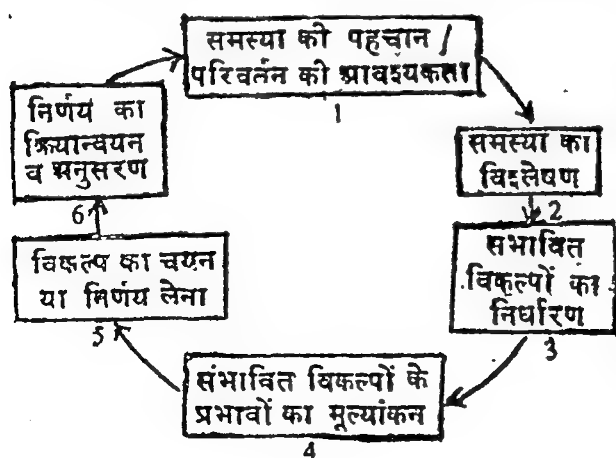
संभावित सफलता का मूल्यांकन—(Evaluating the Impact of Alternatives)—विभिन्न विकल्पों से एक समस्या के सन्दर्भ में प्रत्येक विकल्प से प्राप्त होने वाली संभावित सफलता का मूल्यांकन करना चाहिये जिससे कि न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ या संतोष या उद्देश्य प्राप्त हो। क्योंकि इसके लिये किसी विशेष विकल्प को अपनाने पर जो प्रभाव होंगे उनकी प्रति-

क्रिया कैसी होगी, यह भी मूल्यांकन से ही ध्यान में आ सकती है। अतः प्रत्येक विकल्प से होने वाले सभी सकारात्मक व नकारात्मक प्रभावों का पहले से ही मूल्यांकन करना चाहिये यह बहुत कुछ निर्णय कर्त्ता की व्यक्तिगत विशेषताओं या व्यक्तित्व, सूचनाओं, उद्देश्यों व चयन क्रिया पर निर्भर करता है जो कि प्रत्येक व्यक्ति में अलग 2 पाई जाती है।

समाधान का चयन या निर्णय लेना (Making A Decision)—इस दशा में विभिन्न विकल्पों के मूल्यांकन के बाद किसी एक विकल्प का चयन किया जाता है। इसके लिये उन संभावित विकल्पों का श्रेणीकरण किया जा सकता है। सर्वोत्तम या संतोषप्रद चयन के लिये विकल्पों के गुण-दोष, विकल्पों के प्रभाव की अवधि, उपलब्ध साधन, एवं लगने वाले समये का ध्यान रखना चाहिये। यह सब निर्णय कर्त्ता के अनुभव योग्यता, अन्तंज्ञान, सौन्दर्य-बोध, उद्देश्य आदि पर निर्भर करता है।

निर्णयों का क्रियान्वयन व अनुगमन (Executing and Following the Decision)—जब निर्णय ले लिया जाता है और उसको कार्य रूप में लागू किया जाता है तो उपस्थित व्यवस्था में परिवर्तन या संशोधन करना जरूरी हो जाता है। क्रियान्वयन एवं अनुगमन के बिना निर्णय का कोई महत्व नहीं होता है अतः निर्णयों की उपयोगिता, उपादेयता व व्यवहारिकता उनके क्रियान्वयन व अनुगमन में ही है।

इस प्रकार निर्णयन-प्रक्रिया एक चक्रीय प्रक्रिया कही जा सकती है



चित्र संख्या 8.2

जिसमें प्रथम दशा में समस्याओं को पहचानना, दूसरी दशा में समस्या का विश्लेषण करना, तीसरी दशा में संभावित विकल्पों को खोजना, चौथी दशा में विकल्पों का मूल्यांकन, पांचवीं दशा में निर्णय लेना व अन्तिम दशा में निर्णय को क्रियान्वित करना होता है जिससे परिवर्तन या संशो-

घन करना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप पुनः परिवर्तन के लिये सूचनाओं की प्राप्ति का कार्य शुरू हो जाता है। जिसे उक्त मॉडल से प्रदर्शित किया जा सकता है। चित्र संख्या 8.2।

निर्णयों के प्रकार—वैसे तो मानव अपने जीवन में कदम 2 पर निर्णय लेने का कार्य करता है और यह एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया है लेकिन निर्णय भी समस्या के अनुसार अलग 2 होते हैं जो इस प्रकार है—

(1) **व्यक्तिगत व संस्थागत निर्णय**—कुछ निर्णय व्यक्ति विशेष से सम्बंधित होते जिनका महत्व व्यक्ति के लिये निजी रूप में होता है इनका प्रभाव व्यक्ति विशेष पर ही होता है। जबकि कुछ निर्णय किसी संस्था से सम्बंधित होते हैं जो संस्था के अस्तित्व, कार्य संचालन, उद्देश्यों को प्रभावित करते हैं।

(2) **सामान्य एवं महत्वपूर्ण निर्णय**—कुछ निर्णय सामान्य किस्म के होते हैं जो नित्य प्रति आने वाली समस्याओं के समाधान के लिये होते हैं जिनमें विशेष बुद्धि, विश्लेषण, अधिकार, सत्ता आदि की जरूरत नहीं होती है, जबकि महत्वपूर्ण निर्णय कभी 2 ही लेने होते हैं। इनमें अधिक विवेक, विश्लेषण, चिंतन, मनन, विशेषाधिकार व श्रम की आवश्यकता होती है ऐसे निर्णयों का प्रभाव भी अधिक महत्वपूर्ण होता है।

(3) **व्यक्तिगत व सामूहिक निर्णय**— कुछ निर्णय कई व्यक्तियों द्वारा लिये जाते हैं। व्यक्तिगत निर्णयों की अपेक्षा सामूहिक निर्णयों को अच्छा माना जाता है क्योंकि ऐसे निर्णय सभी पहलुओं पर विचार करके लिये जाते हैं लेकिन ये खर्चीले. अधिक समय लेने वाले, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से दूर वाले होते हैं जबकि व्यक्तिगत निर्णय कम खर्चीले, कम समय में व उत्तरदायित्व युक्त होते हैं। और एक व्यक्ति विशेष के द्वारा ही लिये जाते हैं।

(4) **कार्यात्मक व अकार्यात्मक निर्णय**—कुछ निर्णय पुनरात्मक प्रवृत्ति के होते हैं अतः इनके लिये किसी नये मार्ग को खोजने की आवश्यकता नहीं होती है दूसरी ओर अकार्यात्मक निर्णय वे होते हैं जिनकी प्रकृति पुनरात्मक नहीं होती है अतः ऐसे निर्णयों के लिये हर बार नया मार्ग अपनाना पड़ता है। पहले का स्थापित कोई तरीका इन निर्णयों के लिये लागू नहीं होता है। ये हर बार नये होते हैं व पुरानों से मेल नहीं खाते हैं। इनसे सम्बन्धित समस्याएं विशेष प्रकार की होने के कारण ही ये निर्णय विशेष परिस्थितियों में जन्म लेते हैं। जैसे— नये उद्योग की स्थापना, नई शाखाएं खोलना आदि।

(5) **अचानक व दीर्घकालिक निर्णय**—कुछ निर्णय अचानक लिये जाते हैं जिनका प्रभाव तत्कालीन रूप से समस्या की गहनता को कम करने से

होता है कुछ निर्णय ऐसे होते हैं जिनका प्रभाव दीर्घ कालीन होता है। जैसे अगर बाजार में मूल्यों में अन्तर आने पर व्यापारी तत्काल निर्णय करता है कि उसे मूल्यों में कमी या वृद्धि करनी है तो कितनी करनी है। जबकि दूसरी ओर बाद में वह दीर्घकालिक निर्णय लेता है कि उसे मूल्यों की कमी को किस प्रकार पूरा करना है।

इसी प्रकार संगठनात्मक, विभागीय, अन्तर्विभागीय, प्रबन्धात्मक आदि कई प्रकार के निर्णय होते हैं जो अलग 2 उद्देश्यों के आधार पर अलग 2 रूप से विभाजित किये जाते हैं।

स्थिति से सम्बन्धित निर्णय (Locational decision)

जैसा कि हम ऊपर के अध्ययन में देख आये हैं कि निर्णयन-प्रक्रिया बहुत जटिल है और इसका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है लेकिन आर्थिक भूगोल में हम मुख्यतः आर्थिक गतिविधियों की स्थिति से सम्बन्धित होते हैं अतः स्थिति निर्धारण सम्बन्धी निर्णयन-प्रक्रिया सम्पूर्ण निर्णयन-प्रक्रिया का एक अंग मात्र है जो किसी भी प्रकार की आर्थिक गतिविधियों के सम्बन्ध में लिये गये निर्णयों में से एक है। लायड व डिकन* के अनुसार—

"स्थिति से सम्बन्धित निर्णय वे निर्णय हैं जो पृथ्वी के धरातल पर संचलन युक्त होते हैं।" किसी व्यक्ति विशेष के लिए स्थिति से सम्बन्धित निर्णय उनकी बारम्बारता (Frequency) के आधार पर भिन्न 2 हो सकते हैं। कुछ समस्याएँ बार 2 आती हैं और निर्णयकर्ता उनको आदतन हल कर लेता है ऐसे निर्णय कार्यात्मक (Programmed decision) कहलाते हैं जबकि कुछ समस्याएँ या प्रश्न कभी 2 ही उत्पन्न होते हैं और तब उनसे सम्बन्धित जो निर्णय लिये जाते हैं वे अकार्यात्मक (Non-programmed) निर्णय कहलाते हैं। इस प्रकार के निर्णय कभी 2 तो पूरे जीवन में एक या दो बार ही लेने पड़ते हैं। यहां हम इस प्रकार के कुछ अकार्यात्मक-स्थिति सम्बन्धी निर्णयों को उदाहरण के रूप में देखेंगे जिससे निर्णय व निर्णयन-प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिलेगी।

स्थानान्तरण से सम्बन्धित निर्णय (Migrational Decision)—मान लीजिये कि एक व्यक्ति एक गांव में निवास करता है और वहां उसके

* "Location decision as those involving movement over the earth's surface." Lloyd, P.E. and Dicken, P. (1972) Location in space : A Theoretical approach to Economic Geography, Harper & Row, New York, PP. 146.

सामने समस्या गांव छोड़ने की और अन्यत्र बसने की उपस्थित हो जाती है। अतः वह अपने निवास के लिये उपयुक्त स्थिति के चयन का निर्णय करना चाहता है। इसके लिये सर्व प्रथम उसे अगर कारण ज्ञात हो जाता है कि अमुक कारण से वह वहां परेशान है। तब प्रारम्भ में वह उस कारण को दूर करने का प्रयत्न करता है। अगर वह परेशानी का कारण दूर हो जाता है। तब वह वर्तमान स्थिति से ही अनुकूलन करने का प्रयास करेगा। लेकिन अगर वह उस कारण की वजह से इतना अधिक परेशान हो जाता है कि उसकी सहन शक्ति जवाब दे जाती है। तभी वह अनुकूलन में असफल हो जाता है और उसे विशेष प्रकार की स्थिति का चयन करने की आवश्यकता होती है। तब वह अपनी इच्छा के स्तर की नवीन स्थिति को ज्ञात करने का मार्ग अपनायेगा इसके लिये हो सकता है वह अपने परिचित व्यक्तियों से, सम्बंधियों से, विभिन्न प्रचार माध्यमों से या स्वयं की प्रत्यक्ष देख रेख में अन्य स्थानों की स्थिति का ज्ञान एकत्रित करेगा लेकिन यहां एक बात महत्वपूर्ण है। वह यह कि मानव-ज्ञान सीमित होता है और जैसे 2 दूरी बढ़ती जाती है दूर के क्षेत्रों के बारे में ज्ञान कम होता जाता है, जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में अध्ययन किया है, वह समस्या का विश्लेषण हर दृष्टि से करेगा और अधिकतम जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करेगा।

प्राप्त जानकारी के आधार पर वह विभिन्न विकल्पों की संभावनाओं पर विचार करता है। संभावित विकल्पों में उस गांव के किसी अन्य भाग में बसना या उस गांव को छोड़कर किसी अन्य स्थान पर बसना हो सकता है।

इन दोनों विकल्पों का वह विभिन्न दृष्टि से मूल्यांकन करता है ताकि उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र स्थानान्तरित होने के लाभ व हानियों का आकलन कर सके। इस प्रक्रिया में वर्तमान व भविष्य में पड़ने वाले प्रभावों, उसकी आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, नवीन स्थिति के बारे में प्राप्त जानकारी, उसका बौद्धिक स्तर, परिचित व्यक्तियों की सलाह आदि का प्रभाव पड़ता है। जब वह संभावित विकल्पों का तुलनात्मक मूल्यांकन करता है तो संभव है कि वह किसी उपयुक्त समाधान पर पहुंच सकता है। यह समाधान अधिकांश दशाओं में संतोषप्रद ही होता है। यहां यह बात भी स्मरणीय है कि यह आवश्यक नहीं है कि कोई आदर्श समाधान प्राप्त हो जाय। अगर वह संतोषप्रद समाधान से संतुष्ट हो जाता है तो वह उस स्थान से अन्यत्र स्थानान्तरित होने का निर्णय ले सकता है। अन्यथा उसकी निर्णय लेने की प्रक्रिया जारी रह सकती है।

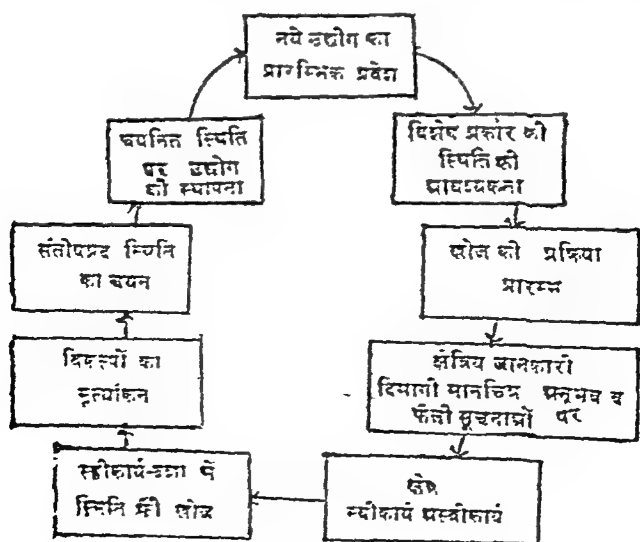
निर्णय लेने के बाद उसकी उपयोगिता तभी होती है जबकि निर्णयकर्ता उसको मूर्त रूप प्रदान करे। अर्थात् स्थानान्तरण की दशा में वह उस स्थान को छोड़ कर अन्यत्र जा बसे। अगर वह उसे कार्य रूप प्रदान न करे तब उसकी उपयुक्त स्थिति चुनने की प्रक्रिया बराबर जारी रह सकती है।

एक फर्म (उद्योग) के लिये स्थिति के चयन का उदाहरण
(Location-decision for a firm)

सामान्यत: किसी फर्म के लिये स्थिति के चयन का निर्णय दो प्रकार की दशाओं में होता है (1) जब कोई व्यक्ति व्यापार में पहली बार फर्म को स्थापित करना चाहता है। (2) या पहले स्थापित फर्म को असंतोषप्रद स्थिति को छोड़कर नई स्थिति का चयन करना होता है।

पहली बार फर्म के लिए स्थिति का निर्णय—इस दशा में कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह कोई फर्म पहली बार स्थापित करने की इच्छा से प्रेरित होता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि कितनी कठिनाई या कितनी सरलता से प्रवेश संभव है तथा यह इस पर भी निर्भर करता है कि पूंजी व उत्पादन क्षमता की कितनी आवश्यकता है।

प्रथम बार स्थिति का निर्धारण करने के लिये उस क्षेत्र के बारे में विस्तृत जानकारी होना आवश्यक है जो कि उस फर्म के संस्थापक के इच्छित स्तर को संतोषप्रद रूप से प्राप्त कर सके अर्थात् संस्थापक उससे संतुष्ट हो सके। विस्तृत जानकारी, प्रत्यक्ष ज्ञान या विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क से या प्रचार माध्यमों से प्राप्त करनी पड़ती है। इसी अनुभव के आधार पर एवं सूचनाओं की प्राप्ति पर आधारित एक मानसिक मानचित्र तैयार होता है। यह एक व्यवस्थित शोध का कार्य कहा जा सकता है जिसमें प्राप्त प्रारम्भिक सूचनाओं की छंटनी करके कुछ सूचनाओं को ग्रहण किया जाता है और शेष अस्वीकार करदी जाती हैं



चित्र संख्या 8.3

जब किसी प्रदेश विशेष को उपयुक्त समझ कर स्वीकार कर लिया जाता है तो उसमें उपयुक्त स्थिति की खोज का कार्य शुरू किया जाता है लेकिन जहां क्षेत्र विशेष या प्रदेश विशेष का चयन किया जाता है तो उसमें किसी प्रदेश या क्षेत्र विशेष की ओर झुकाव होना नई बात नहीं है स्थिति की खोज में विभिन्न उपलब्ध संभाव्यताओं का मूल्यांकन करना होता है। विभिन्न विकल्पों के गुण व दोष देखे जाने चाहिये। यहां संस्थापक उनकी गुणात्मकता का मूल्यांकन करता है और तब वह ऐसी स्थितियों को ज्ञात करने में सफल हो सकता है जो कि संतोषप्रद हो।

संतोषप्रद स्थितियों में से प्रत्येक का एक दूसरे से तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। और इस तुलनात्मक अध्ययन से ही सबसे अधिक संतोषप्रद स्थिति का चयन किया जाना चाहिये। अगर संस्थापक सबसे अधिक संतोषप्रद स्थिति का चयन कर लेता है तब उसका निर्णय उस स्थिति पर फर्म को स्थापित करने का हो जाता है और तब वह वहाँ पर फर्म की स्थापना कर सकता है देखिये चित्र सं. 8.3। लेकिन यह सारा कार्य बड़ा जटिल है क्योंकि नये संस्थापक को अनुभव कम होता है या नहीं के बराबर होता है। अतः उस पर कई बातों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। ये प्रभाव निम्नांकित हो सकते हैं:—

[1] अपने से बड़ों की सलाह या अपने साथियों–सम्बंधियों की सलाह का प्रभाव।

[2] शिक्षा के स्तर का प्रभाव।

[3] उसकी उम्र का प्रभाव (मानसिक स्तर का प्रभाव)

[4] अन्य संस्थापकों की सलाह का प्रभाव

[5] विशेषज्ञों की सलाह का प्रभाव

[6] आर्थिक व सामाजिक स्तर का प्रभाव

[7] उद्देश्य

आदि कई बातें हैं जो व्यक्ति विशेष के द्वारा लिये गये निर्णय से पूर्व की प्रक्रिया को प्रभावित करती है बहुधा संस्थापक द्वारा लिये गये निर्णय पूर्व प्राप्त सूचनाओं पर आधारित नहीं होते हैं। थॉमसन[4] ने (1961) में अपने अध्ययन में बताया है कि अधिकांश स्थिति सम्बन्धी निर्णय जिन्दगी में एक बार ही लिये जाते हैं और छोटी फर्में स्थिति सम्बन्धी निर्णय इस प्रकार के लेती है कि या तो इस पार या फिर उस पार। लेकिन जब एक संस्थापक अपने इच्छित स्तर के उपयुक्त स्थिति का चयन नहीं कर पाता है तो वह अपना खोज का कार्य जारी रखता है, चूंकि खोज का कार्य अधिक खर्चीला व अधिक समय लेने वाला होता है अतः यह कार्य अनिश्चित समय तक जारी नहीं रखा जा सकता क्योंकि इच्छित स्तर एक काल्पनिक दशा है। अतः बार 2 असफल होने

पर या तो संस्थापक को अपने इच्छित स्तर में संशोधन करना पड़ सकता है या अपने अक्षम तलाश के साधनों को सक्षम बनाना पड़ सकता है तभी वह सफलता प्राप्त कर सकता है। दोनों में ही परिवर्तन करने के बावजूद भी अगर वह असफल होता है तो या तो उसे वह मार्ग छोड़ना पड़ सकता है या फिर किसी संतोषप्रद के निकट की स्थिति को स्वीकार करना पड़ सकता है।

एक फर्म को स्थापित स्थिति से नई स्थिति के चयन की प्रक्रिया

जब एक फर्म पहले से ही किसी स्थान पर स्थापित हो, किन्हीं परिस्थितियों के कारण उसके लिये नई स्थिति का निर्णय करना हो या उसकी सहायता के लिये किसी शाखा फर्म की स्थिति का निर्णय करना हो तब भी समस्या बहुत जटिल होती है। सामान्यतः एक संस्थापक एक फर्म को स्थापित करता है तो दो प्रकार की स्थिति की आवश्यकता होती है।

(i) स्थल-स्थिति (Site):—यह फर्म को स्थान विशेष पर स्थापित करने के लिये वहां उपलब्ध सुविधाओं से सम्बन्धित है। जैसे उस स्थान की भूगर्भिक बनावट, धरातलीय बनावट, ढ़ाल, जलवायु आदि।

(ii) सापेक्षिक स्थिति (Situation):—यह आस पास के वातावरण के सन्दर्भ में उस स्थान विशेष पर उपलब्ध सुविधाओं एवं विशेषताओं से सम्बन्धित है। जैसे किसी महत्वपूर्ण कच्चे माल के स्त्रोत या बाजार या नगर से उस स्थान की सापेक्षिक दूरी।

सामान्यतः दोनों स्थितियों में जहां पर्याप्त संतुलन होता है ऐसी स्थिति का चयन अधिक अनुकूल कहा जा सकता है लेकिन यह कल्पना करना वास्तविकता से परे होगा कि दोनों प्रकार की स्थितियों में पर्याप्त संतुलन होगा। क्योंकि हो सकता है कि प्रारम्भ में जब फर्म की स्थापना हुई थी, उस समय दोनों में पर्याप्त संतुलन रहा हो। लेकिन समय के साथ 2 ही दोनों में परिवर्तन आ जाता है। इसी परिवर्तन के कारण फर्म के लिये नई स्थिति या शाखा फर्म की स्थापना की समस्या उत्पन्न होती है। अगर फर्म की व्यवस्था में आवश्यक संशोधन करने से इस समस्या का समाधान हो सकता है तो आवश्यक संशोधन कर लिये जाते हैं और स्थिति में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती है। लेकिन अगर समस्या का दबाव फर्म की सहन शक्ति से परे हो जाता है तब परिवर्तन (स्थिति में) आवश्यक हो जाता है।

परिवर्तन के लिये बाध्य करनेवाली दशाऐं कई प्रकार से उत्पन्न हो सकती है। जैसे उत्पादन में वृद्धि के लिये फर्म का विस्तार करना आवश्यक हो जाय, या उत्पादन घट जाय, या उस स्थान पर फर्म की लीज खत्म हो जाय तो फर्म

को वहां से हटाना पड़ सकता है। अगर नवीन उत्पादन की प्रक्रिया अपनाने से स्थान की कमी महसूस हो तब भी नई स्थिति के चयन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के दबाव आंतरिक व बाह्य, दोनों प्रकार के हो सकते हैं और उनका दबाव बढ़ता जाता है। इसी से विश्लेषण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। समस्या का कारण ढूंढ़ना ही विश्लेषण का मुख्य कार्य है विश्लेषण से ही पता लगाया जा सकता है कि वास्तविक समस्या क्या है? एवं कैसे उस को हल किया जा सकता है? जब विश्लेषण के आधार पर कारण ढूंढ लिया जाता है, तब विभिन्न विकल्पों को खोजा जाता है। अगर उत्पादन गिर रहा है, इसकी समस्या है, तो लागत तत्वों में स्थानापन्न तत्वों को काम में लेकर उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। श्रम की कमी को स्वयं चालित मशीनों से पूरा किया जा सकता है या स्थाई मजदूरों से। काम की कमी के समय में दूसरों से समझौता करके काम लिया जा सकता है अगर किसी फर्म का सीमा क्षेत्र उत्पादन की तुलना में ज्यादा है तो उसे किराऐ पर दिया जा सकता है या उसमें कृषि की जा सकती है। अगर इस प्रकार के विकल्पों से सफलता पूर्वक अनुकूलन हो जाता है तो फर्म वहीं स्थित रहती है अन्यथा इन परिवर्तनों से भी अगर समस्या का दबाव बना रहता है तो परिवर्तन आवश्यक हो जाता है।

विभिन्न विकल्पों के होने वाले प्रभावों का मूल्यांकन भी आवश्यक है। बहुधा किसी फर्म की इज्जत का प्रश्न भी इससे जुड़ा होता है। कई बार नई स्थिति की अनिश्चितता से असुरक्षा भी हो सकती है। इसी प्रकार फर्म को हटाकर ले जाने का खर्चा, नये स्थान को प्राप्त करने का खर्चा, तथा बीच की अवधि में उत्पादन में व्यवधान के कारण होने वाली हानि आदि का मूल्यांकन करना जरूरी है लेकिन इन सबको देखते हुये भी अगर उस स्थान पर बने रहना असम्भव हो जाय तब उसका समाधान उस स्थान पर उसे फर्म की शाखा इकाई में बदल कर किया जा सकता है अगर शाखा इकाई से भी काम न चले या लागत तत्वों की पूर्ति बन्द हो जाय या उस फर्म की लीज खत्म हो जाय तब स्थिति का परिवर्तन आवश्येक हो जाता है।

तब निर्णयकर्ता के लिये नये स्थान की खोज के अलावा और कोई उपाय नहीं रह जाता है। और सारी प्रक्रिया नये ढंग से शुरू होती है तब वह दिमागी, मानचित्र बनाकर उसके अनुसार खोज का कार्य शुरू कर देता है और उसकी प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि वह सतोषप्रद स्थिति का चयन न करलें। यह प्रक्रिया उसी प्रकार चलती है जैसे किसी नई फर्म की स्थापना के लिये स्थिति का चयन करने के लिये चलती है, जिसका अध्ययन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। जब संस्थापक द्वारा निर्णय ले लिया जाता है तब वहां फर्म को स्थापित किया जा सकता है सामान्यत: ऐसे संतोषप्रद विकल्पों में से

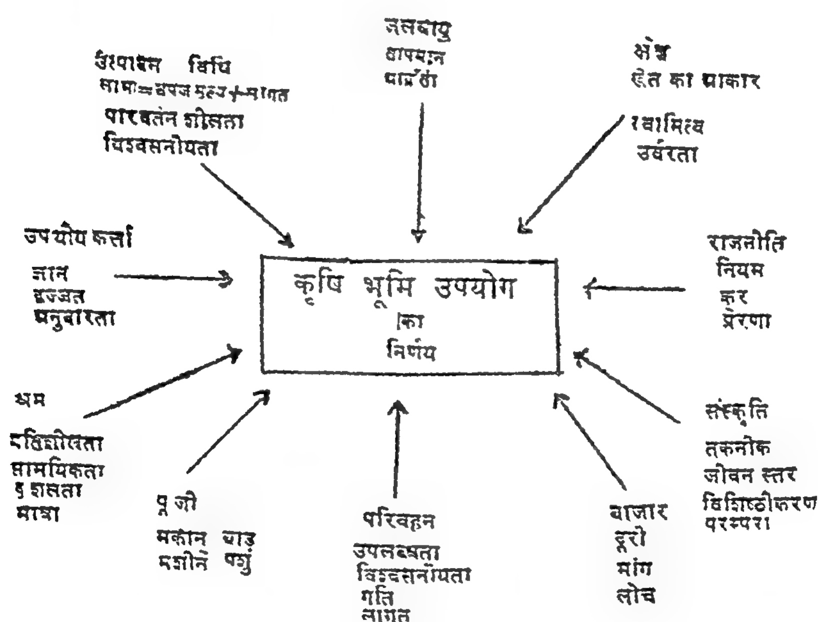
हो किसी एक अधिक संतोषप्रद स्थिति पर फर्म स्थापित की जाती है।

कृषि व्यवस्था में निर्णयन-प्रक्रिया

जैसा कि हमने फर्म के लिये स्थिति निर्धारण की प्रक्रिया का अध्ययन किया, ठीक इसके विपरीत निर्णयन - प्रक्रिया कृषि में होती है। फर्म या उद्योग की दशा में संस्थापक यह निर्णय करने के बाद की किस वस्तु का उत्पादन करना है ? किस मात्रा में उत्पादन करना है ? किस तकनीक से उत्पादन करना है ? वह यह निश्चित करता है कि उत्पादक इकाई को कहां स्थापित करने से अच्छी तरह उत्पादन किया जा सकता है ? अर्थात् स्थिति के चयन का निर्णयन किया जाता है। जबकि कृषि में स्थिति सम्बन्धी निर्णय उत्पादक को नहीं लेना होता है क्योंकि यहां भूमि की स्थिति निश्चित होती है अतः कृषक को सम्भावित मूल्यों के सम्बन्ध में यह निश्चित करना पड़ता है कि कहां किस वस्तु का उत्पादन किया जाय ? दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भूमि का श्रेष्ठतम रूप से कौनसी फसल उगाने में उपयोग किया जा सकता है ? इसका निर्णय करना पड़ता है। इस निर्णय पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। विशेषकर मौसम की अनिश्चितता तो हमेशा बनी रहती है, इस सम्बन्ध में जे० वुलपर्ट[5] ने मध्य स्वीडन में कृषि उत्पादन के निर्णयन के सम्बन्ध में 1964 में अध्ययन किया, जहां उसने पाया कि कृषकों की उत्पादकता श्रेष्ठतम की अपेक्षा कम ही है। वुलपर्ट के इस अध्ययन में, खेतों में श्रमिक-उत्पादकता के श्रेष्ठतम व वास्तविक प्रतिरूपों का, तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। औसत रूप में मध्य स्वीडन में जो खेतों में कृषि की जा रही थी वह उनकी क्षमता की दो तिहाई ही थी, जबकि वास्तविक व सम्भावित उत्पादकता का विन्यास क्षेत्रीय रूप में एक समान था। यह विभिन्न क्षेत्रों में कृषकों के रूप में निर्णय-कर्त्ताओं की अपूर्ण जानकारी के कारण एवं उपलब्ध ज्ञान के सीमित उपयोग होने के कारण ही पाया गया। क्योंकि उपलब्ध ज्ञान व सूचनाओं पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है जिसका प्रभाव अन्ततः भूमि उपयोग के निर्णय पर भी पड़ता है। कृषि भूमि उपयोग के निर्णय को विभिन्न तत्व प्रभावित करते हैं उन्हें चित्र संख्या 8.4 के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

अतः यह सब निर्णयकर्त्ता की सक्रियता, अनुभव, आयु, शैक्षणिक स्तर, आर्थिक एवं सामाजिक स्तर, पूर्व में लिये गये निर्णयों का प्रभाव, नये स्थान के बारे में उपलब्ध जानकारी, जोखिम उठाने का साहस, उद्देश्य आदि कई बातों पर निर्भर करता है। जहां एक ओर भौतिक दशाएं कृषक के निर्णय को प्रभावित करती है, वहीं बाजार की दशाएं भी उसे प्रभावित करती है। चतुर्वेदी और रेड्डी[6] (1973) ने तेलंगाना प्रदेश की फसलों की उत्पादन तकनीक और

सिंचाई साधनों का अध्ययन प्राकृतिक तत्वों के सन्दर्भ में किया इन्होंने इस बात को भी स्पष्ट किया कि हैदराबाद के बाजार का प्रभाव आस पास के 40 किमी. के अर्द्ध व्यास में खाद्यान्नों के स्थान पर विशाल पैमाने पर अंगूरों की खेती के रूप में भूमि-उपयोग पर पड़ा है। ऐसा ही उदाहरण भारत में गन्ने के उत्पादन में लगे भूमि-उपयोग पर देखा जा सकता है। जिस वर्ष गन्ना अधिक मात्रा में उगाया जाता है, बाजार में गन्ना व सम्बन्धित उत्पादनों के मूल्य गिर जाते हैं। ऐसी दशा में कभी 2 कृषकों को गन्ना जलाना पड़ता है। और अगले ही वर्ष भूमि का अन्य उपयोग कर लिये जाने से गन्ने का उत्पादन गिर जाता है।



चित्र संख्या 8.4

इस प्रकार निर्णय लेने की प्रक्रिया बहुत जटिल है जो मानव के व्यवहार को प्रदर्शित करती है। लेकिन इस सम्बन्ध में कोई स्वस्थ एवं सर्व मान्य सिद्धांत अभी तक भूगोल वेताओं द्वारा विकसित करना शेष है। जिसके आधार पर आर्थिक भू-दृश्यों के सन्दर्भ में मानव द्वारा लिये गये निर्णयों की व्याख्या की जा सके। इस सन्दर्भ में हगेट[7] के (1965) के विचार महत्वपूर्ण हैं कि वास्तव में मानव की निर्णय लेने की प्रक्रिया "न तो पूर्णतः तर्क संगत है और न ही पूर्णतः अव्यवस्थित है बल्कि यह अवसर पसन्द और परिकलन का सम्भाव्यता सम्बन्धी समिश्रण है।"

स्थिति सम्बन्धी निर्णय वर्तमान के सन्दर्भ में

प्रारम्भिक स्थिति निर्धारण के सिद्धान्तों में कार्य के स्थान या उत्पादक इकाई के लिये स्थिति का चयन महत्वपूर्ण था। औद्योगिक देशों में आज भी प्रारम्भिक सिद्धान्तों के प्रति आकर्षण है लेकिन आजकल इस प्रकार के निर्णय अधिक प्रचलित नहीं है, जबकि अन्य प्रकार के निर्णय अधिक प्रभावशाली हैं। जो इस प्रकार है—

1. लगातार परिवर्तनों से अनुकूलन:— आधुनिक युग में किसी भी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था हो आस पास के पर्यावरण में होने वाले परिवर्तनों से अनुकूलन करना पड़ता है। पर्यावरणीय परिवर्तनों में बाजारों में, विधि-विधान में, माल के मूल्य में, सेवाओं में, संशोधित परिवहन सेवाओं में होने वाले परिवर्तन हैं। अत. फर्म को या अर्थ व्यवस्था को समय 2 पर इनसे अनुकूलन स्थापित करने के लिये निर्णय लेने होते हैं। कभी 2 ऐसी दशा भी आती है कि जैसे फर्म को अन्यत्र स्थापित करे या बन्द करदे या उसकी शाखा स्थापित करे। या फिर फर्म को अपने ही स्थान पर पुनर्व्यवस्थित करे। यह पुनर्व्यवस्थित स्वरूप कार्यों में परिवर्तन करके प्राप्त किया जा सकता है। इन सभी सभावनाओं में प्रादेशिक प्रभाव निहित होता है। पारस्परिक अन्त: निर्भरता के कारण इनसे उत्पन्न व्यापक प्रभावों का पूर्वानुमान करना कठिन है क्योंकि निर्णयकर्ता का ज्ञान सीमित होता है।
2. आज के सन्दर्भ में अन्य प्रकार के निर्णयों की अपेक्षा स्थिति सम्बन्धी निर्णय कम महत्वपूर्ण होते हैं। ऐसी मान्यता है कि स्थिति सम्बन्धी निर्णयों के अतिरिक्त अन्य निर्णयों का कोई स्थानिक प्रभाव शायद ही होता हो।
3. प्राचीन सिद्धान्तों के आधार पर लिये गये निर्णय के मॉडल आदर्शक हैं लेकिन आजकल व्यावहारिक विज्ञान के आधार पर उनमें काफी अन्तर पाया जाता है।
4. सभी प्रकार के निर्णयों में चाहे वे स्थिति सम्बन्धी हो या अन्य प्रकार के, बहुत कम शोध पर आधारित होते हैं व बहुत कम विकल्पों को स्वीकारा जाता है।
5. आज की जटिल परिस्थितियों में अनुभवी निर्णयकर्ता भी महसूस करते हैं कि उनके द्वारा लिये गये निर्णयों को लागू करते समय तक परिवर्तन करना पड़ता है।
6. एक और समान दशाओं में भी निर्णयकर्ता का विश्लेषण भिन्न 2 प्रकार

का होता है अतः उसके द्वारा लिये गये निर्णयों में भी भिन्नता पाई जाती है।

7. पुराने सिद्धान्त अधिक सरल थे, जहां ग्राहकों की स्थिति को अलग मानकर देखा जाता था जबकि स्थिति सम्बन्धी निर्णयों को मानवीय तत्व, माँग-कर्त्ता (ग्राहक) व पूर्ति कर्त्ता के रूप में, दोनों ही तरह से प्रभावित करता है।

सेठ और गुलाटी[8] (1975) ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया कि मानवीय तत्व श्रम के रूप में पूर्ति कर्त्ता है तथा माल व सेवाओं के रूप में मांगकर्त्ता है। अतः अर्थ व्यवस्था अपने आप बाजार व श्रम पूर्ति के अनुसार अनुकूलन करती है। इसके अलावा पूंजी, श्रम व तकनीक में परिवर्तन के आधार पर उनका केन्द्रीयकरण या विखराव में महत्वपूर्ण हाथ होता है। अतः आज की विकसित सामाजिक दशाओं में स्थिति सम्बन्धी समस्याएं काफी जटिल हैं। अतः इन्हें एकाकी रूप में देखना संभव नहीं है। आज के युग में स्थिति सम्बन्धी निर्णय समाज के विभिन्न समूहों के स्वार्थों को साथ 2 प्रभावित करते हैं। अतः भविष्य में स्थिति सम्बन्धी अध्ययनोंमें केवल स्थिति की आवश्यकताओ और स्वार्थों को अलग 2 रख कर देखना अनुपयुक्त है। विभिन्न समूहों के स्वार्थों को एक दूसरे के साथ समन्वित रूप में लाने का प्रयत्न होना चाहिये। आज जबकि एक समूह का दूसरे समूह पर लागत भार स्थानान्तरित होता है, तब इससे उत्पन्न समस्याओं पर प्रकाश डालना चाहिये। तभी स्थिति सम्बन्धी निर्णय अधिक उपयोगी हो सकते हैं।

REFERENCE–8

1. MARCH, J. G. and SIMON, H A (1958) Organizations, New York : Wiley.
2. HAGERSTRAND, T. (1952) The propagation of Innovation Waves, Lund Studies in Geography, Series B, 4.
3. Ibid.
4. THOMPSON, J. H. (1961) Methods of Plant site Selection Available to Small Manufacturing Firms Morgantown : West Virginia University Press.
5. WOLPERT, J. (1964) The decision Process in Spatial context in ROEPKE, H G. (eds) Readings in Economic Geography. John Wiley & Sons, New York.

6. CHATURVEDI, B. N. and REDDY, S. K. (1963) Regional Setting and Changing Agriculture Practices in Hyderabad District, Deccan Geographer, 2 (1 and 2).

7. HAGGETT, P. (1965) Locational Analysis in Human Geography, Edward Arnold, London.

8. SETH, V. K. and GULATI, D. R (1975) Location dynamics of Indian Manufacturing industries : A Study for the period 1959-65 Indian Journal of Regional Planning Vol. VII (2) pp. 159-179,

विकास किसी एक विषय से सम्बंधित न होकर कई विषयों से सम्बन्धित है। अतः इसे अन्तर्नुशासनीय (Interdisciplinary) माना जाने लगा है जो कि मूलतः एक व्यवहारिक समस्या है।

विकास से तात्पर्य—

विकास प्रायः आर्थिक दशा से सम्बन्धित माना जाता है। आर्थिक विकास न कहकर केवल विकास से तात्पर्य भी आर्थिक विकास से समझा जाता है। सामान्यतः विकास को नापने का सबसे सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक-संकेतक, प्रति व्यक्ति कुल राष्ट्रीय उत्पादन (Gross National Product) को लिया जाता है। इसी प्रकार दूसरा आर्थिक संकेतक विकास को नापने का प्रतिव्यक्ति कुल राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि दर को माना जाता है लेकिन आर्थिक दृष्टि से लिया गया कोई भी विकास को नापने का संकेतक तकनीकी एवं सकल्पनात्मक दोषों से मुक्त नहीं होता है। क्योंकि जो आंकड़े इसके लिये काम में लिये जाते हैं वे न तो समान होते हैं, न ही पूर्ण होते हैं और न ही पूर्ण शुद्धता वाले हैं। संकल्पनात्मक दृष्टि से लागत तत्वों का मूल्य या उत्पादित वस्तु का बाजारी-मूल्य से लेना, बहुत ही संकीर्णता युक्त विचार है। क्योंकि अगर विकास मानव-कल्याण से कम आंका जाता है तो यह अपूर्ण है।

कुछ लेखकों के अनुसार वृद्धि एवं विकास पर्यायवाची है। कुछ वृद्धि को विकसित देशों से सम्बन्धित मानते हैं जबकि विकास को आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों से सम्बन्धित। इस प्रकार का मत दोनों में अलगाव उत्पन्न करने वाला है। कुछ वृद्धि को क्रमिक व धीरे 2 होने वाले परिवर्तनों से जोड़ते हैं, जबकि विकास को स्पष्ट होने वाले परिवर्तनों से सम्बन्धित मानते हैं।

होडर और ली[1] के अनुसार वृद्धि से तात्पर्य आर्थिक या भौतिक रूप से अर्थ तंत्र में होने वाले सुधार से है जबकि विकास को अधिक व्यापक सन्दर्भ में लिया गया है जिससे सम्पूर्ण आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक प्रक्रिया से जन-संख्या की वृद्धि के अनुपात में संचयी रूप में जीवन स्तर को ऊंचा उठाने का कार्य हो। थॉमन और कार्बिन* के अनुसार वृद्धि से तात्पर्य पक्ष या विपक्ष में

---

* "Growth is increase, whether favorable or unfavorable;... development now is... to mean planned and implemented change, whether growth or decline."

Thoman, R. S. & Corbin, P. B. (1974, p. 366) Geog. of Economic activity, Mcgraw hill, London.

होने वाली तरक्की से है....जबकि विकास से तात्पर्य नियोजित व क्रियान्वित परिवर्तन से है चाहे इससे वृद्धि हो या पतन ।

इस प्रकार विकास का अर्थ बहुत ही अस्पष्ट है लेकिन पिछले कुछ वर्षों में विकास का विचार आर्थिक स्तर से भी आगे बढ़ाया गया है । आर्थिक विकास या सामाजिक विकास का विचार इस प्रकार आंशिक माना जाने लगा है ड्रेवनोवस्की[2] (1974) एवं मेक-ग्रेन्हान[3] (1870), स्टॉक[4] (1973) आदि ने इस प्रकार के विचारों का विरोध किया है । ड्रेवनोवस्की* के अनुसार "विकास सामाजिक और आर्थिक वास्तविकताओ की मात्रात्मक वृद्धि व गुणात्मक परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसे हम समाज या अर्थ व्यवस्था कहते हैं । आर्थिक व सामाजिक तत्वों में घनिष्ठ आपसी सम्बन्ध शुद्ध आर्थिक व सामाजिक विकास को अवरुद्ध करते हैं । अतः आर्थिक या सामाजिक विकास के बारे में कहना उपयुक्त नहीं है । बल्कि यह एक एकल प्रक्रिया है जिसे सरल रूप में विकास कहा जाता है ।"

इस प्रकार ड्रेवनोवस्की के अनुसार मानव जीवन में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ 2 गुणात्मक परिवर्तनों का महत्व भी आंका गया है । डिसोजा व पोर्टर ने गॉलेट☆ के विचारों को उद्दत किया है । गॉलेट के अनुसार "यद्यपि विकास आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों से अन्तर्निहित है, ये

---

* "Development is a process of qualitative change and quantitative growth of the Social and Economic reality which we call either society or Economy. The close inter relationship between economic & social elements precludes any purely Social or Economic development. It is therefore better not to speak of social development or Economic development, but of a single process called simply "development."

Drewnowski, J. (1974, 94–5) On measuring and planing the quality of life, Monten, The Hague.

☆ "Although development implies Economic, political & cultural transformations, these are not ends in themselves but indispensiable means for enriching the quality of human life."

De Souza, A. R. & Porter, P W. (1974, 3) The under-development & Moderization of the third world

अपने आप में साध्य नहीं है बल्कि मानव जीवन की गुणात्मकता को बढ़ाने वाले अत्यावश्यक साधन है।" डी. एम. स्मिथ* ने भी कल्याणकारी सुधार को स्वीकार करते हुए बताया कि "विकास उन्नति का पर्यायवाची है, जैसा कि इसमें लगे हुए व्यक्तियों द्वारा मूल्यांकित व अनुभूत किया जाता है।"

इस प्रकार आर्थिक विकास से तात्पर्य केवल मात्रात्मक परिवर्तन ही नहीं है बल्कि उसका उद्देश्य मानव-कल्याण से युक्त होना चाहिये। अत: केवल मानव की मांग या आवश्यकताओं की पूर्ति ही मुख्य उद्देश्य न होकर मानव की खुशहाली का उद्देश्य भी इसमें अन्तर्निहित होना आवश्यक है तभी हम विकास का अर्थ सम्पूर्ण रूप में जान सकते हैं अन्यथा हमारा उद्देश्य अधूरा रह जायगा साथ ही यह भी स्पष्ट होना आवश्यक है कि अर्थ व्यवस्था के किसी एक अंग के परिवर्तन को विकास नहीं कहा जा सकता है बल्कि सभी प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं की यह विशेषता है कि सभी स्तरों पर, सभी पैमानों पर, जटिल तत्वों में होने वाले परिवर्तनों को विकास कहा जाता है जो गुणात्मक व मात्रात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। आज आर्थिक विकास की दृष्टि से हम विश्व को अलग-अलग भागों में बंटा हुआ पाते है। आर्थिक विकास के स्तर के आधार पर आदिम, पिछड़े, अर्द्ध विकसित, कम विकसित, विकासशील, विकसित आदि नामों से पुकारते हैं जो कि एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है।

आर्थिक विकास समय के सन्दर्भ में–(Economic Development in Time)

किसी भी अर्थव्यवस्था का स्वरूप विभिन्न निर्णयकर्ताओं के निर्णय का सामूहिक प्रदर्शन मात्र होता है। लेकिन निर्णयकर्त्ताओं पर कई तत्वों का प्रभाव पड़ता है जिसका अध्ययन हमने पिछले अध्याय में किया है। मानव के आसपास का पर्यावरण एवं मानव स्वयं भी क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील है जिसका प्रभाव उसके द्वारा लिये गये निर्णयों पर पड़ता है लेकिन साथ ही उसके पूर्व में अन्य व्यक्तियों द्वारा लिये गये निर्णयों का भी प्रभाव पड़ता है। हमें वर्तमान में जो आर्थिक भूदृश्य दिखाई देता है वह उसके सही स्वरूप को प्रकट नहीं करता है। अधिक गहराई से देखने पर उसमें विगत भूदृश्यों के चिन्ह भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। अनेक विद्वान यह मानते हैं कि आर्थिक भूदृश्य जो वर्तमान में उपस्थित है, आर्थिक विकास की प्रक्रिया का परिणाम है लेकिन अगर हम भूतकाल के विकास

---

* "... Development is synonymous with progress, as experienced and evaluated by the people involved."

Smith, D. M. (1979, p. 207) Human Geog. A welfare approach, Arnold-Heinemann, New Delhi.

के कारणों को खोजने की चेष्टा करें तो हमें सन्देह उत्पन्न होता है फिर भी वह वर्तमान के प्रतिरूपों की दशाएँ व्यक्त करता है साथ ही भावी विकास की संचयी दशाओं को बताता है। जब एक बार व्यवस्था में गतिशीलता आ जाती है तो वह अपनी पूर्ववर्ती दशा से स्वतन्त्र नहीं हो सकती है और न ही बाह्य व आन्तरिक शक्तियों से अलग हो सकती है जो इसे विकास की ओर ले जाती है।

आर्थिक विकास किसी भी समय क्षेत्रीय दृष्टि से असमान होता है, कुछ क्षेत्र अधिक तेजी से विकास करते हैं जबकि कुछ धीमीगति से। यह विकास अलग 2 क्षेत्रों की आर्थिक दशाओं (विकास के स्तर पर) एवं उस क्षेत्र के संसाधनों पर निर्भर करता है। लेकिन आर्थिक विकास का स्तर समय से भी जुड़ा हुआ है। कुछ क्षेत्र प्रारम्भिक शुरूआत का लाभ उठाकर अधिक विकसित हो जाते हैं जबकि कुछ विकसित नहीं हो पाते हैं। सामान्यतः आर्थिक विकास का ऐतिहासिक रूप चिर परिचित है। जिसमें आदिम गतिविधियों से शिकार व संग्रह, फिर कृषि, उद्योग व वाणिज्य-सेवाओं तक परिवर्तन हुये हैं। यह परिवर्तन विभिन्न ऐतिहासिक दशाओं के क्रम में हुआ है जिसमें प्रत्येक अवस्था पिछली अवस्था से अधिक विकसित रही है। प्रसिद्ध अर्थ शास्त्री एवं इतिहासकार रोस्टोव[4] (1960) ने आर्थिक विकास की निम्नांकित 5 दशाएँ बताई है—

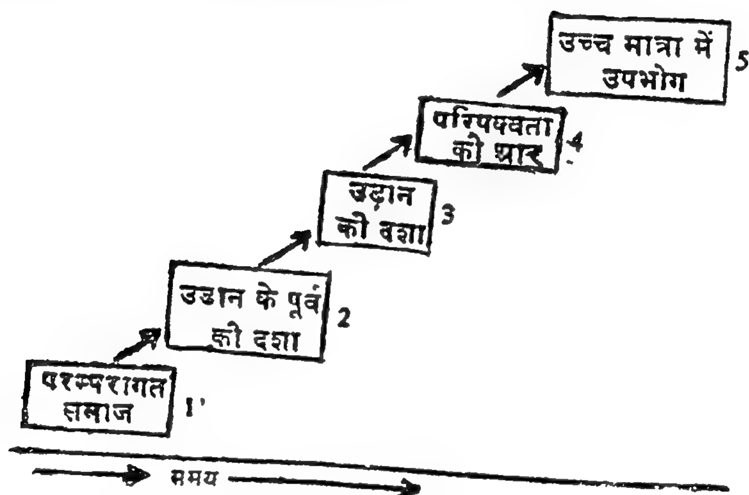
(1) **परम्परागत समाज**—यह दशा बहुत लम्बे समय तक रही है। इस दशा में तकनीकी ज्ञान सीमित था। इसमें विज्ञान के प्रति न्यूटन से पूर्व का दृष्टिकोण रहा। इसमें प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ाने की क्षमता नहीं थी। अतः बहुत कठिनाई से जीविकोपार्जन होता था। यह दशा अनिश्चित समय से चलती आ रही थी।

(2) **उड़ान के पूर्व की दशा**—इस दशा में बाह्य प्रभाव से या आन्तरिक चेतना से नये विचारों का जन्म हुआ लेकिन इन विचारों का विकास अब भी प्रबल परम्परागत समाज के वातावरण में हुआ जो केवल अपनी जड़ें ही जमाने में सफल हो सके यह दशा लगभग एक से दो शताब्दी तक रही।

(3) **उड़ान की दशा**—नई शक्तियों के अचानक उद्गार से यह दशा आई! नई पूंजी व तकनीक जो इसके पूर्व की दशा में धीरे 2 विकसित हो रहे थी वह सामने आने लगी, इसके बाद विकास की अवस्था लगातार हो गई। उत्पादकतायुक्त विनियोजन में विकास के कारण यह दशा आई। औद्योगिक व सेवा सम्बन्धी गतिविधियां अधिक सक्रिय हो गई। जो विचारक इससे पूर्व की दशा में विकसित हो रहे थे वे महत्वपूर्ण हो गये। वास्तविक रूप में यह दशा तीस वर्ष या इससे भी कम समय तक रही।

(4) **परिपक्वावस्था** – यह दशा 60 वर्षों तक चली, जिसमें अर्थ तंत्र का पूर्ण विकास हुआ इस दशा में विकास का प्रभाव अर्थ तंत्र के सभी भागों में हुआ औद्योगिक व सेवाओं की गतिविधियाँ व इनकी शाखाएँ व उपशाखाएँ विकसित हुई।

(5) **उच्च मात्रा में उमभोग की दशा** – इस दशा में इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त माल व सेवाएँ उपलब्ध हुई। समाज कल्याण के अन्य विकल्प भी चुने गये। उपभोग के अतिरिक्त कला व संगीत जैसे अनार्थिक क्षेत्रों में भी विकास हुआ। देखिये चित्र सख्या 9.1



चित्र संख्या 9.1

लेकिन **रोस्टोव के मॉडल** की आलोचना भी हुई जो इस प्रकार है—

[1] एक या दो चरों के आधार पर आर्थिक विकास का मॉडल बनाने की प्रक्रिया आर्थिक विकास के स्पष्टीकरण के लिये अपर्याप्त है। विभिन्न देशों में विकास का प्रतिरूप भी अलग 2 प्रकार का होता है।

[2] रोस्टोव के इस मॉडल में विभिन्न दशाओं को जोड़ने वाली प्रक्रिया दिखाई नहीं देती है।

[3] रोस्टोव का मॉडल कोई मॉडल नहीं है।

[4] यह छोटे व समानता वाले देश के लिये ही उपयोगी है।

हम रोस्टोव के मॉडल से सहमत हों या न हों लेकिन हम स्वयं भी जानते हैं कि वर्तमान की अर्थ व्यवस्था पर ऐतिहासिक काल का प्रभाव स्पष्ट है। वर्तमान स्वरूप विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भूतकाल में लिये गये आर्थिक

निर्णयों से प्रभावित हुआ है इस सम्बन्ध में मिर्डल* ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं, "विस्तृत सीमाओं में आज एक केन्द्र की आकर्षण शक्ति का मुख्य उद्गम इसके ऐतिहासिक संयोग में है जिससे कि वहां किसी वस्तु की शुरूआत हुई और अन्य कई अनेक स्थानों पर अच्छी तरह या इसी तरह अधिक सफलतापूर्वक शुरू हो सकती थी लेकिन नहीं हुई।" सधुखन[5] (1975) ने भी अपने अध्ययन में कलकत्ता का उदाहरण देकर इसकी पुष्टि की है। इस प्रकार किसी स्थान पर आर्थिक व्यवस्था के विकास को समझने के लिये स्थिति की गहनता व प्रारम्भिक विकास के प्रेरक तत्वों के विकास की प्रक्रिया को समझना आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है। इस प्रकार के तत्व तुलनात्मक लाभ या उपयोगिता के रहे हैं जो किसी समय विशेष पर किसी स्थान विशेष पर उपलब्ध हुये।

रोस्टोव का मॉडल सभी देशों के लिये या प्रदेशों के लिये काम में आने योग्य नहीं हो तो भी इसमें संशोधन करके किसी देश विशेष के लिये उपयुक्त मॉडल तैयार किया जा सकता है। इसी प्रकार का प्रयास फेयरबैंक, एकस्टेन तथा यंग★ ने रोस्टोव के मॉडल पर आधारित एक 5 दशाओं वाले अन्य मॉडल को 1960 में प्रस्तुत किया जो मुख्यत: कम विकसित देशों—भारत, चीन, ब्राजिल आदि के लिये अधिक उपयुक्त है वह इस प्रकार है—

[1] परम्परागत साम्यावस्था (Traditional Equilibrium)

[2] असाम्यावस्था की शक्तियों का उदय (The rise of disequilibrating forces.)

[3] गर्भावस्था (Gesta'ion)

[4] उड़ान की दशा (Break-through or take-off)

---

* "Within broad, limits the power of attraction to day of a centre has its origin mainly in the historical accident that something once started there and not in a number of other places where it could equally well or better have started met with success."
Myrdal, G. M (1957. P 26) Rich Lands and poor, Harper & Row, New York.

★ Fairbank, J. K. Eckstein, A. and yang L S. (1960 p. 1) Economic Change in early Modern China : An analytic framwork, Econo. development and cultural change, 9 (1) 1–26.

[5] स्वयं लगातार वृद्धि की दशा (Self sustaining Growth)

ऐसे ही अलग 2 छोटे देशों के समूहों के लिये उपयुक्त मॉडल तैयार किये जा सकते हैं जिससे कि अधिक लाभदायक मार्ग भावी शोध के लिये साबित हो सकता है।

विकास के प्रारम्भिक उत्प्रेरक (Initial Triggers to Development)—

जैसा कि हमने सरलीकृत आर्थिक भू-दृश्य में पाया कि हमारा आर्थिक मानव जब यह महसूस करता है कि वह आस पास में व्याप्त जनसंख्या कि मांग की पूर्ति से लाभ प्राप्त कर सकता है तब वह उत्पादन का कार्य शुरू करता है। यहां प्रारम्भिक रूप से मांग, प्रेरक तत्व रही है। इसी प्रकार अगर विस्तृत रूप से देखें तो उद्योगों की स्थापना के लिये वेबर के अनुसार सापेक्षिक या तुलनात्मक लाभ की स्थिति का परिकलन करने पर न्यूनतम परिवहन-लागत को प्रेरक तत्व के रूप में पाते हैं। वास्तविक दशाओं में कई उत्पादक तत्वों के समूहों को किसी स्थान विशेष पर स्थिति के चयन के लिये प्रारम्भिक प्रेरक तत्वों के रूप में पहचाना जा सकता है। लेकिन प्रत्येक दशा में प्रारम्भिक वेगों को, जो किसी स्थान विशेष पर एकत्रित होते हैं, पहचाना जा सकता है ये संसाधन, श्रम, पूंजी, तकनीकी कुशलता आदि से सम्बन्धित होते हैं। कोई भी स्थिति न तो पूर्व निश्चित होती है और न ही अव्यवस्थित रूप से स्थापित होती है बल्कि इसे मानव निर्णयन-प्रक्रिया के आधार पर चयनित करता है।

जब किसी कारण से किसी स्थान पर एक बार अर्थ व्यवस्था प्रारम्भ हो जाती है तब मांग की पूर्ति तथा उत्पादन को बनाए रखने के लिए प्रयत्न किये जाते रहते हैं। जहां लाभ की संभावनाएं होती हैं वहां अन्य अर्थ व्यवस्थाएं भी उस स्थिति के पास विकसित होने लगती है जिससे एक ओर जहां मांग की संभावनाएं बढ़ती है वहीं दूसरी ओर पूर्ति की सम्भावनाएं भी बढ़ती हैं। इस प्रकार प्रत्येक नई उत्पादन व्यवस्था स्थानिक अर्थ व्यवस्था में जटिलताएं बढ़ाती जाती हैं। लेकिन स्थानिक दृष्टि से विकास के लिये उत्तरदायी प्रारम्भिक वेगों (प्रेरक तत्वों) को विगत समय के सन्दर्भ में अलग करके ज्ञात करना बहुत ही कठिन है क्योंकि वे अलग 2 समय की भिन्न 2 सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों की उपयोगिता से सम्बन्धित रहे हैं। यह प्रारम्भिक विकास किसी क्षेत्र की अर्थ व्यवस्था के भावी विकास पर शक्तिशाली संचयी प्रभाव डालता है। लेकिन साथ ही यह भी स्मरणीय है कि विकास की शुरुआत के लिये निर्णयन-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जो क्षेत्रीय विकास होता है वह कुछ क्षेत्रों में तेज होता है जबकि कुछ में धीमा होता है जिन क्षेत्रों में प्रारम्भिक विकास के

प्रेरक तत्व अधिक एवं शक्तिशाली होते हैं वहां तेजगति से विकास होता है जो कि सकारात्मक प्रभाव से सम्बन्धित है। लेकिन कभी 2 नकारात्मक प्रभाव भी होते हैं जो छोटे स्तर पर होते हैं और धीरे 2 उनका प्रभाव विशाल स्तर पर होने लगता है जिससे सम्पूर्ण क्षेत्र की अर्थ व्यवस्था पतन की ओर अग्रसर होती है इसका मुख्य कारण—

[1] मांग में कमी होने से या

[2] वस्तु की पूर्ति में होने वाले तुलनात्मक लाभ में कमी आने से होता है इनका प्रभाव भी अलग 2 स्थानों पर भिन्न 2 स्तर का होता है जिससे कहीं अर्थ व्यवस्था में गिरावट आती जाती है तो कहीं पर पूरी की पूरी अर्थ व्यवस्था पूर्णतः ध्वस्त हो जाती है।

समय व स्थानिक सन्दर्भ में आर्थिक विकास

(Economic development in relation to time and space)

जैसा कि प्रारम्भिक अध्ययन से स्पष्ट है कि आर्थिक विकास समय के सन्दर्भ में परिवर्तनशील है लेकिन क्षेत्रीय सन्दर्भ में आर्थिक विकास का प्रश्न वड़ा जटिल है इस सम्बन्ध में कई व्यक्तियों ने अपने अलग 2 विचार प्रस्तुत किये हैं। इनके अनुसार किसी क्षेत्र, प्रदेश, देश या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक विकास में असमानता का मुख्य कारण संसाधनों व कार्य कुशलता का भौगोलिक दृष्टि से असमान वितरण है लेकिन प्रादेशिक या अन्य किसी स्तर पर आर्थिक विकास की विषमता स्थानीय संसाधनों की उपलब्धि व संस्कृति से भी अधिक अन्य कई वातों पर निर्भर करती है।

(1) **विनियोजन**—आर्थिक विकास के सिद्धान्त हमें शुरूआत के विन्दुओं को स्पष्ट करते है। किसी भी प्रदेश की आय का स्तर, जो कि कुल उत्पादन के रूप में होता है या पूंजीगत उपकरणों के ह्रास व उत्पादन में, लगे हुए श्रम से युक्त होता है। वस्तु का उत्पादन जैसे 2 संसाधन व तकनीक में, पूंजी व श्रम की मात्रा वढ़ती है, बढ़ता जाता है। जैसे 2 जनसंख्या वढ़ती है श्रम की पूर्ति वढ़ती जाती है तव इसका प्रयोग तत्कालीन उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में किया जाता है तथा पूंजीगत माल के उत्पादन में भी होता है इस प्रकार कुल प्रादेशिक उत्पादन, उपभोग व विनियोग के रूप में जितना अधिक उपभोग किया जायेगा पूंजीगत उपकरणों में उतना ही कम विनियोजन होगा। अतः अर्थ व्यवस्था का विकास इस वात पर निर्भर करता है कि कितना अधिक उपभोग किया जाता है व कितना तेजी से नये विनियोजन से उत्पादन वढ़ाया जाता है। पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में वचत व विनियोजन व उपभोग व्यक्तिगत हाथों में

होता है जो कि संख्या में बहुत कम होते हैं समाजवादी व्यवस्था में उनके नियोजक तत्काल-उपभोग व विकास निर्देशित विनियोग में संतुलन बनाये रखते हैं। इस प्रकार उत्पादन का माध्यम, स्वामित्व का प्रतिरूप व नियंत्रण राष्ट्रीय व प्रादेशिक आर्थिक वृद्धि की दर को प्रभावित करते हैं।

(2) **व्यापार** – प्रादेशिक विकास की दृष्टि से व्यापार भी महत्वपूर्ण है जो देश या प्रदेश अपने घरेलू उपभोग की अपेक्षा जितना अधिक निर्यात करता है उसके विकास की संभावनाएँ उतनी ही अधिक होती है निर्यात में वृद्धि से प्रादेशिक आय में वृद्धि होती है जिससे विनियोग की अधिक संभावना रहती है और इसका प्रभाव अर्थ व्यवस्था पर बहुगुणित होता है।

(3) **उत्पादन की मात्रा**—अगर किसी क्षेत्र या प्रदेश में उपलब्ध संसाधनों का अच्छी तरह एवं पूर्ण क्षमता से उत्पादन किया जाता है तो वहां पैमाने की बचतें प्राप्त होती हैं जिसका विस्तृत अध्ययन आन्तरिक व बाह्य बचतों के रूप में अध्याय 7 में कर चुके हैं। इन बचतों का उपयोग उत्पादन के लिये विनियोग के रूप में होता है और आर्थिक विकास में सहायता मिलती है।

(4) **व्यवहारात्मक तत्व** - मानव व्यवहार बड़ा जटिल है उसके निर्णय, लाभ, आत्मसंतोष, ब्याज, लगान, इज्जत आदि कई बातों से प्रेरित होते हैं जिसके परिणामस्वरूप कुछ क्षेत्रों का आर्थिक विकास होता रहता है (जबकि कुछ क्षेत्र पिछड़े रह जाते हैं)।

(5) **तकनीकी विकास एवं नवीन आविष्कार**—किसी स्थान या क्षेत्र विशेष में तकनीकी विकास एवं नवीन खोजों के आधार पर आर्थिक विकास बहुत निर्भर करता है। जिन स्थानो पर इनकी अधिक उपलब्धि होती है वे क्षेत्र अधिक विकसित होते जाते हैं और अन्य क्षेत्र उनकी अपेक्षा पिछड़ जाते हैं। इस प्रकार उक्त वर्णित विभिन्न दशाओं में किसी क्षेत्र विशेष को विशेष लाभ (तुलनात्मक) उपलब्ध होता है तो वह क्षेत्र अधिक विकसित होता जाता है जो संचयी वृद्धि कहलाती है। लेकिन प्रादेशिक विकास के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार महत्वपूर्ण हैं।

(1) स्थायी संतुलन सिद्धान्त या संस्थापित साम्यावस्था सिद्धान्त
(Classical Equilibrium theory)

(2) नव असंतुलन सिद्धान्त या प्रादेशिक असमता सिद्धान्त
(Regional inequality theory)

(1) **संस्थापित साम्यावस्था विचार**—इस विचार के अनुयायियों के अनुसार आर्थिक विकास के साथ 2 ही आर्थिक असमानता खत्म होने लगती

है । प्रारम्भिक दशा में आर्थिक असमानता अधिक होती है लेकिन यह एक
अस्थाई अवस्था है । जैसे 2 आर्थिक विकास में वृद्धि होती जाती है धीरे 2
असमानताएँ कम होने लगती हैं और अन्त में सम्पूर्ण क्षेत्र, प्रदेश या देश
आर्थिक विकास की दृष्टि से साम्यावस्था को प्राप्त कर लेता है । जिस प्रकार
एक ठन्डे कमरे में अगर जलती हुई अंगीठी रख दी जाती है तो उस कमरे की
तापक्रमीय दशाओं में अधिक असमानता होती है क्योंकि अंगीठी के पास की
वायु अधिक गर्म होती है और इससे दूर की वायु सापेक्षिक दृष्टि से ठंडी होती
है लेकिन यह दशा अस्थाई होती है जैसे 2 समय गुजरता है अंगीठी का ताप-
मान कमरे की वायु को गर्मी प्रदान करता है और अन्त में सम्पूर्ण कमरे की
वायु का तापमान एक समान हो जाता है, यही साम्यावस्था कहलाती है । इसी
प्रकार की प्रक्रिया आर्थिक विकास के प्रारम्भिक दौर व लम्बी अवधि में होती
है । जिसके कारण प्रारम्भिक दशा में उस क्षेत्र में आर्थिक विषमता बढ़ती है
लेकिन धीरे 2 यह असंतुलन की अवस्था समाप्त हो जाती है । और साम्या-
वस्था आ जाती है । हेरिस* के अनुसार "संचलन के तत्व प्रदेशों में आय का
समकारी प्रभाव लाने को प्रवृत्त होते हैं ।"

प्रारम्भिक रूप से तुलनात्मक लाभ की स्थितियों पर आर्थिक विकास
की शुरूआत होती है लेकिन बाद में विकास की स्थितियों में कई कारणों से
परिवर्तन आता है जिससे आर्थिक विकास का प्रसार होने लगता है । प्रदेश में
आर्थिक विकास के प्रसार के 6 महत्वपूर्ण कारण हैं जो एक दूसरे से घनिष्ट
रूप से सम्बंधित हैं ।

(1) **भौगोलिक क्षेत्रों की सूचनाएँ अधिक पूर्ण होना**—प्रारम्भिक
अवस्था में आर्थिक विकास के बहुत कम प्रदेशों की जानकारी थी । लेकिन
आर्थिक विकास की इस दशा में अधिक विस्तृत भौगोलिक जानकारी प्राप्त
होने के कारण नये क्षेत्रों में आर्थिक विकास शुरू हुआ जैसे प्रारम्भ में उत्तरी
अमेरिका का पूर्वी तटीय भाग ही ज्ञात था अतः आर्थिक विकास वहीं हुआ
लेकिन जैसे 2 पश्चिमी भागों के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती गई वैसे
ही उन क्षेत्रों में भी आर्थिक विकास होता गया ।

(2) **अधिक संसाधनों की मांग** – विकास की इस अवस्था में विभिन्न
स्थितियों की जानकारी बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप उन से सम्बन्धित संसाधनों

* "Factor movements tend to bring about an equalization of income among regions" Harris, S. E. (1957 p. 191) International and inter regional Economics. New York.

की मांग भी बढ़ने लगी । संसाधनों की मांग का विस्तार दो रूपों में हुआ—

[i] प्रारम्भिक विकास के समय जो मांगें सामान्यत: नहीं थी ऐसी मांगें विकसित हुई जैसे पर्यटन की सुविधाएें, मनोरंजन उद्योग, इलेक्ट्रोनिक उद्योगों के लिये धूल रहित वायु के प्रदेश, बॉक्साइट के क्षेत्रों में एल्यूमिनियम उद्योग आदि ।

[ii] नये प्रकार के संसाधनों से प्रारम्भिक दशा में संसाधनों की स्थानापन्नता संभव हुई । जैसे लोह अयस्क के स्थान पर स्क्रेप-लोहा (टूटा फूटा लोहा) कच्चा माल बना, भाप के एन्जिन की जगह विद्युत शक्ति, पेट्रोल काम में आने से आर्थिक विकास अधिक व्यापक रूप से होने लगा ।

(3) **सरकारी नीति**—विकास की इस दशा में सरकार द्वारा आय के पुनर्वितरण की नीति महत्वपूर्ण रही । इसमें सरकार धनवान व्यक्तियों से करों द्वारा धन वसूल करती है तथा धनी क्षेत्रों से भी धन वसूल कर के निर्धन क्षेत्रों में विकास के लिये लगाती है जिसके परिणामस्वरूप निर्धन क्षेत्रों में उपभोक्ता वस्तुओं से सम्बन्धित उद्योगों का बाजार तैयार होता है । जैसे 2 विविध प्रकार के संसाधनों की मांग बढ़ती जाती है वैसे ही प्रदेश में विकास भी होता जाता है क्योंकि लोग मांग की पूर्ति के लिये विभिन्न प्रकार के कार्यों को अपनाते हैं ।

(4) **यातायात के साधनों का विकास**—जैसा कि हम जानते हैं कि आर्थिक विकास यातायात के विकास से सम्बन्धित है जितना घना और विकसित यातायात का जाल होगा उसके सहारे आर्थिक विकास भी कम लागत के कारण अधिक होगा इसके अतिरिक्त सार्वजनिक उपयोग की सेवाएें भी भौगोलिक दृष्टि से अधिक विस्तृत रूप से फैलेगी । जहां अधिक मात्रा में विस्तृत क्षेत्र में नल का पानी, गैस की सुविधाएें, आधुनिक गंदगी हटाने की सुविधाएें उपलब्ध होती हैं वैसे ही आर्थिक विकास का प्रसार इन उपलब्ध सुविधाओं की ओर होने लगता है । यातायात व अन्य सुविधाओं के बढ़ने से बैंकों की सुविधाएें बढ़ती हैं और लोग अधिक पूंजी विनियोजन करते हैं ।

(5) **पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिये सरकारी हस्तक्षेप**—जैसा कि प्रारम्भिक विकास की दशा में व्यक्तिगत सम्पति कुछ केन्द्रों पर ही केन्द्रित होती है तथा कई प्रदेश पिछड़े रह जाते हैं अत: वहां सरकार पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिये सहायता प्रदान करती है जिसके कारण नये क्षेत्रों में नई उपयुक्त स्थितियां विकास के आकर्षण का कारण बनती है । गुप्ता[6] (1967) ने फरीदाबाद की प्रथम दशक की औद्योगिक प्रगति का कारण मुख्यत: सरकारी प्रोत्साहन की नीति को बताया ।

(6) **समूहीकरण के दोष के कारण**:—जैसे 2 आर्थिक विकास में वृद्धि होती है वैसे 2 ही वहां पर मूल्यों मे वृद्धि होने लगती है क्योंकि वहां श्रम महंगा हो जाता है साथ ही कच्चे माल का मूल्य भी बढ़ जाता है जिसके परिणामस्वरूप समूहीकरण की स्थितियां अधिक महंगी होने लगती है अतः वहां से उन स्थानों की ओर आकर्षण बढ़ जाता है जहां पर कि श्रम सस्ता होता है तथा कच्चा माल सस्ता उपलब्ध होता है। इस प्रकार विकास के इस चरण में प्रदेश में विभिन्न कारणों से स्थिति की वरीयता में परिवर्तन आता है और नये आकर्षण उत्पन्न होते हैं जिससे प्रदेश में विकास व वृद्धि होती है। अत. वहां आर्थिक विकास अधिक होता है जिससे महानगरीय अर्थ व्यवस्था (Megalopolis) विकसित होती है।

इनके अतिरिक्त जैसे 2 कुछ केन्द्रों पर आर्थिक विकास होता जाता है कच्चे माल की मांग बढ़ती जाती है उसकी पूर्ति के लिये आस पास के क्षेत्र में विकास का प्रसार होता है। इसी प्रकार विकास के केन्द्रों से पूंजी का प्रवाह कम विकसित क्षेत्रों की ओर होता है क्योंकि वहां से संभावित अधिक आय की आशा होती है हिक्स[7] (1959) ने इस प्रक्रिया के तीन कारण बताये हैं—

[1] विकास के केन्द्रों की मांगों (माल व सेवा की मांग) की पूर्ति के लिये आस पास का प्रदेश धनी होने लगता है। जैसे नगरों की मांग की पूर्ति के लिये आस पास के कृषि प्रदेश का सघनतम उपयोग किया जाने लगता है अतः उस प्रदेश की आय में वृद्धि होती है। इसी प्रकार नगरवासी मनोरंजन के लिये आस पास के प्रदेशों की ओर अग्रसर होते हैं। अतः आस पास का प्रदेश समृद्ध होने लगता है। उद्योगों का विकेन्द्रीकरण, दुकानों का विकेन्द्रीकरण भी इस प्रक्रिया में योग प्रदान करता है।

[2] विकास केन्द्रों में काम की उपलब्धि से श्रमिक आकर्षित होकर आते हैं जिसके फलस्वरूप उन प्रदेशों में (आस पास के) श्रम की कमी हो जाती है जिससे वहां मजदूरी में वृद्धि होती है और आय में भी वृद्धि होती है।

[3] विकास केन्द्रों पर एकत्रित पूंजी, लागत तत्वों, खाद्यान्नों आदि की खरीद के लिये आस पास के प्रदेशो की ओर गतिशील होती है जिसके फलस्वरूप धीरे 2 असंतुलन की दशा समाप्त हो जाती है।

गर्संचेनक्रोन[8] (1963) ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। मार्टिन[9] (1957) ने भी बताया कि समय के साथ 2 विकास की यह प्रक्रिया वृद्धि केन्द्रों से आस पास के प्रदेश की ओर फैलती जाती है। मार्टिन ने इसके चार कारण बताए हैं।

[1] आस पास के क्षेत्र को औद्योगिक व नगरीय कच्चे माल व ग्राहकों के लिये प्रयुक्त करने से।

[2] आस पास के प्रदेश को खाद्यान्न उत्पादन के लिये प्रेरित करना तथा वहां औद्योगिक किस्म की खेती की तकनीक शुरू करने से।

[3] अतिरिक्त ग्रामीण जनसंख्या के स्थानान्तरण को प्रोत्साहित करने से।

[4] नगरीय जनसंख्या, उद्योगों व अन्य संस्थाओं का विकेन्द्रीकरण होने से आस पास का प्रदेश भी धीरे 2 विकसित हो जाता है।

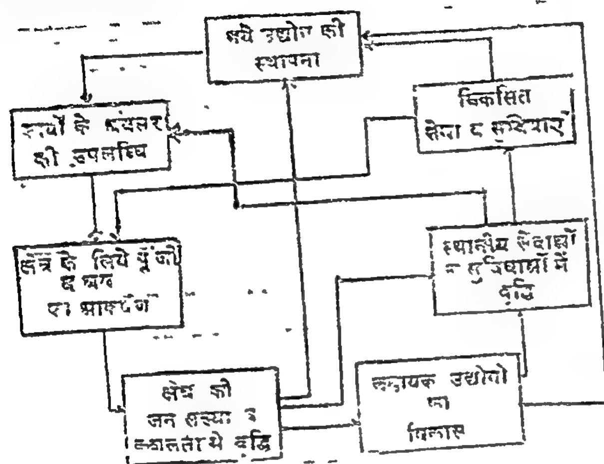
प्रादेशिक असमता विचार—(Regional irequality concept)—

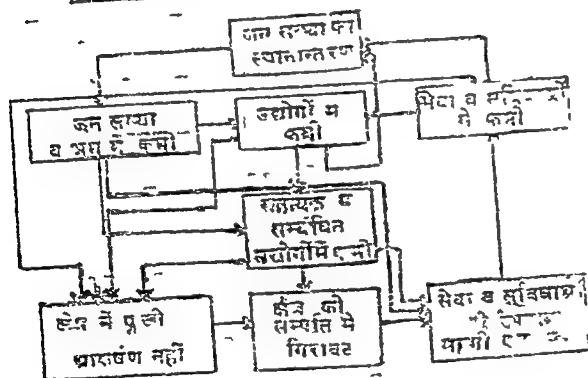
यह विचार धारा संस्थापित साम्यावस्था विचार से वैचारिक भिन्नता लिये हुए है। इस विचार धारा के अनुसार आर्थिक विकास से प्रादेशिक असमानता बढ़ती है इस दृष्टि से मिर्डल[10] (1957) व हर्समेन[11] (1958) तथा अन्य कई विद्वानों के विचार महत्वपूर्ण हैं। मिर्डल ने बताया कि संचयी कारणों से बाजारी शक्तियां विभिन्न प्रदेशों में विकास की खाई को कम करने की अपेक्षा अधिक बढ़ाती है। उलमन ने भी इसी ओर इशारा किया कि प्रारम्भिक शुरूआत के केन्द्रों पर शक्तिशाली शक्तियां केन्द्रित होती हैं जिससे आर्थिक वृद्धि उन केन्द्रों पर केन्द्रित हो जाती है। इस प्रकार की शक्तियां कुछ ही केन्द्रों या क्षेत्रों पर केन्द्रित होने के कारण उन क्षेत्रों की सचयी वृद्धि अधिक हो जाती है, इसके निम्नांकित कारण हैं—

संचयी वृद्धि—जैसा कि प्रारम्भ में बताया जा चुका है कि किसी भी स्थान पर तुलनात्मक लाभ के कारण जो प्रारम्भिक शुरू आत का लाभ प्राप्त होता है जिसके कारण वहां पर धीरे 2 संचयी वृद्धि होती जाती है इसके कई कारण हैं—

(1) नये उद्योग की स्थापना—मिर्डल (1957) के अनुसार किसी भी तुलनात्मक लाभ के स्थान पर नई आर्थिक गतिविधि की शुरूआत होने से वहां विकास के तत्वों का केन्द्रीयकरण होने लगता है। जब एकबार विकास की शुरू आत हो जाती है तो श्रम, पूंजी, माल, तकनीक आदि का प्रवाह इसमें सहायता प्रदान करता है। साथ ही प्रदेश या देश के शेष भागों में पिछड़ापन बढ़ने लगता है क्योंकि वृद्धि के केन्द्रो पर अधिक आय के कारण शेष क्षेत्र से न केवल कुशल व उद्यमी व्यक्ति आकर्षित होने से, वल्कि वहां उत्पन्न पूंजी (जो वृद्धि केन्द्रों की ओर आकर्षित होती है) से भी हाथ धो लेते हैं। साथ ही जो कुछ भी माल ऐसे विकास केन्द्रों पर उत्पन्न किया जाता है उससे उस प्रदेश का बाजार भर जाता है तथा उस क्षेत्र के स्थानीय उद्योग व अन्य प्रकार की सेवाएँ चौपट हो जाती हैं। नये उद्योग की स्थापना से श्रमिकों की संख्या में

वृद्धि होती है जिससे उनकी आवश्यकताएं बढती हैं। इन की पूर्ति के लिये अन्य आर्थिक गतिविधियो का अस्तित्व बढने लगता है। नये उद्योग के लिये लागत तत्वों की पूर्ति के लिये पृष्ठीय सम्बद्धता व उत्पादित माल का उपयोग करने वाले उद्योगो से अग्रिम सम्बद्धता विकसित होती है यह पूरी की पूरी प्रक्रिया संचयी है प्रत्येक नया विकास नवीन संस्थापकों को अपनी ओर आकर्षित करता है इस प्रवृति से क्षेत्र की वृद्धि होती जाती है और उसे बराबर शक्ति मिलती रहती है जिससे विकास के नये द्वार खुलते हैं चित्र संख्या 9.2 में एक नये उद्योग की स्थापना का संचयी प्रभाव व पिछडापन मिर्डल(1957) एवम् प्रेड[12] (1965) के अनुसार स्पष्ट किया गया है।





चित्र संख्या 9 2

(2) **पूंजी विनियोजन**—सामान्यत: आय का उपयोग दो रूपो मे होता है या तो उसे खर्च किया जाता है या बचत की जाती है बचत का उपयोग विनियोजन के रूप में किया जा सकता है स्मिथ* के अनुसार "एक प्रदेश की

* "The greater a region's capacity or inclination to save and invest, the more rapid its income growth (other things remaining the same)." SMITH, D. M. (1979, p. 119) Human Geography A welfare approach. Arnold-Heinmen, New Delhi.

अधिक बचत या विनियोजन की क्षमता या इसकी ओर झुकाव होगा, तो उसकी आय की वृद्धि बहुत तेज होगी (अगर अन्य सभी बातें समान रहे)" लेकिन यहां यह भी स्मरणीय है कि पूंजीवादी देशों में व समाजवादी देशों में बचत व नियोजन में अन्तर होता है पूंजीवादी व्यवस्था में यह कार्य व्यक्तिगत नियन्त्रण में होता है। अतः उत्पादन का तरीका व विनियोजन पर नियंत्रण राष्ट्रीय या प्रादेशिक विकास पर बहुत प्रभाव डालते हैं। इसके अतिरिक्त पूंजी का विनियोजन स्थानीय कितना कम या अधिक होता है ? इस पर भी वृद्धि की प्रक्रिया निर्भर करती है। यदि अधिकांश माल स्थानीय रूप से खरीदने में विनियोजन किया जाता है तो संचयी वृद्धि होती है अगर अधिकांश माल बाहर से खरीदा जाता है तो उस स्थान या क्षेत्र का विकास कम होता है।

(3) **व्यापार**—व्यापार भी संचयी वृद्धि में सहायता प्रदान करता है। जो क्षेत्र, प्रदेश या देश जितना अधिक घरेलू उपभोग की अपेक्षा निर्यात करता है उसकी वृद्धि की संभावनाएँ भी अधिक होती हैं लेकिन अगर स्थानीय झुकाव आयात पर अधिक खर्च करने का होगा तो निर्यात से प्राप्त आय का उपयोग वृद्धि की दृष्टि से कम हो जायगा अर्थात् उसका पूंजीगत उपकरणों आदि में उपयोग नहीं हो सकेगा।

बाल्दविन[13] (1956), पर्लोफ और विंगो[14] (1961), नार्थ[15] (1955), ड्यूजेनबरी[16] (1950), थॉमस[17] (1963) आदि कई विद्वानो ने भी अपने 2 अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि निर्यात व्यापार के लिये उत्पन्न माल से प्रदेश में संचयी-वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है। लेकिन निर्यात-आधारित वृद्धि की प्रक्रिया से जहां संचयी-वृद्धि की प्रक्रिया को अधिक गहनता से समझने में सफलता मिली है वहीं इसकी काफी आलोचना भी हुई है। जो इस प्रकार है—

(i) यह ज्ञात करना कठिन है कि कौनसी आर्थिक गतिविधियां निर्यात–आधारित हैं और कौनसी स्थानीय या घरेलू आवश्यकता पर आधारित है ? इस समस्या का समाधान करने के लिए उलमन और ड्किे[18] (1962) के अनुसार न्यूनतम आवश्यकता के परिकलन को काम में लिया जा सकता है या स्थिति-लब्धि (Location quotients) द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

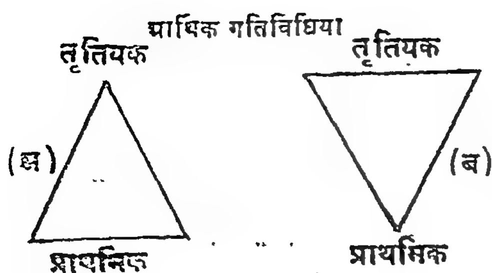
(ii) दूसरी समस्या प्रादेशिक सीमांकन की है विशेष करके निर्यात आधारित प्रदेश के आकार में विस्तार होता जाता है जिससे घरेलू व निर्यात अर्थ व्यवस्था का अनुपात बदल जाता है क्योंकि बड़े प्रदेश आत्म निर्भर अधिक होने लगते हैं।

लेकिन प्रेड[19] (1966) ने संयुक्त राज्य अमेरिका में 1800 से 1914
तक के शहरी-औद्योगिक वृद्धि के अध्ययन के आधार पर बताया कि नये
उद्योग चाहे स्थानीय दृष्टिकोण वाले हो या निर्यात दृष्टिकोण वाले,
प्रारम्भिक रूप से बहुगुणित प्रभाव डालते हैं। लेवन[20] (1964) ने भी
इसी प्रकार के विचारों का प्रतिपादन किया है।

(4) **तृतीयक सेवाओं का विस्तार**—प्राथमिक, द्वितीयक व तृतीयक गति-
विधियों और प्रदेश, क्षेत्र या राष्ट्र की प्रति व्यक्ति आय में भी घनिष्ठ
सम्बन्ध होता है विशेष कर तृतीयक सेवाओं में लगी हुई जनसंख्या के
अनुपात में और प्रति व्यक्ति आय के स्तर में गहरा धनात्मक सम्बन्ध
होता है तथा प्राथमिक गतिविधियों से विपरीत सम्बन्ध होता है।
पेटर्सन* के शब्दों में "वे देश जिनमें विकास का उच्चतम स्तर प्राप्त कर
लिया गया है, सामान्यत: प्राथमिक गतिविधियों में उनके श्रम का प्रतिशत
न्यूनतम होता है, अर्थात् सम्पूर्ण देश का अनुपोषण बहुत कम संख्या में
कच्चे माल के उत्पादन में लगे व्यक्तियों द्वारा किया जाता है।"
आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में रोजगार का जैसा पिरामिड
बनता है उसमें प्राथमिक उत्पादन में लगे व्यक्तियों की संख्या अधिक
होती है जो आधार बनाते हैं व शीर्ष पर विशेषज्ञ व्यक्तियों की
कम संख्या स्थित होती है जबकि विकसित अर्थ व्यवस्था में यह रूप
(पिरामिड का) इसके विपरीत होता है जिसमें बहुत कम संख्या में
प्राथमिक उत्पादन में लगे व्यक्ति द्वितीयक सेवाओं में लगी जन संख्या का
अनुपोषण करते हैं। जैसा कि चित्र संख्या 9.3 में स्पष्ट किया गया है।

---

* "Those countries which have attained the highest levels of
development have in general the lowest perecentage of their
labour force in primary activities, that is the whole Commu-
nity is supported by a very small number of people actually
engaged in the production of raw materials."
PATERSON, J.H. (1976, 38) Land. Work and Resources : An
Introduction to Economic Geography, Edward-Arnold, London.



आर्थिक विकास की दशा
(अ) प्रारम्भिक (ब) विकसित

चित्र संख्या 9.3

प्राथमिक से द्वितीयक व द्वितीयक से तृतीयक गतिविधियो की ओर जनसंख्या की वृद्धि से, प्रदेश की प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है। जिससे माग व विनियोजन को प्रेरणा मिलती है, फलस्वरूप वृद्धि और विकास के लिये संचयी प्रेरणा देती है।

(5) **समूहन-शक्तियां**—स्थिति की दृष्टि से बसाव स्थल का चयन सम्वद्धता के विकास के अनुसार होता है। सम्बद्धता के कारण समूहन की शक्तियां निर्णय को प्रभावित करती हैं। मांग के क्षेत्रों की निकटता के कारण अग्रिम सम्वद्धता व पूर्ति के क्षेत्रों की निकटता से पृष्ठीय सम्बद्धता निर्णयन-प्रक्रिया पर शक्तिशाली प्रभाव डालती है। तथा समूहन की शक्तियां विभिन्न आर्थिक गतिविधियों को और जनसंख्या को भी अपनी ओर आकर्षित करती है। यह किसी स्थान विशेष पर खनिजों के शोषण, कृषि उत्पादनों के उपयोग, यातायात के केन्द्र आदि कई प्रकार की सुविधाओं से सम्बंधित होती है। किसी केन्द्र, क्षेत्र या प्रदेश में किसी एक ही उद्योग के मुख्य रूप से स्थापित होने से कई सम्बन्धित उद्योग वहां पर स्थापित हो जाते हैं जैसे लौह स्पात उद्योग के स्थापित होने के कारण वहां स्पात के बर्तन, चद्दर, यन्त्र मशीनें आदि से सम्वधित कई उद्योग विकसित हो जाते हैं। समूहन केन्द्रों पर प्राप्त होने वाली आन्तरिक व वाह्य बचतों के कारण भी विकास की गति अधिक तेज हो जाती हैं।

(6) **उत्पादन का पैमाना**—जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा है अधिक पैमाने पर उत्पादन के कारण लागत मूल्य कम होते है जिससे आन्तरिक बचतें प्राप्त होती हैं। इससे कोई उत्पादक इकाई बाजार में अधिक प्रतिस्पर्द्धा करने में सक्षम होती है, जिसका प्रभाव भी विकास पर पड़ता है। प्रारम्भिक शुरुआत करने वाले को एकाधिकार के रूप में सफलता मिलती है, जिससे भी संचयी वृद्धि होती है। ऐसे ही वाह्य बचतों का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे किसी स्थान पर नये उद्योग की स्थापना से कम लागत में उत्पादन करने की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है तथा विभिन्न प्रकार के उत्पादन भी शुरू होते हैं जिसके कारण वाह्य बचतें होती हैं। अतः आन्तरिक व वाह्य बचतें सचयी वृद्धि में योग देती हैं।

(7) **न्यूनतम बाजार का क्षेत्र**—किसी भी प्रकार की आर्थिक गति-विधि के लिये न्यूनतम बाजारी क्षेत्र (न्यूनतम मांग का स्तर) होना आवश्यक है तभी किसी क्षेत्र में विकास के कदम उठाये जा सकते हैं। लेकिन न्यूनतम मांग का स्तर एक विवादास्पद विषय है जो समय, स्थान व मांग के अनुसार भिन्नता लिए होता है। इसके बिना विकास रूक जाता है।

(8) **व्यवहारात्मक तत्वों से संचयी वृद्धि**—किसी समय में किसी स्थान विशेष पर क्षेत्रीय अर्थ व्यवस्था का जो स्वरूप होता है वह मानव के निर्णय की प्रक्रिया से सम्बन्धित होता है। इससे उस स्थान विशेष पर संचयी वृद्धि होती जाती है। मानव व्यवहार विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित होता है जिसका अध्ययन हमने निर्णयन-प्रक्रिया वाले अध्याय में किया है। सामान्यतः मानव के आर्थिक निर्णय लाभ ब्याज, आय के स्तर से या आत्म-संतोष पर आधारित होते हैं। इन्हीं पर वह पूंजी का विनियोजन करता है यह सब जटिल व्यवहारात्मक स्थिति से सम्बंधित होते हैं। इस दृष्टि से तकनीकी परिवर्तन आर्थिक विकास को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करते हैं। सामान्यतः नगरीय-औद्योगिक केन्द्रों पर तकनीकी विकास की अधिक सुविधाएं होती हैं जिसके कारण छितरे हुये शोधकर्त्ता ऐसे केन्द्रों की ओर आकर्षित होते हैं और वहा बहुगुणित प्रभाव नवीनीकरण व शोध के कारण बढ़ता है। प्रेड* ने भी संयुक्त राज्य अमेरिका में नगरीय औद्योगीकरण के वृद्धि सम्बन्धी अध्ययन में इस बात को अनुभव किया है।

---

* "New or enlarged urban industries and their multiplier effects created the employment apportunities that successively attracted 'active" and 'passive" migrants to the infant metropolices, and eventually led to additional manufacturing growth by directly or indirectly enhancing the possibility of invention and innovation." PRED, A. (1966 p 39). The spatial dynamics of U. S. Urban industrial growth. 1800-1914.

(9) **व्यवस्थापक की कुशलता**—थामसन* ने व्यवस्थापक की कुशलता को भी विकास में महत्वपूर्ण तत्व माना है जो कि निश्चय ही एक व्यवहारिक तत्व है। इसके अतिरिक्त संस्थापक का झुकाव महत्वपूर्ण रूप से व्यवहारिक पक्ष से सम्बंधित है। हम जानते हैं कि संस्थापक सभी प्रकार के समाधान से युक्त नहीं होता है। उसे सूचनाएँ भी पूर्णत: निष्पक्ष रूप से प्राप्त नहीं होती है। इसके अतिरिक्त वह किसी न किसी प्रकार की अर्थ व्यवस्था के विस्तार से सम्बंधित होता है जिसमें अन्य व्यक्ति पहले से लगे हुए हैं। अत: उनके द्वारा लिये गये निर्णयों में से संतोषप्रद को चुनता है यद्यपि वह उसमें आवश्यक संशोधन करता है। फिर भी उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव किसी न किसी रूप में रहता है। इस प्रकार आर्थिक विकास में शक्तिशाली प्रेरणा सफल अनुभव से प्राप्त होती है और जब स्वयं का अनुभव नहीं होता है तो दूसरों के सफल व्यवहार के प्रति झुकाव भी हो जाता है और निनियोग के निर्णय उन्हीं व्यवस्थाओं का समर्थन करते हैं जिनमें पहले लाभप्रद आय होती रही है।

(10) **बड़े नगरों का आकर्षण**—मानव व्यवहार बड़े नगरों के प्रति भी अधिक पक्षपात युक्त होता है क्योंकि इन्हीं केन्द्रों पर अधिक शोध, नवीनीकरण, सूचनाओं का आदान प्रदान आदि होता है अत: संस्थापक के मानसिक मानचित्र पर ये केन्द्र महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। साथ ही नगरों की इज्जत भी वहां आर्थिक विकास की स्वयमेव वृद्धि में बहुत सहायक होती है जिससे संस्थापक का व्यवहार प्रभावित होता है।

कुल मिलाकर प्रारम्भिक शुरूआत के स्थानों पर कई तत्व आर्थिक विकास में संचयी वृद्धि करते हैं जिसके परिणामस्वरूप बहुगुणित रूप से वहां

---

* "The large urban area would seem to have a great advantage in the critical functions of invention, innovation, promotion and rationalization of the new. The stabilization and even institutionalization of enterpreneurship may be principal strength of the large urban area".

THOMSON, W. R. Issues in Urban Economics, Baltimore. (1968 p. 53).

अर्थ व्यवस्था का विकास होता रहता है। चॉर्ली व हगेट* के शब्दों में बहुगुणित प्रभाव प्रादेशिक विकास में आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण प्रारम्भिक बिन्दु है।

लेकिन जैसा कि हमने पहले देखा है पूंजीवादी व्यवस्था व समाजवादी व्यवस्था में आर्थिक विकास में अन्तर पाया जाता है। इसका मुख्य कारण उत्पादन एवं पूंजी विनियोजन पर नियंत्रण में भिन्नता का होता है पूंजीवादी व्यवस्था में आय और समृद्धि में अधिक असमानता पाई जाती है लेकिन यह केवल पूंजीवादी व्यवस्था की ही विशेषता नहीं बल्कि कई समाजवादी देशों में भी यह दशा पाई जाती है।

मिर्डल (1957) व हर्समेन (1958) के विचारों से अधिकांश विद्वान सहमत हैं कि आर्थिक विकास के कारण आर्थिक विषमता बढ़ती जाती है। चिशोल्म[21] (1962). निकोलसन[22] (1865), ओ कानोर[23] (1961), पर्लोफ और विंगो[24] (1961), स्पेन्सर[25] (1960), वोनाकोट[26] (1964), प्रेड (1965) ब्रन्डनबर्ग[27] (1964) आदि कई विद्वानों ने मिर्डल के विचारों से सहमति प्रकट की है कि अधिकांश देशों में आर्थिक विकास उन्हीं क्षेत्रों में अधिक केन्द्रित है जहां विकास की शुरूआत हो चुकी है। डिने* ने तो यहां तक बताया कि पिछले कुछ वर्षों में जहां तक प्रति व्यक्ति आय का प्रश्न है "अन्तर्राष्ट्रीय असमानता बढ़ रही है और यह अंत:राष्ट्रीय असमानता से पर्याप्त रूप में अधिक है।" लेकिन असमानता की यह खाई न केवल वृद्धि की दर में भिन्नता के कारण है बल्कि यह प्रारम्भिक विकास की भिन्नता के कारण भी है।

---

* "The regional multiplier concept concerns the way in which a rise in income, production or, employment in one group of Economic activities in a region stimulates the expansion of other groups, through an increased demand from the former group and its workers for the goods and services produced by the later."

Chorley R J. and P. Haggett (1976, p. 275) Socio-Economic Models in Geog.

★ "International inequality is increasing and that it is appreciably greater than the intranational inequalities.",

DEANE, P. (1961. p. 16) The long term trend in world Economic Growth. Malayan Economic Review, 6 (2) 14-26.

लेकिन इस प्रकार का विचार संस्थापित संतुलन सिद्धान्त के विपरीत है जिनके अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में इस प्रकार की विषमता अधिक मिलती है लेकिन धीरे 2 यह प्रति व्यक्ति आय की समानता को लाती है हिक्स[28] (1961) ने बताया कि अविकसित देशों में विकास का प्रसार इसलिए नहीं पाया जाता क्योंकि वहां विभिन्न प्रदेशों में सांस्कृतिक सामाजिक, आर्थिक विषमता अधिक होती है लेकिन विकसित देशों में जहां इस प्रकार की विषमताएँ कम होती हैं वहां औद्योगिक प्रसार श्रम, कच्चे माल व बाजार की खोज के कारण होता है जिसको मिर्डल (1957) व हर्समेन (1958) ने कोई महत्व नहीं दिया फिर भी अर्थ व्यवस्था का चाहे बाह्य कारणों से विकास हुआ हो या आन्तरिक कारणों से. धीरे 2 उसकी मांग बढ़ती जाती है। जिसको आस पास का क्षेत्र पूरा करता है जिसके कारण आस पास के क्षेत्र में विकास की नई दिशा उत्पन्न होती है और यह प्रक्रिया धीरे 2 क्षेत्र में आगे से आगे बढ़ती जाती है और सम्पूर्ण प्रदेश विकसित होता है लेकिन मिर्डल व हर्समेन ने इस प्रकार के प्रसार के प्रभाव को विवादास्पद बताया है। यद्यपि मिर्डल ने इस प्रकार के विस्तार को अस्वीकार नहीं किया लेकिन उसने बताया कि असंतुलन की स्थिति समाप्त नहीं होती है। विकसित देशों में भी प्रसार का प्रभाव निस्संदेह पाया जाता है लेकिन यह प्रसार सर्वत्र समान नहीं होता है यह प्रसार दो रूपों में होता है—

(1) प्रसार का प्रभाव विकसित केन्द्रों के आस पास अधिक होता है जैसे 2 केन्द्र पर आर्थिक विकास होता जाता है आस पास के ग्रामीण क्षेत्र नगरीय उपयोग में आने लगते हैं। लेकिन यह प्रसार अधिक दूरी तक न होकर सीमित क्षेत्र में होता है इस प्रकार दूरी बढ़ने के साथ 2 आर्थिक विकास के प्रभाव का प्रसार कम होता जाता है। रघुवन[29] (1975) ने पश्चिमी बंगाल की क्षेत्रीय व प्रादेशिक सम्बद्धता का अध्ययन करते हुये पाया कि मिर्डल के प्रसार-प्रभाव व पिछड़ने (Spread effect and Back wash) को स्पष्ट किया जा सकता है। पहले के द्वारा वृद्धि केन्द्रों का विकास होता है जिसका उदाहरण कलकत्ता है जबकि बाद वाले प्रभाव से साधारण विकास का क्षेत्र दक्षिणी भाग मे पहचाना जा सकता है। मिर्डल की तरह केन्द्र प्रसारी व केन्द्रोन्मुखी शक्तियों को स्पष्ट करते बताया कि यहां के वृद्धि केन्द्रों का, केन्द्रप्रसारी प्रभाव उनके केन्द्रोन्मुखी प्रभाव की अपेक्षा कमजोर है अतः प्रसार का प्रभाव कम दिखाई देता है जबकि पिछड़ने का (Backwash) प्रभाव अधिक क्षेत्रमे दिखाई देता है। इसके परिणामस्वरूप एक तीसरे प्रकार का क्षेत्र प बंगाल के उत्तर-पश्चिम में उभरता दिखाई देता है।

(2) आर्थिक विकास नवीनीकरण पर भी बहुत आधारित होता है सामान्यत:
नवीन सूचनाओं का प्रसार नगरीय पदानुक्रम के द्वारा होता है। हेगर-
स्ट्रेन्ड[30] (1952) ने बताया कि कुछ नवीन विचार एक उच्च स्तर के
केन्द्र से दूसरे केन्द्र को छलांग लगा कर पहुंच जाते हैं जिसके परिणाम-
स्वरूप आस पास के प्रदेश में पहले से ही विकसित बड़े केन्द्रों पर विकास
होता है। लॉयड व डिकन[31] (1972) ने भी इन्हीं विचारों का समर्थन
किया है। उन्होंने बताया कि निम्न स्तर के केन्द्रों पर पिछड़ापन
बढ़ जाता है मिर्डल* ने इसे निर्धन क्षेत्रों का अधिक पिछड़ना (Back
wash) बताया है। इसके अनुसार विकसित क्षेत्रों की ओर, पिछड़े क्षेत्रों
से पूंजी का स्थानान्तरण होता है, कुशल श्रमिकों का स्थानान्तरण होता
है जिससे वे क्षेत्र और पिछड़ जाते हैं। यह स्थानान्तरण कुछ दशाओं में
बड़े शहरों के प्रति मानसिक आकर्षण के कारण होता है।

मिर्डल के विचारों का आँकन व रिचार्डसन[32] (1961) ने विरोध किया
लेकिन कई विद्वानों ने मिर्डल के विचारों से सहमति व्यक्त की है। विलियमसन[33]
(1965) ने अपने अध्ययन के अनुभव के आधार पर बताया कि विभिन्न प्रदेशों
में आर्थिक विकास में विस्तृत असमानता पाई जाती है। उसने 24 देशों में
अन्त: प्रादेशिक असमानता के संकेतों का परिकलन किया इनमें से 20 देश मध्यम
आय या उच्च आय वाले समूह के थे। उसने निम्न सूत्र के आधार पर प्रादेशिक
असमानता को ज्ञात किया।

$$Vw = \frac{\sqrt{\Sigma (yi - y)^2 \frac{fi}{n}}}{y}$$

इसमें fi = ith प्रदेश की जनसंख्या

n = राष्ट्रीय जनसख्या

yi = ith प्रदेश की प्रति व्यक्ति आय

y = राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति।

मिर्डल व हर्समेन ने आर्थिक विकास के साथ 2 प्रति व्यक्ति आय के बारे
में भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। मिर्डल के अनुसार जैसे 2 आर्थिक विकास

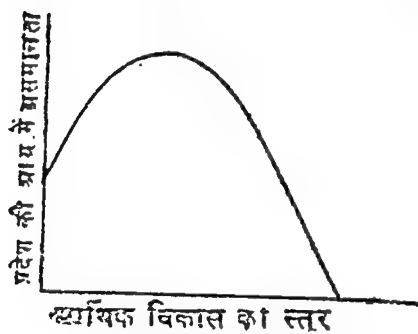
* "Trade operates with the same fundamental bias (as capital movement) in favor of the richer and progressive regions against the other regions." MYRDAL, G.M. (1957 p. 28) Rich land & poor, New York.

होता जाता है प्रदेश में असमानता बढ़ती जाती है और प्रति व्यक्ति आय में भी भिन्नता बढ़ती जाती है। जबकि हर्समेन के अनुसार जैसे 2 विकास होता जाता है वैसे 2 ही प्रति व्यक्ति आय में विषमता में कमी होतं जाती है। लेकिन यह वाद विवाद वास्तविकता की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है कि प्रारम्भिक दशा में अन्तर बढ़ता है तथा बाद की अवस्था में कम होता जाता है वास्तव में समय के साथ परिवर्तन आता है। विलियमसन के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों के अध्ययन से दो बातें स्पष्ट होती हैं—

(1) अधिक विकसित समाज में प्रादेशिक आय में असमानता कम होती जाती है।

(2) अधिक पिछड़े क्षेत्रों में प्रादेशिक आय में असमानता बढ़ती जाती है।

करण और ब्लाइन[84] (1974) ने विलियमसन के विचारों से सहमति प्रकट करते हुए बताया कि भारत के जिलों में 1947 में सामाजिक कल्याण की दशाएँ कम थी। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा भारत आर्थिक विकास के संक्रमण काल में चला गया। यह आशा की जाती है कि भविष्य में जैसे 2 विकास की गति समय व स्थानिक संदर्भ में बढ़ेगी, भारत आधुनिक अर्थ व्यवस्था की ओर जायेगा, तब अन्तः जिला स्तर की असमानता फिर कम होना शुरू हो जायेगी।



चित्र संख्या 9 3

कॉक्स* के अनुसार निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि "इसलिये यह संभव है कि किसी भी देश के लिये आर्थिक विकास की प्रारम्भिक दशा में प्रादेशिक आय में विषमता बढ़ती जाती है और बाद में घटती है।" देखिये चित्र संख्या 9 3.

लम्बी अवधि में विकास की प्रवृत्ति— जैसा कि विलियमसन और अन्य कई विद्वानों ने स्पष्ट किया है कि धीरे 2 प्रादेशिक असमानता कम होती

* "It is probable therefore, that for any one country under going to Economic development, regional income inequalities at first increases and then decreases."
COX, K R. (1972) Man, Location and Behaviour, John wiley & Sons, New York, pp. 319-20.

जाती है, सामान्यतः विकास की प्रवृत्ति छोटी अवधि में अलग प्रकार से स्पष्ट होती है और लम्बी अवधि के बाद उसका अलग स्वरूप विकसित होता जाता है। जैसा कि हमने पिछले अध्ययन में पाया कि कई तत्व संचयी वृद्धि के लिये उत्तरदायी होते हैं जिसके फलस्वरूप विकास के केन्द्र या ध्रुव विकसित हो जाते हैं। जहां विकास अत्यधिक होता है और उसके आस पास के क्षेत्र उसके सहायक क्षेत्र के रूप में ही विकसित हो पाते हैं।

लेकिन ऐसा माना जाता है कि विकास के केन्द्रों पर भी अन्त में एक सीमा ऐसी आती है उसके बाद विकास सम्भव नहीं होता है। इस सीमा पर व्यवस्था का विस्तार चरमता पर पहुंच जाता है और वहां उत्पन्न दबाव (समस्याएँ) असह्य हो जाते हैं। जैसे कच्चे माल की कमी होना, अत्याधिक विशिष्टीकरण होना, संकीर्णता की समस्या (यातायात में), थकाने वाला प्रशास-निक कार्य, व्यापारिक वातावरण का ठंडा पड़ जाना, अधिक लागत मूल्य, श्रम की समस्या होना, वायु-प्रदूषण, मलवा हटाने की समस्या आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिसके फलस्वरूप विस्तार सीमित होने लगता है या रूक जाता है। इन्हें वेबर[35] (1909) ने 'बिखराव की शक्तियां' (Deglomerative Forces) नाम दिया। इसके परिणामस्वरूप प्रारम्भिक लाभ की शक्तियां दूसरे स्थानों को स्थानान्तरित हो जाती हैं और वहां नये विकास की शुरूआत हो जाती है।

यद्यपि यह सही है कि लगातार विकास की स्थिति में अलाभकारी स्थितियां उत्पन्न होने लगती हैं लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बड़े केन्द्र अपने प्रभुत्व को छोड़ देते हैं या दूसरों को दे देते हैं इसका एक कारण व्यक्तिगत लागत व सामाजिक लागत है। सामाजिक लागत में जैसे—वायु प्रदूषण, यातायात-लागत में वृद्धि, संकीर्णता, गंदगी को हटाना आदि समस्याओं को व्यापारी व्यक्तिगत रूप से नहीं लेता है बल्कि समुदाय के रूप में लेता है अतः हेन्सन* ने बताया कि इनके कारण कोई प्रक्रिया रूकती नहीं है क्योंकि वे किसी

---

* "There is nothing in the nature of things to halt this process (of increasing agglomeration) because the cost of congestion are usually not internalized cost for private producers; or if they are internalized, they are not sufficient to balance the External economies of agglomeration"

Hanson, N M. (1968 B. P. 14) French Regional planning. Bloomington, Indiana University Press.

उत्पादन के लिये आन्तरिक समस्याएं नहीं है बल्कि बाह्य समस्याएं होती हैं और अगर आन्तरिक होती भी हैं तो समूहीकरण की बाह्य बचतों के सामने अपर्याप्त होती है, अतः प्रभाव नहीं डाल पाती है। इस सम्बन्ध में मिर्डल व हर्समेन, टोर्नक्विस्ट[36] (1968) आदि ने बताया कि लगातार वृद्धि को सीमित करना कठिन है। अतः बिखराव की शक्तियां असफल हो जाती हैं क्योंकि—

(1) आजकल मानव समुदाय कई प्रकार की सूचनाएं विकास के बारे में प्राप्त करता है तथा उनका विश्लेषण करता है एवं विकास को बनाए रखने के लिए भावी योजनाएं बनाता रहता है।

(2) मानव समुदाय की प्रकृति हमेशा विकास की ओर तथा विस्तार की ओर गतिशील होने की है अतः जहां भी सम्भव होता है वह विकास एवं विस्तार की ओर बढ़ता जाता है।

(3) उसकी आदत संकीर्णता वादी होती है जब एक बार विकास हो जाता है तो वह उसको बनाये रखने के लिए कार्य करता रहता है जिसके परिणामस्वरूप लम्बी अवधि तक अस्तित्व बनाये रखने की प्रवृत्ति विकास में योग देती है।

अतः शहर हो या नगर, राष्ट्र हो या राज्य, प्रशासक के सामने पतन या प्रवाह के अवरुद्ध होने का कोई स्थान नहीं होता है। जो भी समस्याएं आती हैं उनका समय 2 पर समाधान किया जाता है जिसके लिए नियोजन का सहारा लेना पड़ता है। इससे इस प्रकार की एक व्यवस्था धीरे 2 विकसित हो जाती है। जिसके फलस्वरूप विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं व सीमाओं को बराबर दूर किया जाता है या नियंत्रित किया जाता है और विकास की गति बनी रहती है जिससे आर्थिक विकास का केन्द्रीयकरण होता जाता है। उलमन※ ने भी बताया कि देशों में केन्द्रीय करण होना एक नियम सा है।

प्रदेश में महानगरों के रूप में ध्रुवीकरण:—आर्थिक विकास का स्वरूप धीरे 2 अधिक स्पष्ट होने लगता है और पास 2 में स्थित नगरों के मध्य का स्थान अधिक विकसित होने से नगरीय स्वरुप महानगरीय रूप धारण करने लगता है इस प्रकार क्षेत्रीय अर्थ व्यवस्था का स्वरूप नगरों व उसके आस पास अधिक विकसित होता है और इन ध्रुवीकरण के स्थानों से दूर के भागों में इस प्रकार की शक्तियां कार्य करती हैं कि वहां पिछड़ापन आने लगता है।

※ "Concentration within countries is the rule...."
Ullman, E. L. (1958,) Regional development and the Geog. of Concentration. papers and proceedings, Regional Science Association 4, p.p. 179-198.

हसंमेन (1958 ने बताया कि इससे धीरे 2 दबाव उत्पन्न होने लगते हैं जिससे विकास व वृद्धि में बाधा उत्पन्न होती है। जैसे—नगरों के हृदय में (केन्द्र) में यातायात की दृष्टि से संकीर्णता बढ़ जाती है, लागत, मूल्य, मजदूरी की समस्या व प्रदूषण मलवा हटाने आदि की समस्याओं से तनाव उत्पन्न होता है। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी की बढ़ती समस्या, मध्यम वर्ग की घटती आय पूंजी का कम विनियोग, यातायात आदि का कम हो जाना आदि समस्याओं से तनाव उत्पन्न होते हैं। इन तनावों का अर्थ व्यवस्था, समाज, राजनीति आदि पर प्रभाव पड़ने लगता है। इन समस्याओं से प्रभावित व्यक्तियों द्वारा हड़तालें शुरू हो जाती हैं तब सरकार को आवश्यक रूप से हस्तक्षेप करना पड़ता है व इनसे सम्बन्धित आवश्यक कानून बनाने पड़ते हैं यही कारण है कि आधुनिक समय में स्थानीय, प्रादेशिक व राष्ट्रीय स्तर पर सरकार पूंजी विनियोजन व आर्थिक विकास को नियंत्रित करती है।

आर्थिक विकास के प्रभाव—पिछले कुछ वर्षों से विकास की सीमा के बारे में बहुत अधिक सोच विचार किया जाने लगा है। कई देशों में जैसे—जापान, U. K., जर्मनी, U. S. A. आदि में जहां तेज गति से अर्थ व्यवस्था विकसित हो रही है वहां यह माना जाने लगा है कि आर्थिक विकास आवश्यक है लेकिन प्रति व्यक्ति अधिक आय, अधिक उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन तथा अत्याधिक भौतिक समृद्धि से मानव को संतोष व खुशी प्राप्त नहीं होती है क्योंकि अनियन्त्रित वृद्धि के कारण पारिस्थितिक सतुलन (Ecological B·lance) बिगड़ता जा रहा है। इस सम्बन्ध में कॉक्स* ने आर्थिक विकास को दो धार वाली तलवार की तरह बताया है जिसकी एक धार जहां खुशियां लाती है वहीं दूसरी धार बुराइयां लाती है। इस प्रकार आर्थिक विकास के साथ 2 ही कई प्रकार की जटिलताएें एवं समस्याएें विकसित होती जाती हैं। इन्हें हम दो भागों में बांट सकते हैं।

(i) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की समस्याएें।
(ii) राष्ट्रीय स्तर की समस्याएें।

---

* 'Economic development is a double edged Sword. Although in some respects it makes the environment a more pleasent place to live in, it can also make it highly unpleasent. The crime associated with its cities and the atmospheric pollution of its industries are cases in point."
COX, K R. (1972. p. 349) Main, Location & behaviour. John Wiley & Sons, New York.

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय समस्याऐं**—आर्थिक विकास के कारण विकास का भौगोलिक स्वरूप मानसिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विषमताएँ उत्पन्न करता है अर्थात् कुछ ही क्षेत्रों में विकास का अधिक केन्द्रीयकरण हुआ है जबकि पिछड़े क्षेत्रो में आर्थिक विकास का प्रसार बहुत कम हुआ है। प्रारम्भ में लघु उद्योगों के कारण विदेशी पूंजी का विनियोग सीमित था लेकिन जैसे 2 कारखानों से निर्मित माल बाजारों में फैला, लघु उद्योगों का पतन हुआ। जैसे लंका शायर के सूती वस्त्र उद्योग के कारण भारत का सूती वस्त्रोद्योग धराशायी हो गया और वहां पिछड़ापन बढ़ा। इसी प्रकार विकसित देशों का प्रभाव प्रति टन कि. मी. परिवहन लागत कम हो जाने के कारण व्यापक रूप से फैलने लगा और दूर से कच्चा माल प्राप्त किया जाने लगा जैसे जापानी जहाजों द्वारा लेटिन अमेरिका, अफ्रीका, मध्यपूर्व के देशों से माल प्राप्त किया जाने लगा है।

पिछले कुछ वर्षों से उद्योगों का विकास अविकसित व विकासशील देशों में भी होने लगा और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्द्धा बढ़ने लगी है। इसके अतिरिक्त कच्चे माल के क्षेत्रो में भी उद्योगों का विस्तार होने लगा है। आर्थिक विकास के साथ 2 ही पर्यटन उद्योग भी अधिक विकसित हुआ जिसके कारण विकासशील देश जो दूर 2 स्थित है। लम्बी दूरी का यातायात सस्ता हो जाने के कारण पर्यटन आकर्षण के क्षेत्र बन गये हैं

विशाल आकार के कारखानों के कारण विकासशील देशों में पूंजी विनियोग भी बढ़ा है क्योंकि इन देशों में मशीनों व पूंजी की कमी थी जिसे विकसित देशों ने पूरा किया जिससे विकासशील देशों में भी आर्थिक विकास होने लगा। वहां भी यातायात की सुविधाएँ विकसित हुई। लेकिन फिर भी यहां विकास के प्रसार का कार्य पूरी क्षमता से नहीं हुआ और जो भी प्रसार हुआ उससे अधिक लाभ विकसित देशों को ही हुआ क्योंकि विकसित देशों ने विकासशील देशों के बने हुए माल को आयात करने पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए। स्वयं विकासशील देशों ने भारी विदेशी पूंजी विनियोजन को अस्वीकार किया, इसके साथ ही इन देशों से कुशल श्रम एवं बुद्धिजीवियों का विकसित देशों की ओर पलायन भी विकास के प्रर्याप्त प्रसार में बाधक रहा। इन सब कारणों से विकास में असमानता बढ़ती गई और संघर्ष की स्थितियां उत्पन्न हो गई। अतः आज विकसित देशों व विकासशील देशों में संघर्ष की दशाएँ उत्पन्न हो गई हैं जो किसी न किसी रूप में आर्थिक विकास से सम्बन्धित है।

आज गरीब देशों पर धनवान देश आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से अपनी इच्छा को थोपना चाह रहे हैं जहां विकासशील देश अपने कच्चे माल के लिए अधिक मूल्य चाहते हैं वहां विकसित देश उन्हें अपने हित में कम रखने के लिए

ष्य करना चाहते हैं। खनिज तेल उत्पादक देशों में व पाश्चात्य उपभोक्ता
ों में यह संघर्ष देखा जा सकता है। अतः प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार
नीति अपनाई जाय ?

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समानता व क्षमता बढ़ाने के लिये प्रयत्न करना
प्रासंगिक है। क्योंकि राजनैतिक दबावों के कारण ऐसा संभव नहीं हो सकता
फिर भी किसी न किसी स्तर पर प्रयास किये जा सकते हैं, इनमें निम्नांकित
महत्वपूर्ण हैं।

(i) विकसित देशों द्वारा विकासशील पिछड़े देशों को सहायता दी जाय। इसके
लिये विकसित देश अन्य देशो को ऋण व अनुदान देकर वहां पर औद्योगिक विकास में सहयोग करे। लेकिन विदेशी सहायता का उपयोग तभी
उपयुक्त हो सकता है जबकि विकसित देशो में विकासशील देशों का बना
हुआ माल बिना रोक टोक जा सके।

(ii) अविकसित देशों की सरकारें व नागरिक सेवाएँ बहुत भ्रष्ट हैं जो अधिकांश विदेशी सहायता का भाग अपनी जेबों में रख लेती हैं, अतः इसके
लिये उपयुक्त व्यवस्था की जाय।

(iii) उन्हीं उद्योगों का विकास किया जाय जिनसे बहुगुणित संचयी वृद्धि में
योग मिले। जैसे इन देशो मे तेल शोधन की अपेक्षा सूती वस्त्र उद्योग
अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगा। इसी प्रकार ट्रैक्टर की अपेक्षा इन देशों
में उन्नत बीजों का उपयोग अधिक लाभप्रद होगा।

(iv) दूसरा महत्वपूर्ण नीति का आधार सहायता के केन्द्रीयकरण से है। जैसे–
भारत, ब्राजील नाईजीरिया आदि बड़े और अधिक जनसंख्या वाले देशों
को अधिक सहायता देनी चाहिये ताकि ऐसे राष्ट्र उत्पादन पैमाने की
बचतें प्राप्त कर सकते हैं और कम लागत पर उद्योगों को चला सकते
हैं। जिस प्रकार विकसित देश अन्य देशों से अपने पक्ष में भाव कम कराने
में सफल हो जाते हैं। यही नीति अपनाने के लिये अविकसित देशों में भी
कर संघों (Customs Union) को प्रोत्साहित किया जा सकता है।
जैसा कि लेटिन अमेरिका में हुआ है जिसका काफी प्रतिरोध भी किया
गया। इस प्रकार के बड़े राजनैतिक समूह बनाने से उनका प्रभाव आस-
पास के अविकसित छोटे देशों पर भी पड़ेगा और वे भी वैसे ही प्रभावित
होंगे जैसे किसी बड़े केन्द्र के आस पास का पृष्ठ प्रदेश प्रभावित होता है।

राष्ट्रीय स्तर की समस्याएँ—जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर
... स्पष्ट हुई हैं वैसे ही राष्ट्रीय स्तर

पर भी हुई हैं। देश के निर्धन क्षेत्र यह सोचते हैं कि उनके आर्थिक संसाधनों का नियंत्रण उनके हाथ में न होने से सरकार उनका शोषण करती है जिसके कारण वे देश से अलग होना चाहते हैं जैसे हिन्देशिया के बाहर फैले द्वीप, भारत में उ पू. प्रदेश के लोग। इसी प्रकार देश का धनी क्षेत्र भी गरीब प्रदेशों के साथ सरकार से दबा हुआ महसूस करता है और सोचता है कि उसके साधनों का उपयोग अविकसित प्रदेश के लिये किया जाता है जबकि वे चाहते हैं कि उनकी सम्पदा सुरक्षित रहे व उनके लिये ही काम में आये। इसी प्रवृत्ति के कारण कटंगा का पृथकतावादी आंदोलन चला जो कांगो से अलग होना चाहता था। या भारत का पंजाब राज्य।

ऐसे ही ऐतिहासिक, भाषाई, धार्मिक आधार पर भी आर्थिक विकास का सामंजस्य नहीं बैठ पाता है। अधिकांश संघर्ष की दशाएँ, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, आर्थिक विकास के स्तर में भौगोलिक भिन्नता के कारण है। अतः राजनैतिक दृष्टि से यह संघर्ष की दशाएँ समाप्त होनी चाहिये जो कि आर्थिक विकास में भिन्नता को कम करने से ही सम्भव है।

समाधान—राष्ट्रीय स्तर पर भी आर्थिक विकास से उत्पन्न विषमता को खत्म करने के लिये दो प्रकार की नीतियां अपनाई जा सकती हैं—

(1) आर्थिक विकास का फैलाव किया जाय

(2) लगातार स्थानीयकरण हो।

इन दोनों का मुख्य उद्देश्य समानता लाना व क्षेत्र की क्षमता को बढ़ाना है। इसके लिये अगर छोटी अवधि में क्षमता को बढ़ाया जाता है तो बाद में समानता लाई जा सकती है। लेकिन तत्काल समानता लाने की नीति से राष्ट्रीय क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जिसके परिणाम स्वरूप सम्पत्ति का समान वितरण होने के बजाय गरीबी का समान वितरण हो जायेगा। अतः प्रादेशिक विकास की दृष्टि से दो बातें आवश्यक हैं—

(क) **राष्ट्रीय नीति के साथ समन्वय होना**—प्रादेशिक विकास की नीति को एकाकी नहीं माना जाना चाहिये, बल्कि यह सम्पूर्ण राष्ट्रीय नीति के ढांचे का एक अंग मानी जानी चाहिये। प्रदेश की आर्थिक समृद्धि पूरे देश में लागू अन्य (बाह्य शक्तियों) तत्वों से प्रभावित होती है। जिस प्रकार देश की घटनाओं व नीतियों का प्रभाव प्रदेशों पर होता है वैसे ही अलग 2 प्रदेशों की आर्थिक अभिव्यक्ति राष्ट्रीय विकास को समृद्ध बनाती है या रोकती है।

(ख) **ठोस सूचनाओं व शोध पर आधारित होना**—प्रादेशिक विकास के लिये लगातार शोध उस प्रदेश की आवश्यकताओं के अनुसार होती रहनी चाहिये। सभी प्रकार के विकास के कार्यक्रमों की आधार भूत आलोचना इस

कारण से की जाती है कि ये कार्यक्रम मुख्यत: साधारण जानकारी पर आधारित होते हैं। फ्रेडमेन* ने भी इसी बात को स्पष्ट किया है और बताया कि सरकारी नीतियों के प्रभाव के बारे में पूर्ण जानकारी होता आवश्यक है, ताकि उसका मूल्यांकन हो सके। सामान्यत: इसके विरोध में यह तर्क दिया जाता है कि प्रादेशिक विकास की समस्या इतनी आवश्यक है कि शोध के बजाय क्रियात्मक रूप से हल करने की आवश्यकता होती है लेकिन दोनों में कोई प्रतिस्पर्द्धा नहीं है बल्कि शोध के आधार पर उसे अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है अत: यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किसी भी प्रदेश के आर्थिक विकास के लिये जो भी पूंजी-विनियोजन किया जाय उसका स्वरूप क्या हो? तथा उसका वितरण किस प्रकार से किया जाय?

आर्थिक विकास के लिये पूंजी-विनियोजन के प्रकार—हेन्सन ने पूंजी-विनियोग को तीन भागो मे बांटा है—

(1) **प्रत्यक्ष उत्पादक विनियोजन**—(Direct productive investment) यह आवश्यक रूप से निजी व्यापार से सम्बंधित है इसमें सरकार द्वारा चलाई जाने वाली संस्थाएँ भी सम्मिलित हैं।

(2) **आर्थिक शीर्षस्थ पूंजी विनियोजन** (Economic overhead capital) यह वह सार्वजनिक पूंजी विनोयोग होता है जो प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन विनियोजन को प्रोत्साहित करता है और सहायता देता है। यह दो प्रकार का होता है—(i) प्रत्यक्ष पूंजी के रूप में जैसे ऋण, अनुदान, करों में छूट आदि।

(ii) सुविधाएँ देने में किया गया विनियोजन जैसे राष्ट्रीय मार्ग, यांत्रिक शक्ति के केन्द्र पुल, बन्दरगाह बनाना आदि।

(3) **सामाजिक शीर्षस्थ पूंजी विनियोजन**-(Social overhead capital) जो मानव ससाधन के लिए होता है जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, कल्याणकारी सुविधाएँ, सांस्कृतिक सुविधाएँ देना आदि।

---

* "At the national level, there is at present no systematic, comprehensive examination of the spatial dimension of Economic growth....what is therefore most urgently needed at this time is comprehensive information for assessing the spatial implications of government policy."
FRIEDMANN, J. (1964, P. 87). Regional development in post-industrial Society, Journal of the American institute of Planners 30, 84-90.

पिछड़े प्रदेशों के विकास के लिये तीनों प्रकार का पूंजी विनियोग किया जाता है। कहीं पर प्रथम महत्वपूर्ण होता है, कहीं पर दूसरा व तीसरा। अलग 2 विद्वानों ने अलग 2 प्रकार के प्रदेशों में अलग 2 प्रकार के पूंजी विनियोजन की आवश्यकता पर जोर दिया है। हेन्सन ने सामाजिक शीर्षस्थ पूंजी विनियोजन पर अधिक जोर डाला है, जबकि कुछ ने आर्थिक शीर्षस्थ पूंजी विनियोजन को महत्व दिया है। लेकिन किसी एक प्रकार का विनियोजन ही किसी पिछड़े क्षेत्र के विकास में सहायक नहीं हो सकता है बल्कि विभिन्न प्रदेशों की समस्याओं के अनुसार दोनों प्रकार का पूंजी विनियोजन भिन्नता लिये हो सकता है। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि सरकार विकसित क्षेत्रों से उद्योगों को हटाये या वहां पर उनके और अधिक विकास को रोके। लेकिन विकसित प्रदेशों में सभी प्रकार के विकास पर प्रतिबन्ध लगाना राष्ट्रीय क्षमता को प्राप्त करने के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक नही हो सकता है।

पूंजी-विनियोग का वितरण—पूंजी विनियोग का वितरण किस प्रकार किया जाय यह दूसरी महत्वपूर्ण आवश्यकता आर्थिक विकास के लिये होती है। विभिन्न प्रकार की पूंजी विनियोग की सहायता सम्पूर्ण पिछड़े क्षेत्र में वितरित की जाय या कुछ केन्द्रों पर दी जाय।

प्रारम्भिक रूप में विकास की योजनाएँ बनाने वाले सम्पूर्ण क्षेत्र में वितरण के पक्ष में रहे हैं हर्समेन* ने बताया कि सभी सरकारें सभी व्यक्तियों से समर्थन चाहती है इसलिए उनकी प्रवृत्ति सभी क्षेत्रों में पूंजी विनियोजन की होती है। लेकिन इससे क्षेत्रीय दृष्टि से आर्थिक विकास असंतुलित ही बना रहता है अतः सभी प्रदेशों में एक समान वृद्धि बनाये रखना अवास्तविक होता है। क्षेत्रीय असंतुलन को समाप्त करने के लिए राजनैतिक दबाव नहीं होना चाहिए तथा पिछड़े क्षेत्रों का चयन करके उन क्षेत्रों में पूंजी विनियोजन करना चाहिए इसके लिये ठोस शोध की आवश्यकता है। इसके आधार पर ही किसी क्षेत्र या प्रदेश की संभावनाओं, संसाधनों को ध्यान में रखते हुए ऐसी आर्थिक गतिविधियों का विकास किया जाय जो उस क्षेत्र के योग्य हो।

---

* "All governments, regardless of their democratic character, desire and need support from all societies of the country. The temptation (therefore) is strong to scatter the investment far and wide."

HIRSCHMAN, A. O (1958 p. 190) The Stratagy of Economic development, New Haven.

वृद्धि केन्द्रों का विचार -पिछले कुछ वर्षों में एक नई विचारधारा का विकास हुआ है जिसके अनुसार आर्थिक विकास किसी प्रदेश विशेष में कभी भी समान रूप से नहीं होता है वल्कि यह कुछ भागों में ही केन्द्रित होता है जहां 'वृद्धि ध्रुव' (Growth poles) आस पास के क्षेत्र से तेज गति से विकसित होते हैं। इस प्रकार का विचार मुख्य रूप से फ्रांसीसी लेखकों ने दिया है। वृद्धि ध्रुवों या केन्द्रों का मूल विचार 1955 में पेरोक्स[37] ने दिया। कुछ लेखकों ने इसे 'वृद्धि कटिवन्ध' (Growth Zone) नाम दिया। ऐसे वृद्धि-केन्द्र सामान्यत: पिछड़े क्षेत्र के वड़े शहर होते हैं। जैसा कि हमने आर्थिक विकास के पूर्व वर्ती अध्ययन में पाया है कि अर्थ व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्वरूप आर्थिक गतिविधियों के ध्रुवीकरण के रूप में होता है और इन्हीं केन्द्रों से छोटे केन्द्रों की ओर तथा आस पास के प्रदेशों की ओर विकास का प्रसार होता है। अत: क्षेत्रीय विकास के लिये वृद्धि केन्द्रों का विचार कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

(1) व्यापारी एकाकी रूप में व्यवसाय शुरू करने की अपेक्षा समूहीकरण के केन्द्रों की ओर अधिक आकर्षित होते हैं।

(2) सार्वजनिक शीर्षस्थ पूंजी विनियोजन यातायात के रूप में करने में (अधिक विस्तार से करने की अपेक्षा केन्द्रित रूप में) करने में सस्ता पड़ता है।

(3) पिछड़े क्षेत्रों के लिये ऐसे केन्द्र अधिक प्रेरणा प्रदान करते हैं।

(4) इन केन्द्रों के विकास से महानगरों की संकीर्णता से वचा जा सकता है।

(5) ये केन्द्र आस पास के क्षेत्रों की सेवा के केन्द्र होते हैं।

लेकिन इस प्रकार के वृद्धि केन्द्रों के लिये गहन शोध की एव लम्बी अवधि के विकाम कार्यक्रमों की आवश्यकता है। इस प्रकार का प्रथम प्रयास ब्राजील सरकार ने पिछड़े क्षेत्र में राजधानी ब्रासीलिया को स्थापित करके किया है। ऐसा ही प्रयास फ्रांसीसी नियोजनकर्ताओं ने पेरिस पर केन्द्रीयकरण को कम करने के लिये आठ वड़े शहरों को दूर 2 विकसित करने की योजना वना कर किया है। लेकिन इस प्रकार की विकास नीति अपनाने पर दो प्रकार की समस्याएं उत्पन्न होती हैं। एक वे समस्याएं जो वृद्धि केन्द्रों से सम्बन्धित हैं, दूसरी वे जो उन क्षेत्रों से सम्वन्धित है जो ऐसे केन्द्रों से दूर स्थित हैं।

वृद्धि केन्द्रों से सम्बन्धित समस्याऐं—

[i] ऐसे केन्द्रों में जव एक विशेष प्रकार के उद्योग का केन्द्रीयकरण हो जाता है तो दूसरे प्रकार के उद्योगों का विकास अवरुद्ध हो जाता है जैसे पिट्स वर्ग में धातु उद्योग महत्वपूर्ण है। अत: वहां श्रम-आधारित या अन्य प्रकार के उद्योगों के विकास में वाधा आती है।

[ii] कई वृद्धि केन्द्रों के विकास के बावजूद भी वे किसी एक उद्योग की वृद्धि की प्रक्रिया को प्रेरित नहीं करते हैं जैसे मेक्सिको सिटी।

[iii] इस प्रकार के केन्द्रों का चयन सामान्यतः राजनीतिक स्वार्थों के लिये किया जाता है।

[iv] इस प्रकार के नियोजित केन्द्रों का विकास पुराने केन्द्रों पर आधारित हो या नये बसाये गये केन्द्रों के रूप में हो ? क्योंकि पुराने केन्द्र स्वाभाविक रूप से आकर्षण के केन्द्र होते हैं, जबकि नये केन्द्रों के बारे में कम जानकारी होती है। लेकिन दूसरी ओर नये केन्द्रों में परिवहन, यांत्रिक शक्ति, सफाई आदि की अधिक सुविधा होती है जबकि पुराने केन्द्रों में इस दृष्टि से संकीर्णता पाई जाती है।

अतः यह आवश्यक है कि नये केन्द्रों का चयन करने के लिये आस पास के पुराने केन्द्रों से दूरी व उस क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिये। इसके साथ ही साथ इनके आकार का भी ध्यान रखना आवश्यक है। इसके लिये नगरीय पदानुक्रम में उनका स्थान, आकार व कार्यों की दृष्टि से कैसा है ? इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

दूर के क्षेत्रों से सम्बन्धित समस्याएं —

वृद्धि केन्द्रों के विकास का विचार स्वीकार करने पर दूसरी महत्वपूर्ण समस्या उन केन्द्रों के सीमावर्ती क्षेत्रों से दूर स्थित क्षेत्रों से सम्बन्धित है जिनका विकास नहीं हो पाता है। सामान्यतः यह आलोचना का विषय है कि बड़े केन्द्रों से दूर के भागों का विकास नहीं हो पाता है लेकिन ऐसा आवश्यक रूप से नहीं होता है, बल्कि जहां एक ओर बड़े केन्द्रों का विकास होता है तो इससे आस पास के प्रदेश की कृषि उपजों की व अन्य कच्चे माल की मांग बढ़ती है इसी प्रकार आस पास के क्षेत्र मनोरंजन व पर्यटन केन्द्रों के रूप में विकसित होते हैं जिसके कारण आपसी क्रिया या आदान प्रदान बढ़ता है लेकिन इसके लिये यातायात-सुविधाओं का विस्तार आवश्यक है। इसके अतिरिक्त स्वस्थ पर्यावरण की दशा का बना रहना भी महत्वपूर्ण है। इसके लिये सामाजिक शीर्षस्थ पूंजी विनियोग की आवश्यकता है जो ऐसे क्षेत्र के विकास में योग प्रदान कर सके। राव और नारायण[38] (1974) ने आंध्र प्रदेश के तेलगांना प्रदेश में पोचम्पाद अयकट क्षेत्र के अध्ययन से पाया कि वृद्धि केन्द्रों का उपयोग विकास की धारा को नगरों से दूर के क्षेत्रों में प्रसारित करने में सहायता देता है इससे विकास की गतिविधियां ग्रामीण पृष्ठ प्रदेश के केन्द्र पर केन्द्रित होती है और बाद में आस पास के क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है। भट्टाचार्य और पाठक[39] (1976) ने पश्चिमी बंगाल के बांकुरा जिले में फोर्ड फाउन्डेशन व भारत सरकार के कृषि मंत्रालय

के सामुदायिक विकास विभाग के सहयोग से देश के 20 विकास खण्डों में से बांकुरा जिले में किये गये क्षेत्रीय विकास के अध्ययन में पाया कि वृद्धि केन्द्रों का विचार विकास के लिये अधिक उपयुक्त है। साथ ही यह भी बताया कि ऐसे केन्द्रों को ज्ञात करके उन पर अधिक ध्यान देना आवश्यक है।

अतः सभी प्रकार के क्षेत्रीय विकास के विकल्पों में वृद्धि केन्द्रों पर आधारित विकास का विकल्प अधिक उपयुक्त है लेकिन किसी भी प्रकार का विकल्प अचानक रातों रात सफल नहीं हो सकता है। इसके लिये लम्बी अवधि की प्रक्रिया को अपनाने की आवश्यकता है साथ ही उस क्षेत्र के व्यक्तियों व समुदायों के व्यवहार की जानकारी होना भी आवश्यक है कि व्यक्ति व समुदाय क्षेत्रीय वरीयता और स्थिति सम्बन्धी निर्णयों को किस प्रकार व्यक्त करते हैं। अन्यथा हमारा यह प्रयास लावेन्थल* के शब्दो में केवल शैक्षणिक अभ्यास मात्र रह जायगा।

---

* "Without a prior understanding of the bases of perception and behaviour environmental planning and improvement are mere academic exercises, doomed to failure because unrelated to the terms in which people think and the goals they select". Lowenthal, D (1967 p 3) Enivronmental perception and behaviour, Chicago University Deptt. of Geog. research paper, 109.

REFERENCE-9

1 HODDER, B. W. and LEE, R. (1974) Economic Geography, Methuen & Co. Ltd., London pp. 169.

2 McGRANAHAN, D. V. et al (1970) Content and measurement of Socio-economic development : An empirical enquiry. U. N. Research Institute for social development, Geneva.

3 SCOTT, W (1973) The measurement of real progress at the local level, U. N. Research Institute for social development, Geneva.

4 ROSTOW, W W. (1960) The stages of Economic Growth : A non-Communist menifesto, Cambridge.

5 SADHUKHAN, S. K. (1975) Sectoral and regional linkages analysis of West Bengal, Indian Journal of Regional planning, Vol. VII (2 pp. 130-138.

6 GUPTA, S. L. (1967) 'Faridabad'—A study in industrial growth, Indian Geographical Journal, 42 (1 and 2).

7 HICKS, J. R. (1959) Essays in world Economles, Oxford, Oxford University press.

8 GERSCHEN KRON, A. (1963) City Economics--Then & Now; in Handlin, O and Burchard. J., (eds) The Historian and the city, (Cambridge,Mass), 56-62.

9 MARTIN, W. (957), Ecological change in Satellite rural areas; American Sociological Review, 22 (2) 173-183.

10 MYRDAL, G. M. (1957) Economic theory and Under-developed regions Duckworth, London.

11 HIRSCHMAN, A O., (1958) The Strategy of Economic development Yale University press, New Heaven, Connecticat.

12 PRED, A. ('965) Industrialization. initial advantage and American Metropoliton growth Geog Review; 55, 158-85.

13 BALDWIN, R. E (1956) Patterns of development in newly settled regions, Manchester School of Economic & Social Studies 24; 161-79.

14 PERLOFF, H. S. and Wingo L , (1961) Natural resources endowment and regional Economic growth; in Spengler, J J. (Eds) Natural resources and Economic growth. Washington D. C. 191-212.

15 NORTH. D. C. (1955) Location theory and regional Economic growth. Journal of political Economy 63, 243-258.

16 DUESENBERRY, J. S. (1950) Some aspects of the theory of Economic development; Explorations in Enterpreneurial History. 3 (2) 63-102.

17 THOMAS. M. D (1963) Regional Economic Growth and Industrial development; papers of the Regional Science Association, European Congress 1962. 10, 61-75.

18 ULLMAN, E. L. and M F. DACEY (1962) The Minimum requirements approach to the Urban-Economic base, Lund studies in Geog Series B, 24, 121-143.

19 PRED, A. (1966). The Spatial Dynamics of U. S, Urban-Industrial growth, 1800-1914, Cambridge, Mass, M. I. T. Press.

20 LEVEN, C. L (1964) Establishing goals for Regional Economic development. Journal of the American institute of Planners 30, 100-110

21. CHISHOLM, M (1962) Tendencies in Agricultural specialization and regional concentration of industry, Papers of the Regional Science Association, European Congress, 10, 157-162.

22 NICHOLSON, I, (1965) The X in Mexico : growth in Tradition, London.

23 O'CONNOR, A M. (1963), Regional contrasts in Economic development in Uganda, East African Geographical Review, 1, 33-43.

24 PERLOFF, H. S. and WINGO, L. (1961) Natural resource Endowment and regional Economic growth in Spengler, J. J (Ed) Natural resources and Economic growth (Washington D. C.) pp 191-212.

25 SPENCER, J E, (1960) The cultural fectors in 'under development' The case of Malaya; Ch. 3 in Ginsburg., N. (Eds) Essays on Geog and Economic development, University of Chicago, Deptt of Geog. research paper. 62.

26 WONNACOTT. R. J. (1964), Wage levels and Employment structure in United State regions : A free Trade Precedent, Journal of Political Economy 72 (4), 414-419.

27 BRANDENBURG. F. R (1964) The Making of modern Mexico, Englewood cliffs.

28 HICKS, U. K., CARNELL, F. G., NEWLYN, W. T., HICKS, J. R. and Birch A. H., (1961) Federlism and Economic growth in underdeveloped Countries, London.

29 SADHUKHAN. S. K, (1975) Ibid.

30 HAGERSTRAND, T. (1952) The propagation of innovation Waves, Lund studies in Geog , Series B, 4.

31 LLOYD, P. E. and DICKEN, P (1972), Location in space : A Theoretical approach to Econ. Geog Harper International New York.

32 OKUN, B. and RICHARDSON, R. W. (1961), Regional income inequality and internal population Migration; Economic development and cultural change, 9 (2) 128-143.

33 WILLIAMSON, J. G. (1965); Regional inequality and the process of National development : A description of the patterns, Economic development and cultural change, 13 (4), Part II.

34 KARAN, P. P. and BLADEN. W A (1974) Geography of Socio-Economic deprivation in India. National Geographer, Vol. IX pp. 1-6.

35 WEBER, A. (1909), Theroy of the location of industries. Chicago, University of Chicago press

36 TORNQUIST, G. (1968), Flows of information and the Location of Economic activities, Lund studies in Geog., Series, B, 30.

37 PERROUX, F. (1955), Note sur la notion de 'Pole de croissance'; Economic appliquee, 8 (1-2). 307-320.

38. NARAYAN, B K. and RAO, D. V. (1974) Regional planning. : Growth Centre Technique, Indian Journal of Regional Science Vol VI (1) pp. 46-56.

39 BHATTACHARYA, N. K. and PATHAK, C. R. (1976) Growth Centre Technique in area development : A case study of Bankara Distt. W Bengal Regional Development and planning, pp. 76-85.

१०

आर्थिक विकास एवं पारिस्थितिक संतुलन

(Economic development and Ecological balance)

मानव द्वारा अच्छे जीवन स्तर को प्राप्त करने के प्रयास एवं वातावरण-
प्रदूषण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहां एक ओर नगरीकरण और औद्योगि-
करण के साथ 2 जनसंख्या में तीव्र वृद्धि के कारण संसाधनों का उपभोग बढ़ा
है वहीं दूसर ओर पारस्थितिक संतुलन भी बिगड़ा है। दूसरे शब्दों में आर्थिक
विकास के साथ 2 पारिस्थितिक संतुलन की समस्या बढ़ती जा रही है। जनसंख्या
की तीव्रतम वृद्धि तथा तकनीकी विकास में तीव्रता के कारण मानवीय एवं
प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग भिन्न भिन्न व्यक्तियों के बौद्धिक स्तर के अनुसार
अलग अलग प्रकार से किया जा रहा है।

अमेरिकी राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी (1966) के अनुसार वायु, पानी,
मिट्टी, पेड़-पौधे, प्राणी वर्ग सभी मिलकर वातावरण या पर्यावरण की रचना
करते हैं। दूसरे शब्दों में पृथ्वी के धरातल पर, किसी स्थान विशेष पर मानव के
आस पास फैली सभी दशाओं के योग को वातावरण कहा जा सकता है। ये सभी
घटक पारिस्थितिक संतुलन बनाये रखने के लिये एक दूसरे को प्रभावित करते हैं,
जिसे पारिस्थितिक विज्ञान सम्बन्धी सतुलन (Ecological balance) कहते हैं।
जब एक सीमा से अधिक प्रकृति का उपयोग विकास के लिये किया जाता है तो
हमारे पर्यावरण में कुछ परिवर्तन होता है। अगर यह परिवर्तन प्रकृति के साथ
सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता है तो इससे न केवल विकास के व्यय का
खतरा उत्पन्न हो जाता है बल्कि इससे ऐसा असतुलन उत्पन्न हो जाता है जिससे
पृथ्वी पर मानव जीवन संकट में पड़ सकता है। यही असंतुलन प्रदूषण पैदा
करता है।

हम जानते हैं कि आर्थिक गतिविधियां ही मानव की सम्पूर्ण गतिविधियां
नहीं हैं, बल्कि वे मानव जीवन की विभिन्न गतिविधियों में से एक है। फिर
भी आर्थिक गतिविधियों का महत्व अन्य गतिविधियों की अपेक्षा कहीं अधिक है।
अतः इनके महत्व को कम नहीं आंका जाना चाहिये। इन गतिविधियों के ठीक
ढंग से सम्पादित होने पर ही अधिक उच्च स्तर का एवं खुशहाली युक्त जीवन
मानव व्यतीत कर सकता है। जहां आज एक ओर मानव की आवश्यकताओं की
पूर्ति हेतु आर्थिक विकास को तेज करने की आवश्यकता है, साथ ही साथ
पारिस्थितिक संतुलन का ध्यान रखना भी आवश्यक है जो आज के युग की
महत्वपूर्ण समस्या है। आर्थिक विकास एवं पारिस्थितिक संतुलन, दोनों सम-
स्याओं की ओर पिछले कुछ वर्षों से ही मानव समुदाय, विशेषकर प्रबुद्ध व्यक्तियों,

का ध्यान आकर्षित हुआ है। आर्थिक भूगोलवेता के लिये जहां आर्थिक विकास का अध्ययन महत्वपूर्ण है वही उससे उत्पन्न समस्याओ का अध्ययन भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। आर्थिक भूगोल वेता के लिये वास्तविक जगत का विश्लेषण करते समय उक्त बातें केन्द्र बिन्दु के रूप में होनी चाहिये ताकि दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित कर सके।

लेकिन हम देखते हैं कि बढ़ती हुई जनसंख्या के सापेक्ष में आर्थिक विकास की गति को तेज करना आवश्यक है। तो स्वाभाविक ही आर्थिक विकास के कारण पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ेगा। और अगर पारिस्थितिक संतुलन बनाये रखा जाता है तो मानव विकास नहीं कर पायगा। इस प्रकार प्रारम्भिक दृष्टि में दोनों एक दूसरे के विपरीत स्थिति लिये हुये हैं लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है अगर अधिक गहराई से विचार किया जाय तो दोनों को साथ 2 समन्वित रूप में लिया जा सकता है जिसमें आर्थिक विकास भी होता रहे और पर्यावरण भी अच्छा बना रहे। आज हम एक ऐसे नाजुक समय के दौर से गुजर रहे हैं जिसमें केवल इन बातों को समझना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि हमें यह निर्णय भी करना है कि अगर हम मानव की खुशहाली के साथ जीवित रहना चाहते हैं और अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो हमें प्राकृतिक पर्यावरण के साथ पारस्परिक संतुलन बैठाना होगा अन्यथा हमारी लोभ की प्रवृति और अव्यवस्था के कारण हम विनाश के गर्त की ओर बढ़ते जायेंगे। सेमुअलसन[1] (1973) का यह कथन कि, वर्तमान के उपभोग की बदौलत भविष्य के लिये पूंजी का संचय किया जा रहा है जो बहुत ही खतरनाक है, सत्य ही प्रतीत होता है।

प्रदूषण का खतरा पृथ्वी के किसी एक भाग से सम्बन्धित न होकर एक विश्व व्यापी घटना है। जून, 1972 में संयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा आयोजित स्टॉक होम कॉन्फ्रेंस द्वारा सभी देशों का ध्यान जल, वायु, भूमि तथा शोर के प्रदूषण की ओर आकृष्ट किया है। आज विश्व के सभी विकसित देश औद्योगिकरण, नगरीकरण, यातायात के यांत्रिक साधनों की तेजी से वृद्धि व ध्वनि से तेज गति मे चलने वाले वायुयानों का शोर, शांति व युद्ध के लिये परमाणु शक्ति का उपयोग आदि के कारण पर्यावरण को प्रदूषित अनुभव कर रहे है वहां इसे कम करने के प्रयत्न भी जारी हैं। वर्तमान मे मानव को तीन प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ रहा है जो इस प्रकार है—

[1] पर्यावरण का भौतिक संकट (Physical Crisis of Environment)
[2] पर्यावरण का जैविक संकट (Biological Crisis of Enviroment)
[3] पर्यावरण का सांस्कृतिक संकट (Cultural Crisis of Environment)

पर्यावरण का भौतिक संकट—(Physical Crisis of Environment)

इसके अन्तर्गत संसाधनों के उपयोग से सम्बंधित संकट महत्वपूर्ण है, विशेषकर संसाधनों का बढता उपयोग व इससे सम्बन्धित प्रदूषण की समस्या विकराल रूप धारण करती जा रही है। वनों, खनिजों व मिट्टी आदि का शोषण तेजी से किया जा रहा है साथ ही साथ प्रदूषक तत्वों की संख्या भी निरन्तर बढ़ रही है। जहां एक ओर औद्योगिक विकास के कारण शहरों में प्रदूषण फैल रहा है वही ग्रामीण क्षेत्र भी इसके प्रभाव से अछूते नही रहे हैं बल्कि इनका प्रभाव एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र या एक देश से दूसरे देश तक गहराता जा रहा है हवा एवं पानी के प्रवाह के कारण इसका प्रभाव दूर 2 तक न्यूनाधिक हो रहा है। फिर भी शहरों का वातावरण धुआ, धूल, गैसो व रसायनों आदि के कारण अधिक प्रदूषित हो रहा है इसके तीन प्रारम्भिक प्रभाव हो रहे हैं—

[i] इसके कारण सूर्य की किरणों की धरातल तक पहुंच घट रही है।

[ii] वायु मंडल के तापीय गुणों में परिवर्तन हो रहा है।

[iii] धुंआ और धूल के सूक्ष्म कणों के वायु मंडल में पहुंचने के कारण ये संघनन के लिये नाभिक का कार्य करते हैं और कोहरे में वृद्धि करते हैं जिसके कारण औद्योगिक केन्द्रो के निकट कोहरा अधिक छाया रहता है। ये तीनों एक दूसरे को सहायता करते हैं जिससे प्रदूषण गहरा होता जा रहा है। 5 से 9 दिसम्बर 1952 की छोटी सी अवधि में ही लदन में शान्त हवा और तापक्रमीय विलोमता के कारण प्रदूषण 6 गुना बढ़ गया। दृश्यता बहुत कम हो गई। तथा इस 5 दिन की अवधि में ही 4000 व्यक्ति गले की उत्तेजना व फैफड़ो के रोग से मृत्यु को प्राप्त हो गये अतः संसाधनों के दुरुपयोग से ये प्रदूषक तत्व बढ़ रहे हैं ये तत्व कई प्रकार के हैं जिनका वर्गीकरण अलग 2 आधारों पर निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(क) उत्पत्ति के आधार पर—

(i) सीधे वायु मंडल में पहुंचने वाले तत्व—धुआ, धून के कण, विभिन्न गैसें आदि।

(ii) परोक्ष रूप में पहुंचने वाले तत्व —फोटो रसायन प्रक्रिया, आर्गेनिक हाइड्रोजन पर आक्साइड आदि से।

(ख) पदार्थ की प्रवृत्ति के आधार पर—

तत्वों के रूप में

(i) ठोस पदार्थो के रूप में— धूल-कण, धुआं

(ii) द्रव पदार्थो के रूप में— रसायन, कोहरा, पानी

(iii) गैसीय पदार्थों के रूप में—कार्बन डाइ ऑक्साइड, नाईट्रो डाई ऑक्साइड।

ऊर्जा (i) रेडियो धर्मिता जनित
के (ii) शोर जनित
रूप में (iii) तापीय वृद्धि जनित
(iv) अन्य साधनों से

(ग) पर्यावरणीय आधार पर—

[क] जलीय
[ख] थलीय
[ग] वायु मंडलीय

[iv] उत्पति में भाग लेने वाले कारकों के आधार पर—

(क) **प्राकृतिक तत्व**—इनमें धूल बवन्डर, वनीय आग, खानों में लगने वाली आग व ज्वालामुखी उद्गार, भूमिगत जल में खनिजों के विलयन से होने वाला प्रदूषण सम्मिलित है। इन पर मानव का नियन्त्रण नहीं है।

(ख) **कृत्रिम तत्व**—इन तत्वों की उत्पति में स्वयं मानव द्वारा किये गये विभिन्न कार्यो का हाथ है जिसके कारण वायु, जल भोजन, मिट्टी आदि प्रदूषित हो रहे हैं।

इस प्रकार प्रदूषण फैलाने वाले तत्वों की संख्या विविधता लिये है। इन्हें ज्ञात करना कठिन है फिर भी इनमें से कुछ तत्वों का प्रभाव अधिक व्यापक है। जो इस प्रकार है -

ऑक्सीजन में कमी—आज हम हमारे लिये मकान मार्गों का निर्माण, उद्योगों की स्थापना हेतु अधिक जगह प्राप्त करने के लिये वनों का निरन्तर विनाश कर रहे हैं जिससे प्रकाश संश्लेषण (Photo synthesis) की क्रिया कम हो रही है और पेड़ पौधों द्वारा ऑक्सीजन कम तैयार की जा रही है कई वस्तुऐं हम जला रहे हैं इसके कारण भी ऑक्सीजन कम हो रही है। नाईट्रोजन व फास्फोरस युक्त उर्वरकों के उपयोग से धीरे 2 पानी में उसकी मात्रा बढ़ाकर पानी को अति उर्वर बना रहे हैं। इसके कारण पानी में कई प्रकार के जीवों की वृद्धि हो रही है और पानी की ऑक्सीजन क्षमता कम हो रही है। इरी भील इसका अच्छा उदाहरण है जो जीव वैज्ञानिक दृष्टि से मृत प्रायः है और कई वर्षों तक इसकी दशा को नहीं सुधारा जा सकता है।

सम्पूर्ण पृथ्वी की 70% प्रकाश संश्लेषण को क्रिया समुद्र में होती है विशेष कर तटीय भाग में, जहां मानव, प्रदूषण के तत्वों को बढ़ा रहा है और ऑक्सीजन बनाने की प्रक्रिया को प्रभावित कर रहा है।

तापीय प्रदूषण—विद्युत उत्पादक जेनरेटरों तथा उद्योगों से निकला मलवा इसका मुख्य स्त्रोत है एक अनुमान के अनुसार 1000 मैगावाट शक्ति उत्पादक अणु बिजली घर को ठंडा करने के लिये प्रति मिनट 10 लाख गैलन पानी आवश्यक है इसके कारण बाहर निकलने वाला पानी, अन्दर जाने वाले पानी से 11°C अधिक गर्म होता है इससे पानी की ऑक्सीजन घुलाने की क्षमता कम हो जाती है व पानी के जीवों की उपापचय क्रिया तेज होने से उनकी ऑक्सीजन की मांग और बढ़ जाती है अतः दोनों तरह से ऑक्सीजन की कमी के कारण पानी प्रदूषित हो रहा है।

कार्बन डाई ऑक्साइड में वृद्धि—पेट्रोल के जलने से कार्बन डाई ऑक्साइड अधिक बन रही है इसका प्रभाव बन्द कांच के घर (Green House effect) की तरह पड़ रहा है। यह अधिक दुःखद स्थिति बना रहा है। अगर कार्बन डाई ऑक्साइड की वृद्धि की यही दर बनी रही तो इस शताब्दी के अन्त तक कई परिवर्तन आयेंगे विशेषकर वायु मंडल का तापमान बढ़ने के कारण अन्टार्कटिका के बर्फ के पिघलने की ही कल्पना करें तो प्रत्येक 10 वर्ष में समुद्र तल 4 फीट ऊंचा उठ जायगा ध्रुवीय क्षेत्रों का बर्फ अगले 4000 वर्षों में पिघल जायगा इसके कारण हमारे अधिकांश तटीय नगर व तटीय भाग समुद्रों के अंग बन जायेंगे यह सब वायु मंडल में कार्बन डाई ऑक्साइड की वृद्धि से सूर्य की अवरक्त किरणों (Infra-Red Rays) का अवशोषण होने से होगा। इसी प्रकार कार्बन मोनो ऑक्साइड (विशेष कर ऑटोमोबाइल्स का अधिक उपयोग बढ़ने से) में वृद्धि के कारण, यह श्वसन क्रिया द्वारा शरीर में पहुंच कर रक्त की रुधिर कणिकाओं की ऑक्सीजन परिसंचरण क्षमता कम कर देती है जिससे मनुष्य की मृत्यु भी हो सकती है इस कमी के कारण चक्कर, सिरदर्द व घबराहट होती है। इन्द्रपाल व मधु मिश्रा[2] (1975) के अनुसार कार्बन मोनो ऑक्साइड के कारण मानव रक्त की हेमोग्लोबीन व ऑक्सीजन रखने की क्षमता कम हो जाती है।

नाईट्रोजन की मात्रा में वृद्धि— विभिन्न प्रकार के ईंधनों के जलने से कई गैसें उत्पन्न होती हैं। इसमें नाईट्रोजन मोनो ऑक्साइड, नाईट्रोजन डाई ऑक्साइड व नाईट्रोजन पर ऑक्साइड आदि महत्वपूर्ण है। इनसे खांसी व फेफड़ों के रोग उत्पन्न होते हैं। वायुमंडल में नाईट्रोजन डाई ऑक्साइड व नाइट्रो ऑक्साइड फोटो केमिकल प्रक्रिया में सक्रिय भाग लेते हैं।

सल्फर डाई ऑक्साइड में वृद्धि—कोयले व तेल के जलने से सल्फर डाई ऑक्साइड उत्पन्न होती है। वायु मंडल में पहुंच कर वर्षा या नमी के साथ घुलकर पृथ्वी पर पहुंचती है और गधकाम्ल बनाती है यह नाक में जलन उत्पन्न

करती है फैफड़ों को प्रभावित करती है यह वस्त्र, धातु, की चीजों, इमारतों आदि को भी हानि पहुंचाती है।

रेडियो धर्मिता अणु शक्ति के विकास के साथ ही नई समस्या विकसित हो गई है। परमाणु विखडन से रेडियो सक्रिय कण वायु मंडल में फैल जाते हैं और दूर 2 तक पहुंच जाते हैं। रेडियो-धर्मी परिवर्तन अपने आप होते हैं तथा साधारण विधियों से इनको नियत्रित करना कठिन है। यद्यपि अन्य प्रकार के मलवे की अपेक्षा यह मलवा रंगहीन, स्वादहीन, गंधहीन होता है लेकिन उनकी अपेक्षा अधिक लम्बे समय तक सक्रिय एवं अधिक प्रभाव डालने वाला होता है। वुडवेल[3] (1967) के अनुसार सामान्यत: यह 30^0 से 60^0 अक्षांसों के मध्य अधिक पाया जाता है और दक्षिणी गोलाई की अपेक्षा उत्तरी गोलाई में इसकी मात्रा 5 से 10 गुना अधिक पाई गई है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि इसका प्रभाव अणु विस्फोट के क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहता है बल्कि वायु प्रवाह के साथ 2 दूर तक पहुंच जाता है। कहीं समुद्रों में इसके कण गिरते हैं तो धाराएँ इनको दूर 2 तक पहुंचा देती है। इसकी वजह से भोजन-शृंखला (Food Chain) प्रभावित होती है। जैसे पौधे सूर्य की किरणों का उपयोग अपने भोजन बनाने में करते हैं, इन पौधों को पशु खाते हैं, इन शाकाहारी पशुओं को मांसाहारी जीव खाते हैं, और मांसाहारी या शाकाहारी जीवों का मांस मानव खाने के काम में लेता है, अगर रेडियो धर्मीकण किसी एक सजीव द्वारा लिये जाते हैं तो उसको खाने वाले पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। रेडियो धर्मी आइसोटोप स्ट्रोन्टियम–90 से बीटा विकरण होता है इसके कारण हड्डियों की मज्झा में रक्त कोषों के निर्माण को हानि पहुंचती है। और लम्बे समय बाद एक प्रकार का कैन्सर उत्पन्न करती है। मानव स्ट्रोन्टियम-90 को हरी पत्तियों वाली सब्जी या दूध से सीधे प्राप्त करता है, जो इन कणो के जमीन पर गिरने से पत्तियों या घास के उपयोग के कारण पहुंचता है। इसी प्रकार सिसीयम–137 भी आइसोटोप है इससे गामा किरणों का विकिरण होता है यह अगर शरीर में पहुंचता है तो सभी जगह फैल जाता है। यह भोजन शृंखला द्वारा मानव शरीर में पहुंचता है। आयोडिन-131 भी गामा किरणों का विकिरण करता है। यह विशेषकर घास से गायों व गायों के दूध से मानव तक पहुंचता है। इसकी वजह से थांइराईड ग्रन्थ में गांठ की बीमारी हो जाती है। इसके अतिरिक्त इन आइसोटोपों के कारण अस्थि कैंसर अंगो की कार्य क्षमता बिगड़ने से सम्बन्धित रोग हो जाते हैं।

धूल के कण - खनन कार्यो, सीमेन्ट, बर्तन व सिरेमिक उद्योग आदि से धूल के कण भारी मात्रा में वायु मंडल में एकत्रित होते हैं और मानव की श्वसन

क्रिया को प्रभावित करते हैं। इसकी वजह से आंखों पर भी प्रभाव पड़ता है। इन्द्रपाल[4] (1968) ने राजस्थान में अत्यधिक शुष्कता, धूल व रेत के कणों के हवा में तैरने को ट्रैकोमा (Trachoma) बीमारी का कारण बताया। धूल के कणों से टी. बी. व फैंफड़ों से सम्बन्धित बीमारियाँ अधिक होती हैं।

ध्वनि प्रदूषण—वायु प्रदूषण के विभिन्न तत्वों में ध्वनि का बढ़ता हुआ शोर महत्वपूर्ण है। कानों में फुसफुसाहट से लेकर विस्फोट व राकेट के भयंकर शोर में विचित्र तीव्रता होती है शोर को नापने की इकाई डेसीबल है। हमारे कान की औसत श्रवण क्षमता 80-85 डेसीबल है इससे अधिक शोर हमारे कान के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। पत्तियों की मर्मर व फुसफुसाहट की तीव्रता 10 डेसीबल, दोस्तों की महफिल में 40 डेसीबल, भारी वाहनों के आगमन से 80 डेसीबल, रेलगाड़ी से 90 डेसीबल, कारखानों की गड़गड़ाहट से 120 डेसीबल, जेट यान से 150 डेसीबल, विस्फोट से 160-170 डेसीबल शोर होता है। अधिक तेज शोर की दशा में बेचैनी, सिर दर्द व रक्त चाप जैसे रोग हो जाते हैं। तेज बजते भोंपू से श्वसन क्रिया तेज हो जाती है। पाचन क्रिया भी गड़बड़ हो सकती है। तनाव उत्पन्न हो सकता है और आंखों की रोशनी मन्द पड़ सकती है। हमारे यहां के बड़े 2 नगर जैसे कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, अहमदाबाद, कानपुर आदि इस प्रकार के प्रदूषण से अधिक प्रभावित हैं। 1975 में शिकागो के ओहेयर हवाई अड्डे का शोर नापा गया इससे 4,32,000 मनुष्य, 142 स्कूल, 6 अस्पताल प्रदूषण से प्रभावित थे। न्यूयार्क के केनेडी हवाई अड्डे के ध्वनि प्रदूषण से (1975 में) 17 लाख व्यक्ति प्रभावित थे जबकि 1968 में ही 112 स्कूल, 37 सार्वजनिक पार्क व एक दर्जन अस्पताल प्रभावित पाये गये। कॉन्कर्ड विमानों के शोर की तीव्रता का प्रभाव तो और भी अधिक व्यापक है।

इसके अतिरिक्त वायु-प्रदूषण के अन्य प्रमुख स्रोतों में वाइरस, आतिश-बाजी या विस्फोटक सामग्री का उपयोग व अन्य प्रकार की गैसों का उत्पन्न होना महत्वपूर्ण है। चक्रवर्ती और राव[5] (1959) ने कलकत्ता के अध्ययन में पाया कि वायु प्रदूषण का प्रभाव अलग 2 मौसम में भी अलग 2 होता है। विशेषकर सर्दी में धुंएँ युक्त दशाओं में एलर्जी व श्वास की बीमारियां अधिक होती हैं। ग्रीन लैंड आइस केप पर वायु से गिरने वाले प्रदूषण को नापने से ज्ञात हुआ है कि वहां सीसे जैसे जहरीले पदार्थ के कणों में काफी वृद्धि हुई है यह 'ऑटोमोबा-इल्स के कारण अधिक हुई है। 800 B C. में सीसे की मात्रा 0·001 माईक्रो ग्राम प्रति किलो ग्राम थी अब यह बढ़कर .22 माईक्रोग्राम हो गई है।

मलबा—मानव द्वारा प्रतिदिन विभिन्न प्रकार का मलबा घरेलू धन्दे

पानी से लेकर मल-मूत्र परित्याग, खाली डिब्बे कांच का सामान, कागज, प्लास्टिक का सामान, मकान की सफाई से निकलने वाला कूड़ा करकट आदि के रूप में छोड़ा जाता है। यह मलवा इतना अधिक है कि एक अध्ययन के अनुसार भारत के शहरों का मलवा एकत्रित कर उसे ठिकाने लगाने में ही 200 करोड़ रुपयों की आवश्यकता है जबकि पूरे भारत के सन्दर्भ में यह राशि इससे कई गुना अधिक होगी। गन्दे पानी और मलमूत्र को हटाने की समस्या बहुत गम्भीर है। सेठ[6] (1979) के अनुसार भारत के 2900 कस्बों में से मात्र 186 में किसी प्रकार नालियां या मलवा इकट्ठा करने की व्यवस्था है इन में विस्तृत क्षेत्र इस व्यवस्था से अलग थलग व अछूते हैं। कहीं 2 एक का पानी दूसरे में पहुंच जाता है इसकी वजह से नलों द्वारा पानी की पूर्ति की कई समस्याएँ हैं। इसके कारण ही भारत में आंतों की बीमारियां फैलती है। भारत में आधार भूत स्वच्छता के अभाव में व प्रदूषित जल पीने के कारण प्रति वर्ष एक लाख में से 360 व्यक्ति मौत के मुंह में चले जाते हैं। उद्योगों से निकला हुआ मलवा भी पानी व मिट्टी को प्रदूषित कर रहा है लॉस एंजिल्स जैसे शहर में 150 टन वाष्पीय अम्ल, 400 टन गंधक के यौगिक, 500 टन नाईट्रोजन तत्व तथा 1500 टन कर्बनिक तत्व होते हैं। और प्रति वर्ष 2 टन धूल प्रति वर्ग मील क्षेत्र में जमा हो जाती है।

उपजाऊ कृषि क्षेत्रों पर बढ़ता दबाव आर्थिक विकास की अन्धाधुंध दौड़ में उद्योगों व नगरों का विकास जिस तेज गति से हो रहा है इसका प्रभाव नगरों के आस पास की भूमि पर अधिक पड़ रहा है। विशेष कर उपजाऊ कृषि क्षेत्र इससे अधिक प्रभावित हुआ है। विश्व का केवल 11% भूभाग कृषि के लिये उपयुक्त है लेकिन यह भी समान रूप से वितरित नहीं है वर्तमान में 14,000,000 वर्ग कि.मी. क्षेत्र फसलों में लगा है अधिक से अधिक इतना ही क्षेत्र और कृषि योग्य बनाया जा सकता है। अधिकांश बढ़िया भूभाग पहले से ही कृषि के अन्तर्गत है। लेकिन दुर्भाग्यवश इसका अधिकांश भाग मकानों, उद्योगों व सड़कों के निर्माण में जा रहा है। विकसित देशों में 3000 वर्ग कि. मी. बढ़िया कृषि योग्य क्षेत्र प्रति वर्ष नगरीय विस्तार से प्रभावित हो रहा है* अगर यही दर बनी रही तो अगले 20 वर्षों में ही विश्व का 1/3 कृषि योग्य भूभाग समाप्त हो जायगा। और जो भूमि एक बार कृषि क्षेत्र से छीन ली गई है उसकी पूर्ति शायद ही कभी हो पाये। यह हानि स्थायी है। प्रकृति 100 से

---

* "Wold Environment day : 5th June, 1984, United Nations Environment Programme (UNEP) Information Services Nairobi, Kenya.

400 वर्ष या इससे भी अधिक समय में ऊपरी मिट्टी की 10 मिली मीटर की पर्त बनाने में लेती है और 30 से. मी. गहरी मिट्टी के निर्माण में 3000 से 12000 वर्ष का समय लगता है। इस प्रकार जहां एक ओर हम कृषि भूमि को खोकर मौत को न्योता दे रहे हैं। वहीं दूसरी ओर नई कृषि योग्य भूमि प्राप्त करने के लिये छटपटा रहे हैं जो दुर्भाग्यपूर्ण है।

मिट्टी का कटाव—मिट्टी का कटाव यद्यपि एक भौतिक प्रक्रिया है। प्रकृति में यह संतुलित रूप से चलती है और पेड़ पौधों के आवरण में पुनः उसी दर से बनती है जिस दर से कटाव होता है। लेकिन मानव द्वारा अव्यवस्थित गतिविधियों को अपनाने के कारण मिट्टी का कटाव बढ़ रहा है। यह शीतोष्ण कटिबन्ध की अपेक्षा उष्ण कटिबन्ध में अधिक हो रहा है। भू आकार, मिट्टी की प्रकृति व वर्षा के कारण भारत का लगभग आधा भाग (33 लाख व. कि. मी. क्षेत्र में से 14 लाख वर्ग कि.मी. क्षेत्र। मिट्टी के कटाव से प्रभावित है। जबकि 2,70,000 वर्ग कि.मी. क्षेत्र बाढ़, खारीपन, क्षार आदि से प्रभावित है अनुमानित रूप से 24,000,000,000 टन मिट्टी प्रति वर्ष कट कर जा रही है इसके साथ 6,000,000 टन पोषक तत्व भी होते हैं जो प्रति वर्ष काम में लिये गये उर्वरकों से भी अधिक है। इसके कारण मिट्टी की उत्पादकता, भोजन में आत्म निर्भरता, आय का वितरण व खाद्यान्नों की पोषकता प्रभावित हो रही है।

पेस्टीसाइड्स का उपयोग—कृषि की उत्पादकता केवल मिट्टी की किस्म पर ही निर्भर नहीं करती है बल्कि कई उपयोगी जीव जन्तुओं, पशुओं, कीड़ों आदि पर भी निर्भर करती है जो कृषि में विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करते हैं। लेकिन कृषि उत्पादनों को विभिन्न बीमारियों से बचाने के लिये रोग नाशक, कीट नाशक रसायनों का उपयोग द्रुत गति से किया जा रहा है। जहां इनका प्रभाव प्राणियों पर बहुत हानिकारक पड़ रहा है वहीं इन बीमारियों के कीटाणुओं की अवरोधक क्षमता को भी बढ़ा रहा है जिसके कारण उनकी संख्या में वृद्धि हो रही है और वे अपने प्राकृतिक शत्रुओं को खत्म कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त पेस्टीसाइड्स के जहरीले तत्व पानी में घुल कर, बहकर, आस पास के जलाशयों व नदी-नालों में पहुँच कर पानी को भी प्रदूषित कर रहे हैं। विश्व खाद्य संगठन व विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के अनुसार डीडीटी, ड्रायल्ड्रीन और एन्ड्रीन को सहन करने की मानवता की क्षमता 0·1 पी. पी. एम. है, महाराष्ट्र में उगाये गये कुछ आलुओं के विश्लेषण से पता चला है कि उनमें डीडीटी की मात्रा 4.2 पी पी एम. ड्रायल्ड्रीन की मात्रा 1.4 पी पी एम. व एन्ड्रीन की मात्रा 2.6 पी पी एम. थी। बम्बई में दूध का विश्लेषण करने पर उसमें 6.9 पी पी एम. डीडीटी तथा 4.3 पी पी एम. डायलड्रीन की मात्रा पाई

गई। आई. आई. टी. बम्बई के 1975 के सर्वेक्षण के अनुसार भारतीयों के भोजन में औसत 0.27 मिलीग्राम डी डी टी पाई गई जो स्वास्थ्य के लिये खतरनाक है। सामान्यत: डी डी टी पानी में कम ही घुलती है लेकिन जीव जन्तुओं व प्लैंकटन द्वारा यह शीघ्र अवशोषित की जाती है। पेस्टीसाइड्स में डीडीटी का ही सबसे अधिक उपयोग किया जाता है इसके कारण इसके प्रयोग की शुरूआत से ही क्लीयरेन्स कोटम व ऐल्मर हिगिन्स नामक अमरीकी विद्वानों ने चेतावनी दी थी कि पेस्टीसाइड्स स्तनपोषी, चिड़ियाओं, मछलियों व अन्य जंगली जन्तुओं के लिये खतरनाक है और इसके उपयोग में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। फिर भी आज इनका उपयोग अधिकतम किया जा रहा है।

कृत्रिम उर्वकों का बढ़ता उपयोग—आधुनिक कृषि की तकनीक मिट्टी की प्राथमिक उर्वरता के महत्व पर निर्भर नहीं है यह अधिकांश पोटास, नाइट्रोजन, यूरिया आदि रसायनिक उर्वरकों पर निर्भर है इससे जहां केंचुओं व अन्य जीवांश निर्माण करने वाले जीवों का सफाया हो रहा है। वहीं मिट्टी के कार्बनिक तत्वों के ऑक्सीकरण को बढ़ावा देते हैं इससे मिट्टी के कटाव में सहायता मिलती है। जहां अत्यधिक मशीनों का उपयोग कृषि में हुआ है वहां मिट्टी का संगठन भी घटा है और मिट्टी की जैविक उत्पादकता घटी है।

वाइरल प्रदूषण—वाइरस सबसे छोटे किश्म के जीवाणु हैं जो निर्जीव से मिलते जुलते हैं. ये वायु में, जल में, मिट्टी में सभी जगह पाये जाते हैं इनका प्रभाव विभिन्न प्रकार से पड़ता है। यकृत-शोथ व पोलियो जैसी बीमारियां इन वाइरसों से युक्त पानी के उपयोग से हो जाती है दिल्ली में 1955 में 30,000 व्यक्ति यकृत-शोथ से पीड़ित हुए यह बीमारी पीने के पानी के कारण ही फैली। डेंगू बुखार भी इसी प्रकार की बीमारी है।

उद्योगों से प्राप्त अवशिष्ट पदार्थ—औद्योगिक विकास के कारण विशालकाय एवं विभिन्न प्रकार के उद्योगों का विकास हुआ है। इनसे कई प्रकार के अवशिष्ट पदार्थ ठोस या द्रव के रूप में छोड़े जाते हैं इनमें अम्लीय, क्षारीय, जहरीले व कार्बनिक तत्व सम्मिलित होते हैं। भारत जैसे देश में जहां वर्षा केवल तीन माह में होती है ये अवशिष्ट पदार्थ बहकर, घुलकर नदियों, जलाशयों में चले जाते हैं। वर्ष के शेष समय में नदियां पतली धारा में अशुद्ध पदार्थों से युक्त पानी से बहती है जिनका पानी पीने योग्य नहीं होता है। विश्व के अन्य किसी भी देश की अपेक्षा भारत में नदी या स्त्रोतों का पानी पीने की दृष्टि से (धार्मिक दृष्टि से भी) उत्तम माना जाता है। कई लोग इसके जहरीले पानी में विकसित मछलियों को खाते हैं अत: मछलियों के माध्यम से जहरीले तत्व उन व्यक्तियों के शरीर में पहुंच जाते हैं और वे मनुष्य कई प्रकार की

बीमारियों में ग्रस्त हो जाते हैं। ऐसे ही समुद्र तट पर स्थित उद्योगों के मलवे का जहरीला प्रभाव तटीय लोगों पर पड़ता है। 1950 में जापान में मिनेमाता बीमारी पारे के जहरीले तत्वों के समुद्र में पहुँचने के कारण मछलियों के माध्यम से फैली इसके कारण फेंफड़े व त्वचा के रोग हो जाते हैं।

समुद्री जल प्रदूषण—समुद्रों में तेल वाहक टैंकर्स भारी मात्रा में तेल इधर से उधर लाते रहते हैं। इनमें कई टैंकरों से तेल रिस 2 कर पानी को प्रदूषित करता है इनका प्रभाव उस क्षेत्र के प्राणी जगत पर पड़ता है। यह सोचना भूल होगी कि इसका प्रभाव गहरे समुद्रों में ही होता है बल्कि तेल हल्का होने से पानी पर तैर आता है और समुद्री लहरें इसे दूर 2 तक पहुँचा देती हैं। और प्रदूषण को फैलाने में सहायता प्रदान करती है। कभी 2 इससे समुद्री पानी में आग लग जाती है और उसमें भी प्राणी जगत को बहुत हानि होती है।

धातु एवं लवणों से प्रदूषण—सामान्य रूप में पानी एक अच्छा घोलक है जिसमें कई खनिज घुल जाते हैं जैसे कैल्शियम मैग्नेशियम सल्फेट फ्लोराइड आदि। इनके कारण पानी खारा हो जाता है जिससे कपड़े धोने के लिये साबुन का अधिक उपयोग करना पड़ता है। खाना बनाने में खारा पानी अधिक समय लेता है। एक सीमा से अधिक मात्रा में पानी में लोहा, मैग्नेशियम व फ्लोराइड के घुलने से औद्योगिक व पीने की दृष्टि से पानी अनुपयुक्त हो जाता है। फ्लोराइड युक्त पानी के पीने से मुर्गियों व चौपायों की हड्डियों में बेडोल पन आ जाता है। फ्लोराइड युक्त पानी के लगातार उपयोग से 6–14 वर्ष की आयु के बच्चों के दांतों व हड्डियों में फ्लोरोसिस की बीमारी हो जाती है इसके अतिरिक्त लकवा, रीढ़ की हड्डी का झुकना आदि रोग हो जाते हैं। ऐसा पानी राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र, कर्नाटक व तमिलनाडु के कुछ भागों में पाया जाता है। इससे लगभग 10 लाख व्यक्ति प्रभावित हैं इन्द्रपाल[7] (1967) ने उत्तर प्रदेश के बिजनौर, नैनीताल, मुरादाबाद आदि जिलों के तराई प्रदेश में लोह–खनिज युक्त पानी को आंतों की बीमारी का कारण बताया।

इस प्रकार से कई तत्व निरन्तर पर्यावरण को प्रदूषित कर रहे हैं इन तत्वों की मात्रा निरन्तर बढ़ती जा रही है आज शुद्ध जल, वायु एवं भोजन की प्राप्ति बहुत कठिन हो गई है आर्थिक विकास के प्रभाव के रूप में प्राकृतिक संसाधनों का निरन्तर ह्रास, जल और वायु व मिट्टी का भौतिक और रसायनिक प्रदूषण भूमि का कटाव, निरन्तर बढ़ते शोर का प्रभाव, औद्योगिक सभ्यता की फैलती गंदगी तथा जनसंख्या का विस्फोट, अत्यधिक यान्त्रिक जीवन आदि पिछले कुछ दशकों की देन है जिससे प्रदूषण बढ़ता जा रहा है वहीं संसाधनों की लूट के

कारण पर्यावरण निर्धन होता जा रहा है।

पर्यावरण का जैविक संकट—इसके अंतर्गत अधिक जनसंख्या व कुपोषण का संकट महत्वपूर्ण है। इसका मुख्य कारण आर्थिक विकास है जिसकी पृष्ठ भूमि जनसंख्या की वृद्धि द्वारा तैयार की जा रही है अर्थात् पारिस्थितिक असंतुलन की समस्या का मूल आधार जनसंख्या है। 30-35 वर्षों में जनसंख्या दुगुनी हो जाती है अतः इनके भोजन, रहने के स्थान व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की समस्या है। नये तकनीकी ज्ञान से वर्ण संकरित बीज और नई फसलें तैयार की गई हैं फिर भी विश्व व्यापी खाद्य समस्या को हल करना संभव नहीं हुआ है। 20 वर्ष पूर्व 2/3 जनसंख्या की अपर्याप्त भोजन की जो समस्या थी वही समस्या आज भी बनी हुई है केवल अन्तर इतना ही है कि 2/3 जनसख्या पहले एक अरब से बढ़ कर अब दो अरब हो गई है और साथ ही साथ कुपोषण भी बढ़ गया है। खाद्यान्नों का उत्पादन मात्रात्मक दृष्टि से बढ़ा है लेकिन गुणात्मक दृष्टि से घटा है।

इस समस्या का समाधान जन संख्या पर नियंत्रण से ही हो सकता है यह विकसित देशों में ही अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है अविकसित देशों में कम। भारत में 10 लाख महिलाएं प्रति वर्ष बच्चे पैदा करने के योग्य हो जाती हैं अगर एक लूप लगाने में 3 से 5 मिनट का समय लगे तब भी इन सबके लूप जल्दी लगाना संभव नहीं है अतः संकट धीरे धीरे गहरा रहा है।

पर्यावरण का सांस्कृतिक संकट—इसके अन्तर्गत वैज्ञानिक व तकनीकी संकट महत्वपूर्ण है बड़े शहरों की बढ़ती भीड़, बढ़ती हुई गन्दी बस्तियां, बढ़ता हुआ शोर, यातायात में संकीर्णता तथा पर्यावरणीय प्रदूषण से जीवन में तनाव, असंतोष व कुंठाऐं बढ़ रही हैं। दवाईयों पर अत्यधिक निर्भरता, प्लास्टिक व अन्य कृत्रिम अवयवों से युक्त अर्द्ध यांत्रिक मानव, मस्तिष्क व जिन्स (Genes) के साथ जैव-रसायनिक हस्तक्षेप, इच्छानुसार टेस्टट्यूब बेबी पैदा करना, इलेक्ट्रोनिक जासूसी व्यवस्था व कम्प्यूटरों से चलने वाला जीवन, मशीन निर्मित द्रव भोजन आदि इस यांत्रिक वातावरण में पनप रहे हैं। अतः आज समस्या यह है कि विज्ञान व तकनीकी ज्ञान को किस प्रकार से काम में लिया जाय ? सामान्यतः इनका उपयोग मानव की लोलुपता व राष्ट्रीयता के लिये किया जा रहा है जब कि परिणामों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जा रहा है। डिटर्जेंट व गैसोलीन उपयोगी साबित हुए हैं लेकिन उनके प्रदूषण को नहीं आंका गया है। ऐसे ही नाभिक विस्फोट की प्राविधि राष्ट्रीय नीति के रूप में काम में आ रही है विज्ञान अपने उपयोग के लाभ या हानि नहीं देखता है। यह कार्य केवल सामाजिक व सांस्कृतिक स्तर पर मूल्यांकन करके ही किया जा सकता है। "क्या मैं मेरे भाई का रखवाला हूं ?" इस प्रश्न के उत्तर की आज आव-

स्यकता है। विध्वंसात्मक कार्य सृजनात्मक कार्य की अपेक्षा अधिक तेजी से
किया जा सकता है। मशीन की सहायता से एक वृक्ष 30 सैकेन्ड में काटा जा
सकता है लेकिन उसे तैयार होने में 30 वर्ष का समय लगता है अतः पर्यावरण
को अगर हम बनाना चाहते हैं तो यह प्रयास आज से शुरू करें तब भी 300
वर्ष का समय लग जायगा मात्रात्मक के साथ ही गुणात्मक सुधार आज की
आवश्यकता है। हेरिस ब्राउन* (1954) के अनुसार आज मनुष्य स्वयं ही
अपने लिये समस्याएँ उत्पन्न कर रहा है। इनके समाधान के लिये समन्व युक्त,
नियोजित, साहस युक्त एवं बुद्धिमता पूर्ण प्रयासों की आवश्यकता है। इसके लिये
सामाजिक व सांस्कृतिक चेतना ही अधिक उपयोगी हो सकती है।

यहां यह बात स्मरणीय है कोई भी व्यक्ति साधारणतः अपने आस पास के,
भौतिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण के प्रति थोड़ा बहुत संवेदन शील तो होता है
लेकिन इस प्रकार की संवेदन शीलता या बोध कई बातों पर निर्भर करता है।
जैसे एक व्यक्ति बड़े मकान में, खुले भाग से युक्त चार दिवारी वाले आधुनिक
मकान में रहता है तो उसके आस पडौस से सामाजिक सम्बन्ध व अपने समुदाय
से सम्बन्ध कम रहते हैं अपेक्षाकृत उस व्यक्ति के, जो अधिक पास 2 बने मकानों
में संयुक्त परिवार में रहता है। खुले मकानों का निवासी जिसके सामाजिक
सम्बन्ध कम होते हैं, वे स्वाभाविक रूप से भौतिक पर्यावरण के प्रति अधिक
संवेदनशील होते हैं। इसके विपरीत जिनके पास में आवासीय स्थान कम होता है
वे प्रदूषित और भीड़ युक्त क्षेत्रों में आने जाने खरीदने या रहने में कोई समस्या
अनुभव नहीं करते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति, भौतिक बाधाओं के प्रति अपना
दृष्टिकोण व व्यवहार इस प्रकार विकसित कर लेते हैं कि वे इन्हें विशेष महत्व

* "....We see that, although our high grade resources are disa-
ppearing, we can live comfortably on low grade resources....
that, although a large fraction of the world population is
starving, all of humanity can, in principle, be nurished
adequately....that although world population are increasing
rapidly, those population can in principle, be stabilized but
it is equally clear that the achievement of this condition will
require the application of intelligence, imagination, courage,
unselfish help, planning and prodisious efforts... Man is
rapidly creating a situation from which he will have increasing
difficulty extincating himself." Harris Brown (1954) The
challange of Man's future, New York pp. 265.

नहीं देते है लेकिन वे सामाजिक सम्बन्धों के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। यहां यह भी स्पष्ट है कि भौतिक या सामाजिक पर्यावरण के प्रति किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में कोई स्पष्ट बोध नहीं होता है वल्कि दोनों के प्रति मिश्रित व जटिल विचार होते हैं। अतः कोई व्यक्ति पूर्णतः न तो भौतिक समस्याओं के प्रति अनभिज्ञ होता है न ही सामाजिक पक्ष के प्रति असावधान। प्रत्येक व्यक्ति दोनों प्रकार के पर्यावरण में रहता है। और उसमें उसकी महत्वपूर्ण स्थिति होती है वह उनके प्रति कम या ज्यादा संवेदनशील हो सकता है। इस पर व्यक्ति की आय, धार्मिक विचार, खान-पान, रहन-सहन, संयुक्त परिवारिक व्यवस्था, शैक्षणिक स्तर, लिंग आदि कई तत्वों का प्रभाव पड़ता है। देसाई[8] (1981) ने अपने अध्ययन में अहमदावाद के दो समुदायों (पटेल व मुसलमान) के अध्ययन के आधार पर वताया कि घिरे हुए पोल में रहने के कारण वहां के निवासी सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण के प्रति अधिक जागृत हैं लेकिन सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि के बारे में अधिक जागृत नहीं है क्योंकि वहां भौतिक पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया का स्थान सांस्कृतिक पर्यावरण की प्रतिक्रिया ने ले लिया है। अतः एक समन्वित प्रयास के द्वारा ही भौतिक पर्यावरण की गिरावट को रोका जा सकता है। यह कार्य परकोटे में स्थित शहरों में (विशेषकर) प्राथमिक शालाओं में पर्यावरण विषय प्रारम्भ करके इसके प्रति चेतना व संवेदनशीलता बढ़ाई जा सकती है। इसके साथ ही स्वयं सेवी संस्थाएँ वनाकर तथा विकास योजनाओं में नागरिकों को भागीदार वना कर ही स्वस्थ पर्यावरण के प्रति रूचि उत्पन्न की जा सकती है। इसके लिये निम्न प्रयास किये जा सकते हैं—

1. भोजन आदि के लिये धुंयें रहित ईंधन का उपयोग किया जाना चाहिये इस दृष्टि से जलशक्ति, सौर्य्य ऊर्जा, समुद्री ऊर्जा, गैस, वायो-गैस आदि का पर्याप्त विकास किया जाना चाहिये।
2. विभिन्न प्रकार का मलवा गलियों, नालियों या कहीं भी नहीं फैंकना चाहिये वल्कि इसके लिये कचरा-पात्रों का उपयोग किया जा सकता है जिसको वाद में वायो-गैस (Bio-gas) वनाने के काम में लिया जा कर प्रदूषण को कम किया जा सकता है।
3. अपने आस पास के क्षेत्र को साफ स्वच्छ रखने की आदत डालनी चाहिये।
4. औद्योगिक व घरेलू मलवे को नदियों, समुद्रों आदि में न वहाकर, पहले उसे शुद्धीकृत किया जाना चाहिये। इसके उपयोगी अंशों का अधिकतम उपयोग करने की प्राविधी को काम में लेना चाहिये।
5. पर्यावरण के संतुलन को वनाए रखने के लिये केवल सरकार पर निर्भर रहना ठीक नहीं है वल्कि प्रत्येक व्यक्ति इसे स्वयं का कार्य समझ कर हाथ वटाएँ।

6. भौतिक विकास की दौड़ को कम किये जाने की आवश्यकता है ताकि संसाधनों के अन्धाधुन्ध दुरुपयोग से बचा जा सके।
7. जहां तक हो सके पर्यावरण को शुद्ध करने की अपेक्षा अशुद्ध करने के प्रयासों को नियंत्रित किया जाना चाहिये और आवश्यकतानुसार कानून बनाने चाहिये।
8. सरकार प्रदूषण बढ़ाने वाले उपक्रमों पर कड़ा नियंत्रण रखे।
9. शहर हो या ग्राम, स्वच्छ शौचालयों की सुविधा बढ़ाई जानी चाहिए।
10. परिवहन के साधनों की अच्छी दशा होनी चाहिये और उनकी समय 2 पर जांच की जानी चाहिये ताकि ध्वनि व वायु प्रदूषण कम हो।
11. प्रदूषण से प्रभावित क्षेत्रों का सर्वेक्षण करवा कर वहां प्रदूषण को नियंत्रित करने के उपाय लागू किये जाने चाहिये।
12. मवेशियों को रखने के स्थान आवास के स्थानों से अलग व दूर हों।
13. हवा की दिशा को ध्यान में रखकर, आवासीय क्षेत्रों से हटकर, उद्योगों का विकास किया जाना चाहिये।
14. औद्योगिक क्षेत्रों के चारों ओर लम्बे 2 व सघन हरियाली से युक्त पेड़ पौधों का विकास किया जाना चाहिये।
15. कृषि में पेस्टीसाइड्स व रसायनिक उर्वरकों का उपयोग कम किया जाना चाहिये साथ ही बीमारीरोधक फसलों का विकास व अन्य यांत्रिक विधियों का उपयोग किया जाये।
16. मिट्टी के कटाव को रोकना अत्यन्त आवश्यक है।
17. नगरों के आस पास की कृषि-योग्य भूमि पर नगरों के प्रसार को रोका जाना चाहिये और अनुपजाऊ क्षेत्रों का उपयोग बसाव के लिये किया जाना चाहिये।
18. परिवार नियोजन को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। दो बच्चों से अधिक के लिये नैतिक, सामाजिक या कानूनी सख्ती बरतने की आवश्यकता है अगर आवश्यक हो तो अधिक बच्चे पैदा करना दण्डनीय अपराध बनाया जा सकता है।
19. मनुष्य अपनी इस आदत को सुधारे कि वह प्रकृति पर वर्चस्व रखता है बल्कि वह उसके सही सहयोगी के रूप में रहना शुरू करे। क्योंकि हमारा तकनीकी ज्ञान व विकास वातावरण पर निर्भर करने वाला है।

20. नियोजित विकास अपनाया जाना चाहिए और स्वच्छन्द रूप से होने वाले संसाधनों के दुरुपयोग को रोका जाना चाहिये। इसके लिये व्यवस्था विश्लेषण को अपनाया जा सकता है। कम्पूटर विश्लेषण से हमारे द्वारा प्रस्तावित परिवर्तनों के भावी परिणाम पहले ही ज्ञात करके ही उन्हें लागू किया जाना चाहिये।

21. स्वस्थ वातावरण से सम्बन्धित जानकारी को अधिक व्यापकता प्रदान की जानी चाहिये।

22. प्रत्येक नागरिक को पीने का स्वच्छ पानी मिल सके इस प्रकार के प्रयत्नों को तेज किया जाना चाहिए।

23. आज उर्जा का उत्पादन केन्द्रीत रूप में हो रहा है और प्रति एक इकाई ऊर्जा उत्पादन के लिए 3 इकाई कच्चे ईंधन की आवश्यकता होती है इस प्रकार 2/3 भाग अनुपयोगी ताप के रूप में चला जाता है इसके उपयोग के लिये छोटी ऊर्जा उत्पादक इकाईयों के निर्माण की आवश्यकता है जिससे ताप को बेकार जाने से रोका जा सकता है और इसका उपयोग (गर्म पानी या गर्म वायु के रूप में) अस्पताल, घरेलू उपयोग, एजीनियरिंग या शीत करण यन्त्रों में किया जा सकता है व वायु प्रदूषण को रोका जा सकता है।

24. वृक्षों व हरियाली की सघनता बढ़ाने के निरन्तर प्रयास करने चाहिये।

पहाड़ी भागों में वनस्पति आवरण न होने से चट्टानें नग्न हो गई हैं अत: बांधों या नदियों की घाटियों से जहां मिट्टी का जमाव अधिक हो गया है, मिट्टी पुन: पहाड़ी भागों पर पहुंचा कर वृक्ष लगाने की व उनके लगातार संरक्षण की आवश्यकता है अगर हम पुनः वनस्पति आवरण को बढ़ा सकें तो नदियों व बांधों में मिट्टी के जमाव को कम कर सकते हैं मिट्टी की उर्वता बढ़ा सकते हैं और वनस्पति से अन्य कई लाभ प्राप्त कर सकते हैं. जैसे—वर्षा की कमी को दूर करना, भूमिगत जल स्तर को ऊंचा उठाना, जल का सतत प्रवाह, वायु अवरोधक के रूप में मिट्टी के कटाव को रोकना, मिट्टी की उर्वता को बनाए रखना, बाढ़ों को रोकना फल, चारा, ईंधन व अन्य प्रकार की सामग्री प्राप्त करना, वायु को शुद्ध करना, विकीरण से रक्षा व तापीय दशाओं को सुधारना आदि कई लाभ प्राप्त कर सकते है। उक्त सभी बातों के लिये स्वस्थ या अच्छे वातावरण के प्रति हमारा ज्ञान होना आवश्यक है। अगर हम अच्छे पर्यावरण के बारे में नही जानते हैं तो हम पारिस्थितिक संतुलन के बारे में कैसे विचार कर सकते हैं ? सामान्यत: कोई भी समस्या तब अस्तित्व में आती है जबकि हमारे दृष्टिकोण मे किस प्रकार की दशाएं हैं ? और किस

Pages

Price

15/-

GOYAL UDYOG KENDRA
Naya Katla Rampura Bazar
Kota - 324 006 Phone : 2381899